निरीक्षण प्रति

विक्रय के लिए नहीं

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

INTERNATIONAL ORGANISATION

लेखक

रमेशचन्द्र तिवारी

एम० ए० (स्वर्णपदक विजेता)

प्राध्यापक, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग

के० एस० साकेत स्नातकोत्तर महाविद्यालय

(अवध विश्वविद्यालय) फैजाबाद



विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

प्रथम संस्करण : १९७७ ई०
मूल्य : बारह रुपये पचास पैसे

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन, चौक, वाराणसी

मुद्रक
ज्योतिष प्रकाश प्रेस, कालभैरव मार्ग, वाराणसी

राजनीति विज्ञान विभाग

गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर

को

सादर समर्पित

प्रस्तावना

आज भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन पर जो भी पुस्तकें उपलब्ध हैं, वे केवल अंग्रेजी में हैं तथा हिन्दी में इस विषय पर पुस्तकों का नितान्त अभाव है। अपने अध्यापनकाल में भी मैंने विद्यार्थियों की कठिनाइयों का अनुभव किया, फलतः इस विषय पर पुस्तक लिखने की अभिलाषा मेरे मन में उत्पन्न हुई तथा मैंने उसको कार्यरूप देने का प्रयास किया। इस पुस्तक में मैंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के विविध अंगों, विशिष्ट अभिकरणों तथा प्रादेशिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सिद्धान्तों, उद्देश्यों और उनकी गतिविधियों की विवेचना करते समय उन्हें नवीनतम तथ्यों तथा आँकड़ों पर आधारित करने का प्रयास किया है। आज 'विश्व सरकार' के लिए आवाज उठ रही है, अतः इस पर भी विस्तृत विचार किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के एक विद्यार्थी और अध्यापक के रूप में मैंने जो कुछ भी राजनीति विज्ञान में अध्ययन किया है तथा जो कुछ भी इस पुस्तक में लिखने का प्रयास किया है उसके लिए मेरे गुरुजनों का आशीष ही प्रधानतः सहायक रहा है। मैं पूज्य गुरुवर प्रो० रघुवीर सिंह, आचार्य एवं अध्यक्ष, राजनीति विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर तथा डॉ० कृष्णानन्द श्रीवास्तव, वरिष्ठ रीडर, राजनीति विज्ञान विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर की वन्दना करता हूँ, जिनके आशीषों के फलस्वरूप ही मुझमें सोचने-विचारने तथा लिखने की क्षमता आ सकी है। वास्तव में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ) पर पुस्तक लिखने की सर्वाधिक प्रेरणा और पथप्रदर्शन मुझे पूज्य गुरुवर डॉ० जे० एन० लाल, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान विभाग, एम० एल० के० पोस्ट-ग्रेजुएट महाविद्यालय, बलरामपुर से प्राप्त हुई है। गुरुवर डॉ० लाल से मैंने इस पुस्तक से सम्बन्धित विविध प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया तथा उन्होंने अनेक रचनात्मक सुझाव देकर मुझे बल प्रदान किया।

मैं विशेष रूप से अपने सम्मानित विद्वान् विभागाध्यक्ष डॉ० रामचन्द्र गुप्त के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने मेरी सफलता की सदैव कामना की है। मैं अपने विभागीय सहयोगियों डॉ० केदारनाथ अग्रवाल तथा डॉ० तपनकुमार चटर्जी का भी आभारी हूँ, जिन्होंने स्नातकोत्तर राजनीति विज्ञान के विद्यार्थियों की कठिनाइयों को दूर करने के निमित्त समय-समय पर मुझे लेखन कार्य के लिए प्रोत्साहित किया। मैं वनस्पति विज्ञान विभाग के प्राध्यापक डॉ० सीताराम अग्रवाल, भूगोल विभाग के प्राध्यापकों डॉ० शिवनारायण मिश्र तथा डॉ० बच्चन सिंह एवं विधि विभाग के प्राध्यापकों श्री छैलविहारी अग्रवाल तथा श्री मानिकचन्द्र सिन्हा के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने मेरी सफलता को सदैव अपनी सफलता मानी है।

यद्यपि मैंने इस पुस्तक को अपनी योग्यता और क्षमता के अनुसार लिखने का प्रयास किया है, तथापि इसमें कुछ त्रुटियाँ हो सकती हैं। अतएव राजनीति विज्ञान के अध्येताओं से अनुरोध है कि वे पुस्तक के सुधार के निमित्त अपना रचनात्मक सुझाव देकर मुझे अनुग्रहीत करें। अन्त में, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी के संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी, एम० ए० का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने न केवल पुस्तक के शीघ्र प्रकाशन की व्यवस्था की, अपितु मुझे अपना स्नेह प्रदान करते हुए हर कदम पर मेरा पथ-प्रदर्शन भी किया।

रमेशचन्द्र तिवारी

विषय-सूची

अध्याय पृष्ठ



१

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन

(International Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन चुका है, आज विश्व-राजनीति की कल्पना संयुक्त राष्ट्रसंघ के बिना साकार ही नहीं लगती। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मूल इकाईयाँ तो प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य हैं जो अपने पृथक् राजनीतिक व्यक्तित्व को बनाये रखना चाहते हैं, परन्तु दूसरी ओर वे अन्योन्याश्रित भी हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुव्यवस्थित करने के लिये कई छोटे और बड़े, अन्तर्राष्ट्रीय तथा अधिराष्ट्रीय संगठन हों। ये संगठन दुर्बल तथा शक्तिहीन हो सकते हैं, संकीर्ण तथा अस्थायी हो सकते हैं, परन्तु इस प्रकार के संगठनों का होना आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक आवश्यक तथा प्रमुख अभिलक्षण है।

एक अन्योन्याश्रित विश्व-समाज का सदस्य होने के कारण मानव को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता पड़ती है। हम एक ऐसे अन्योन्याश्रित विश्व-समाज में रहते हैं, जिसमें मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उसके जीवन के कुछ निश्चित पहलुओं को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर संगठित न किया जाये। मानव-जाति की इस प्रकार की दो मुख्य समस्यायें हैं—(१) सुरक्षा अथवा विश्वशान्ति, तथा (२) कल्याण अथवा आर्थिक विकास जिन्हें प्राप्त करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग परमावश्यक है। विशेष रूप से इन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्थापित किये जाते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज में औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रथम उद्देश्य अर्थात् विश्वशान्ति की स्थापना पर विशेष बल देते हैं, जब कि विकासशील तथा अल्पविकसित देश आर्थिक विकास को महत्त्व देते हैं। यहाँ यह स्मरण करने योग्य है कि जिस प्रकार समर्थ नागरिक अपने राष्ट्र के अन्दर विविध संगठनों का उपयोग अपने हित और स्वार्थ की पूर्ति के लिये करते हैं, उसी प्रकार समर्थ तथा शक्तिशाली राष्ट्र विश्व-कल्याण की उपेक्षा करके अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों को अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन बना लेते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति तथा परिभाषा

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों की एक [illegible] संस्था है जिसकी स्थापना कुछ निश्चित लक्ष्यों—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और [illegible]

की स्थापना तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति के लिये की जाती है। रूप और उद्देश्य की दृष्टि से भिन्न होते हुये भी प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का जन्म इस भावना के फलस्वरूप होता है कि समस्त मानव-जाति को एक होना चाहिये। ऐसे संगठनों का निर्माण करते समय राज्य अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग नहीं करते हैं, फलतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रोपरि राज्य नहीं होते हैं।

चीवर तथा हैवीलैण्ड (Cheever and Haviland) के अनुसार, "अन्तर्राष्ट्रीय संगठन..................राज्यों के बीच एक सहकारी व्यवस्था के रूप में परिभाषित की जा सकती है, जिसकी स्थापना, सामान्यतः एक आधारभूत समझौते द्वारा, आपस में कुछ लाभदायक कार्यों को नियतकालिक बैठकों तथा स्थायी कर्मचारी-वृन्द के द्वारा सम्पन्न करने के लिये होती है" ("International organisation............can be defined as any cooperative arrangement instituted among states, usually by a basic agreement, to perform some mutually advantageous functions implemented through periodic meetings and staff activities.")।[1]

प्रो० पी० बी० पाटर (Pitman B. Potter) के अनुसार, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के ■ विशेष रूप हैं—(१) राजनय (diplomacy), (२) संधिवार्ता (treaty negotiation), (३) अन्तर्राष्ट्रीय विधि (international law), (४) सम्मेलन (conference), (५) प्रशासन और न्यायनिर्णय (administration and adjudication), तथा (६) अन्तर्राष्ट्रीय संघ (international federation)। यह वर्गीकरण, पामर व परकिन्स के अनुसार, वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की विविधताओं से सम्बन्धित होने की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय परस्पर व्यवहार (international intercourse) की क्रियाविधियों से अधिक सम्बन्धित है।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की प्रकृति के सम्बन्ध में इनिस क्लाउड (Inis L. Claude) ने दो महत्वपूर्ण बातों का अन्वेषण किया है :

(१) 'बीज' उपागम ("seed" approach)

एक बीज के अन्दर सम्भावित विकास का एक निश्चित प्रतिमान तथा संवृद्धि की क्षमतायें होती हैं। इस प्रकार, एक बाँजफल (acorn) एक बंजु (oak) पेड़ हो सकता है, निस्सन्देह यह मुरझा सकता है तथा कुछ नहीं हो, किन्तु यदि यह कुछ भी होता है तो यह बंजु पेड़ ही होगा न कि अंगूर की बेल। इस अनु-

1. Daniel S. Cheever and H. Field Haviland, *Organising for Peace: International Organisation in World Affairs*, p. 6

2. "International Organisation", *Encyclopaedia of Social Sciences* (The Macmillan Company, 1937), VIII, pp, 180-81,

रूपता का अनुसरण करते हुये कुछ अधिकारी विद्वान संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा को विश्व-संसद् तथा उसके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को विश्व का भावी सर्वोच्च न्यायालय समझते हैं। इस सम्बन्ध में वाल्टर लिपमैन (Walter Lippmann) का कथन है कि विश्व राज्य की सम्भाव्य क्षमता संयुक्त राष्ट्रसंघ में अन्तर्निहित है। विश्व राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसी प्रकार अन्तर्निहित है, जिस प्रकार एक मंजु पेड़ एक बाँजफल में अन्तर्निहित है। इस सिद्धान्त को प्रो० क्लाउड ने सवांगिक तथा नियतिवादी (organismic and deterministic) कहा है।

(२) 'भवन' सिद्धान्त ('building' theory)

एक भवन के विकास का कोई कठोर तथा निश्चित प्रतिमान नहीं होता है। एक भवन को उसके निर्माताओं तथा उपयोग करनेवालों की इच्छाओं के अनुसार बनाया जा सकता है। वर्तमान भवन को उसी रूप में छोड़ा जा सकता है अथवा उसे नया रूप दिया जा सकता है, नये कमरों को बढ़ाया जा सकता है, अथवा पुराने कमरों को नष्ट किया जा सकता है। इस अनुरूपता का अनुसरण करते हुये कुछ अधिकारी विद्वानों का दृष्टिकोण है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का भावी विकास इस बात पर निर्भर नहीं करता है कि यह किस प्रकार का बीज है, बल्कि इस बात पर निर्भर करता है कि हमें किस प्रकार के भवन की आवश्यकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ का भविष्य इसके सदस्यों, विशेष रूप से शक्तिशाली सदस्य-राज्यों पर निर्भर करता है कि वे इसे किस प्रकार का रूप देते हैं। विश्व की राजनीतिक अवस्थाये तथा सरकारों की नीतियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ के भावी विकास के निर्धारक तत्व हैं। अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ क्या होगा तथा यह क्या काम करेगा—ये ऐसे प्रश्न हैं जिनका सर्वोत्तम उत्तर चार्टर के सन्दर्भ में नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक, वैचारिक, मनोवैज्ञानिक तथा आर्थिक लक्षणों के आधार पर ही दिया जा सकता है। इस सिद्धान्त को प्रो० क्लाउड ने व्यावहारिक तथा संकल्पपरक (pragmatic and voluntaristic) कहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण और विकास के लिये पूर्वापेक्षायें

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के आविर्भाव तथा विकास में दो तत्व मूलतः अनिवार्य हैं—(१) प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का होना, तथा (२) राज्यों के बीच सजातीयता या एकरूपता (homogeniety), का होना। संक्षेप में, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की पूर्वापेक्षायें इस प्रकार हैं[1] :

1- See Pitman B. Potter, *An Introduction to the Study Of International Organisation*, pp. 7-12.

(१) स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का अस्तित्व

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण और विकास के लिये, सबसे पहले, पृथक् राष्ट्रों या राज्यों अथवा राष्ट्रीय राज्यों का होना अत्यावश्यक है। दूसरे शब्दों में, स्वतंत्र और प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों के अस्तित्व के बिना एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण सम्भव नहीं है। प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों की जितनी बहुलता होगी, संख्या मे वे जितने अधिक होंगे, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता उतनी ही तीव्रता से अनुभव की जायेगी। राज्यों का जितना बाहुल्य होगा, आपसी सम्बन्ध जितने व्यापक और अधिक होते जायेंगे, अन्तर्राष्ट्रीय विधि का विकास भी उसी अनुपात में उतनी तीव्रता से होगा। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास के साथ एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की आवश्यकता उतनी ही बढ़ती जायेगी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण और विकास के लिये स्वतंत्र और प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों का अस्तित्व परमावश्यक है।

(२) राज्यों के बीच सजातीयता या एकरूपता का होना

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण और विकास के लिये विश्व के राज्यों के बीच सजातीयता का होना समान रूप से आवश्यक है। यदि राज्यों के हित समान नहीं होंगे, यदि उनकी नीतियाँ नितान्त बेमेल होंगी तो एक वैध न्याय की भावना पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास नहीं हो सकता। यही कारण है कि साम्यवादी देश पश्चिमी लोकतंत्री राज्यों द्वारा विकसित अन्तर्राष्ट्रीय विधि की सत्ता को स्वीकार नहीं करते क्योंकि दोनों प्रकार के देशों में वैचारिक भिन्नतायें हैं। यदि राज्यों के बीच सजातीयता नहीं होगी तो वे न तो एक समान लक्ष्य को स्वीकार कर पायेंगे और न ही एक मान्य न्याय व्यवस्था को स्वीकार करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अपना कार्य निर्विघ्न तथा सफलतापूर्वक तभी सम्पन्न कर सकता है जब राज्य बुनियादी प्रश्नों, यथा विश्वशान्ति की स्थापना, लोकतन्त्रात्मक मूल्यों में विश्वास, आर्थिक शोषण से मुक्ति पर सहमति रखते हों।

(३) राज्यों की समानता, स्थिरता तथा क्षेत्रीय अखण्डता की अवस्थायें

यदि राज्यों की सीमाओं, शासन के स्वरूप तथा परराष्ट्र-नीतियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहे तो यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास को प्रभावित कर सकता है। विश्व की राजनीतिक मानचित्र में तीव्र परिवर्तन एक सुव्यवस्थित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विकास में सहायक नहीं हो सकता। वस्तुतः विश्व में राजनीतिक स्थिरता का अभाव अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था को जन्म देता है। यह स्मरण करने योग्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में स्वतंत्र राज्य ही अपना योगदान दे सकते हैं। पराधीन विजित देशों का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कोई सक्रिय योगदान

नहीं होता क्योंकि वे साम्राज्यवादी शक्तियों के अधीन होते हैं और उन्ही की नीतियों के द्वारा संचालित एवं नियंत्रित होते हैं।

(४) राज्यों का मुख्यतया राजनीतिक इकाईयों के रूप में होना

यदि राज्य केवल धार्मिक, केवल औद्योगिक, केवल तटस्थ राज्य है तो भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन में विशेष भाग नहीं ले पायेंगे। तिब्बत विशुद्ध धार्मिक राष्ट्र होने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं था। इसी प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड तटस्थ राज्य होने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है। स्वभाविक है कि ऐसे राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कोई विशेष रुचि नही होगी। अतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास तभी सम्भव है, जब राज्य सक्रिय परराष्ट्र-नीतियाँ अपनाते हैं तथा राजनीतिक गतिविधियों में भाग लेते हैं।

(५) राज्यों के बीच पर्याप्त सम्पर्क

यदि राज्यों में पर्याप्त अंश में पारस्परिक सम्पर्क न हो तो अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की सम्भावना अत्यन्त न्यून हो जाती है। राज्यों का पारस्परिक सम्पर्क जितना अधिक होगा, अन्तर्राष्ट्रीय विधि उतनी ही विकसित होगी तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि जितनी विकसित होगी, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता उतनी ही अनिवार्य बन जायेगी।

(६) सम्पर्कों से उत्पन्न समस्याओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय चेतना

राज्यों को जब यह बोध हो जाता है कि अनियंत्रित प्रभुसत्ता की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अधिक कल्याणकारी है तथा जब राज्यों में अपनी समस्याओं को अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को सौंपने तथा उसके आदेशों के पालन की प्रवृत्ति आ जाती है, उस समय ही अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास सम्भव है, अन्यथा नहीं। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय चेतना का संगठित स्वरूप है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास (Evolution of International-Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास के चरणों को सुविधा के लिये इस प्रकार रखा जा सकता है :

(१) राष्ट्रसंघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास

राष्ट्रसंघ से पूर्व अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास को निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

(क) यूनानी नगर राज्यों के समय

प्राचीन यूनान के स्वर्ण-युग से बहुत पहले ही चीन, भारत, [illegible] मिस्र तथा विश्व के अन्य ज्ञात भागों में अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्क का अस्तित्व [illegible]

शासकों और राज्यों के सम्बन्ध असामान्य नहीं थे, और राजनयिक व्यवहारों, व्यापारिक सम्बन्धों, मैत्री-सन्धियों, युद्ध-नियमावली, तथा शान्ति की शर्तों के सम्बन्ध में समझौते का पर्याप्त क्षेत्र विद्यमान था। ऐमफिक्टियोनिक परिषद् (amphictyonic council) प्राचीन यूनान मे नगर-राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिये प्रचलित था। सन्धियाँ, संश्रयों, राजनयिक व्यवहारों तथा सेवाओं, पंच-निर्णय तथा विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान के अन्य उपाय, युद्ध और शान्ति के नियम, संघ तथा परिसंघ तथा अंतर्राज्यीय सम्बन्धों के विनियमन के अन्य साधनों का उस समय व्यापक रूप से उपयोग किया जाता था।

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में रोम का योगदान

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में रोम का योगदान कुछ भिन्न प्रकार का था। जब रोम ने एक प्रकार का सार्वभौमिक साम्राज्य स्थापित कर लिया, तब भी भारत तथा चीन जैसे शक्ति-केन्द्रों से इसकी दूरी के कारण अंतर्राज्यीय सम्बन्ध प्रतिबाधित ही रहा। अतः रोम के निवासी उस समय अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विचार से अनभिज्ञ थे। फिर भी, रोम के निवासियों ने कानूनी, सैनिक तथा प्रशासकीय प्रविधियों की दिशा में योगदान किया, और "जश जैंशियम" (jus gentium) का वह आधार स्थापित किया जो आनेवाली शताब्दियों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक महत्त्वपूर्ण स्रोत बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में एक अत्यन्त प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के रूप में सुप्रसिद्ध "कान्सटेन्स की परिषद्" (Council of Constance) पोपतंत्र के दावों का निराकरण करने के लिये तथा इस प्रकार यूरोप की राजनीतिक तथा आध्यात्मिक भाग्य को सुनिश्चत करने के लिये १४१४ में बुलायी गयी थी।

(ग) वेस्टफेलिया से वियना तक

१६४८ की "वेस्टफेलिया-कांग्रेस" (Congress of Westphalia) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की दिशा मे एक उल्लेखनीय घटना थी। इस महान कांग्रेस के महत्त्व का वर्णन करते हुये गेरार्ड जे० मैनगोन (Gerard J. Mangone) ने कहा है कि यद्यपि १६४८ में वेस्टफेलिया-कांग्रेस ने किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जन्म नहीं दिया, तथापि यूरोप के प्रत्येक राज्य द्वारा इस राजनयिक सम्मेलन मे भाग लेना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास मे एक नये युग के शुभारम्भ का संकेतक था।[1]

१८ वीं शताब्दी के राजवंशीय तथा औपनिवेशिक संघर्षों के समय संश्रय, गठबन्धन, राजनय, युद्ध, सम्मेलन तथा शान्ति-समझौते अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की

1. Gerard J. Mangone, *A Short History of International Organization*, pp. 21-22.

साधारण प्रविधियाँ बन गयीं। सम्मेलन-व्यवस्था, जो कि आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सम्भवतः सुस्पष्ट तथा विशिष्ट लक्षण रहा है, का इस काल में पर्याप्त विकास हुआ।

(घ) वियना से वर्साई तक

१८१५ की "वियना-कांग्रेस" (Congress of Vienna) नेपोलियन की पराजय के बाद यूरोप की राजनीतिक समस्यों के निराकरण के लिये आयोजित की गई था। यूरोप के शासक पुरातन व्यवस्था की पुनः स्थापना के प्रयासों में केवल आंशिक तथा अस्थायी रूप में ही सफल हुये, तथापि उन्होंने अनजाने एक ऐसी राजनीतिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की आधारशिला रख दी, जिसने एक शताब्दी तक यूरोपीय तथा कुछ अंश तक विश्व-मामलों का पथप्रदर्शन किया।

वियना-समझौते को कार्यान्वित करने का केन्द्रीय अभिकरण आस्ट्रिया, ग्रेटब्रिटेन, प्रशा तथा रूस द्वारा निर्मित चतुराष्ट्र मैत्री (Quadruple Alliance) था। फ्रांस भी १८१८ में इस संश्रय में शामिल हो गया। इस प्रकार यह पंचराष्ट्र मैत्री बन गया।

वियना-कांग्रेस के अनुभवों पर आधारित "यूरोप की मुख्य शक्तियों का संघ" (Concert of Europe) ने १८३२ से लेकर प्रथम महायुद्ध के आरम्भ होने तक सविराम सम्मेलनों के रूप में कार्य किया।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व विशिष्ट सम्मेलनों में १८९९ तथा १९०७ के "हेग शान्ति-सम्मेलनों" (Hague Peace Conferences) का वर्णन समीचीन होगा। यद्यपि हेग शान्ति-सम्मेलनों का इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास से सम्बन्धित है, तथापि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास में भी उनका योगदान है। प्रथम हेग शान्ति-सम्मेलन (१८९९) ने राज्यों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिये 'पंच-निर्णय पद्धति' अपनाने पर बल दिया। फलतः हेग में स्थायी विवाचन न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की स्थापना हुई। द्वितीय हेग शान्ति-सम्मेलन (१९०७) मुख्यतः पंच-निर्णय को अनिवार्य बनाने की सम्भावना पर विचार करने के लिये आयोजित किया गया था, किन्तु यह उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सका।

(च) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ कि १९ वीं शताब्दी के अन्त तथा २० वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रशासकीय अभिकरणों अथवा सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संघों का उदय हुआ। इन संगठनों में उल्लेखनीय थे : (१) The

European Commission for the Dunube (१८५६), (२) International Geodetic Association (१८६४), (३) International Bureau of Telegraphic Administration (१८६८), (४) Universal Postal Union (१८७५), (५) International Bureau of Weights and Measures (१८७५) (६) International Copyright Union (१८८६), (७) International Office of Public Health (१९०३), (८) International Institute of Agriculture (१९०५)। इनमें से कुछ संगठन आज भी अस्तित्व में हैं और अनेक अपने कार्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध विशिष्ट अभिकरणों को सौंप चुके हैं।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में राजनीतिक चिन्तकों तथा दार्शनिकों का योगदान

राजनीतिक चिन्तकों तथा दार्शनिकों ने भी अपने विचारों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में अपना योगदान किया है। दांते (Dante) ने अपनी पुस्तक De monarchia में यह विचार व्यक्त किया था कि एकता और शान्ति की स्थापना के लिये सम्पूर्ण ईसाई जगत को एक राजनीतिक इकाई में बंधकर एक सर्वशक्तिमान् सम्राट के अधीन संगठित होना चाहिये। लगभग उसी समय फ्रांसीसी विधिवक्ता पियरे दुबाय (Pierre Dubois) ने आक्रामकों के विरुद्ध अनुशास्तियों के प्रयोग के द्वारा शान्ति को बनाये रखने के एक साधन के रूप में एक स्थायी परिसंघ की स्थापना का सुझाव दिया था। फ्रांस के हेनरी चतुर्थ (Henry IV) ने अपने "ग्रैण्ड डिजाइन" (Grand Design) में यूरोप के लिये एक सामान्य परिषद् का प्रस्ताव रखा था जिसके निर्णय बन्धनकारी हों, तथा यदि आवश्यक हो तो उसके निर्णयों को सदस्य-राज्यों के सामूहिक सेनाओं के द्वारा कार्यान्वित किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की दिशा में जो अन्य योजनायें प्रस्तुत किये गये थे, उनमें फ्रांसीसी विचारक ऐमरिक क्रूसे (Emeric Cruse) की The New Cyneas (१६२३), विलियम पेन (William Penn) की Essay Towards the Present and Future Peace of Europe (१६९३), संत पीयर (Saint Pierre) की A Project for Making Peace Perpetual in Europe (१७१४), बेन्थम (Jeremy Bentham) की Principles of International Law (१७९३) तथा जर्मन दार्शनिक कान्ट (Immanuel Kant) की Essay on Eternal Peace (१७९५) सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं।

(३) राष्ट्रसंघ की स्थापना से लेकर वर्तमान समय तक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का विकास

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) की विभीषिका तथा महाविपत्ति से सन्त्रस्त होकर सम्पूर्ण विश्व ने यह अनुभव किया कि युद्ध की पुनरावृत्ति नहीं होनी

चाहिये। अतः १९१९ में वर्साई की सन्धि के अन्तर्गत 'राष्ट्रसंघ' की स्थापना हुई। परन्तु इस संगठन के रहते ही विश्व को एक अन्य विनाशकारी युद्ध— द्वितीय महायुद्ध (१९३९–१९४५) का सामना करना पड़ा। फलतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के लिये वर्तमान संयुक्त राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया।

राष्ट्रसंघ, संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त करने के लिये कृपया 'राष्ट्रसंघ' तथा 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' से सम्बन्धित अध्याय देखिए।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से लाभ

वर्तमान काल तथा भविष्य में विश्वशान्ति की दिशा में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की सम्भावित देन को दृष्टिगत रखते हुये इन संगठनों से लाभ पर भी विचार करना समीचीन होगा :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बहुपक्षीय राजनय (mululateral diplomacy) को बढ़ावा देता है जो १८ वीं शताब्दी के संकीर्ण द्विपक्षीय राजनय की तुलना में प्रगति का परिचायक है। बहुपक्षीयता (multilateralism) वास्तव में एक स्वस्थ दृष्टिकोण है क्योंकि द्विपक्षीय नहीं, बल्कि बहुपक्षीय प्रयासों के परिणामस्वरूप ही विश्व की प्रगति एवं विश्व-व्यवस्था की स्थापना हो सकती है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीय शिकायतों को दूर करने के लिये एक मंच का कार्य करते हैं और इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक सौहार्दपूर्ण वातावरण में विवादों को शान्तिपूर्वक निपटाने का मार्ग प्रशस्त होता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सम्पूर्ण कार्यप्रणाली न केवल इकट्ठे होने के लिये ही, बल्कि इकट्ठे मिलकर रहने की दिशा में एक प्रयास है। अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के विविध अंगों की बैठकों में अनेक राष्ट्रों के प्रतिनिधि कई सप्ताह तक इकट्ठे रहते हैं, और सम्भवतः इससे अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सहअस्तित्व का व्यावहारिक अनुभव प्राप्त होता है। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की यह विशेषता है और इससे सहयोग की भावना बढ़ती है और मतभेदों के बावजूद एक सहयात्री जैसा अनुभव होता है।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का ढाँचा आपसी विचार-विमर्श के लिये एक मंच प्रदान करता है और इस प्रकार वह समझौता-वार्ता का बहुमूल्य स्थान बन जाता है। उदाहरण के लिये, संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन (UNCTAD) सबसे अधिक विस्तृत प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है जिसका निर्माण मानव ने अपनी बुद्धि से किया है जो समझौता-वार्ता, समाधान तथा यहाँ तक कि मध्यस्थता का कार्य करता है। संयुक्त राष्ट्र व्यापार और विकास सम्मेलन तथा उसके समान

अन्य अन्तर-सरकारी संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के गरीब तथा अमीर देशों के विश्वव्यापी सहयोग के प्रतीक हैं।

(५) इसके अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सदस्य-राज्यों की गतिविधियों के अन्तर्राष्ट्रीय विनियमन के लिये आवश्यक मशीनरी प्रदान करते हैं। मानव जीवन का प्रत्येक पहलू–भोजन से स्वास्थ्य, स्वास्थ्य से संस्कृति तथा परिवहन–अब अन्तर-सरकारी संगठनों (जिसे प्रायः संयुक्त राष्ट्रसंघ की विशिष्ट अभिकरणें कहा जाता है) से निर्देशित होता है। इन संस्थाओं के कारण आज अत्यधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय विनियमन हो पाता है जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की लक्ष्य की प्राप्ति की ओर एक महत्वपूर्ण कदम है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन एक ऐसे मंच की व्यवस्था करता है जहाँ गलत कार्य करनेवाले की आलोचना करके उसे एक प्रकार की सजा दी जाती है। यह काफी अंश तक सही है कि जब राज्यों के आपत्तिजनक कार्यों की सार्वजनिक आलोचना होती है तो प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य अपनी गतिविधियों को संतुलित रखने का प्रयास करते हैं।

(७) यह भी कहा जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व-जनमत के निर्माण का मार्ग प्रशस्त करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के विभिन्न अंगों में सदस्य-राज्यों द्वारा विचार-विमर्श से यह मार्ग प्रशस्त होता है। आज भी किसी कानून के प्रति विश्व-जनमत का समर्थन तथा गैर-कानूनी कार्य के प्रति विरोध तथा निन्दा की भावना मौजूद है। इस दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा विश्व-जनमत के निर्माण का कार्य भी एक शुभ प्रवृत्ति है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें प्रायः समस्याओं के समाधान के लिये समझौते के मार्ग सुझाती हैं तथा एक महान पाठ पढ़ाती हैं कि परस्पर लेन-देन के सिद्धान्त को दृष्टिगत रखते हुये किसी भी देश को न्यायसंगत समझौते से मुंह नहीं मोड़ना चाहिये। समझौते "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार, यदि समझौतों को अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की एक प्रमुख विशेषता भी माना जाय तो भी वे अनेक दृष्टियों से स्वागत योग्य हैं।

(९) विविध प्रकार की अपनी-अपनी तकनीकी कार्यप्रणाली से अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भारी मात्रा में योगदान देते हैं। अपने विविध कार्यों को सुचारू रूप से चलाने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जो असंख्य प्रस्ताव, सिफारिशें तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिसमय (conventions) पारित करते हैं, वे अकेले ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून निर्माण की प्रक्रिया में भारी योगदान देते हैं। इस प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के कार्यों से अनेक कानून और नियमों का सृजन होता है, जो अन्तर-सरकारी गतिविधियों का निर्देशन करते हैं। अतः यह कहा

जा सकता है कि आज अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के बहुत उपयोगी स्रोत बन गये हैं।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राज्यों की समानता के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर आधारित है। ये पूर्णतः लोकतन्त्रीय व्यवस्था अपनाते हैं। इनमें प्रस्ताव या सिफारिश सम्बन्धी जो निर्णय लिये जाते हैं, वे बहुमत से स्वीकृत होते हैं।

(११) अन्त में, यह कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आज अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ावा देने की दिशा में महत्त्वपूर्ण केन्द्र हैं। वे राष्ट्रों के बीच सहकारिता की भावना के प्रतीक हैं। यहाँ तक कि जब इन संगठनों की बैठकों में मतभेद प्रकट किये जाते हैं, तो उनसे भी अन्तर-सरकारी संगठनों में सहयोग में वृद्धि होने की सम्भावनायें बढ़ती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अभाव में विश्व पुनः १८ वीं शताब्दी की अहितकर द्विपक्षीय राजनय (कूटनीति) की ओर बढ़ सकता है जो युद्ध और हिंसा को ही बढ़ावा देती थीं।



२
राष्ट्र-संघ
(The League of Nations)

राष्ट्रसंघ का जन्म

वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) के प्रथम भाग के रूप में, राष्ट्र-संघ प्रसंविदा (the League Covenant) पर २८ जून, १९१९ को हस्ताक्षर हुआ तथा यह १० जनवरी, १९२० को अस्तित्व में आया। राष्ट्र-संघ की स्थापना का श्रेय किसी एक व्यक्ति को नहीं दिया जा सकता, फिर भी इसे मूर्तरूप देने में अन्य किसी भी राजनेता की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) का अधिक हाथ था। राष्ट्रपति विल्सन द्वारा घोषित १४ सूत्री-कार्यक्रम के अन्तिम सूत्र में युद्ध को रोकने तथा शान्ति बनाये रखने के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (राष्ट्र-संघ) बनाने का प्रस्ताव रखा गया था। उस सूत्र में कहा गया था कि, "छोटे और बड़े दोनों ही प्रकार के राष्ट्रों को राजनीतिक स्वतंत्रता और प्रादेशिक अखण्डता की पारस्परिक गारण्टियाँ समान रूप से प्राप्त हो सकें, इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए कुछ विशिष्ट प्रसंविदाओं के अधीन राष्ट्रों के एक सामान्य संगठन का निर्माण होना चाहिए" ("A general association of nations must be formed under specific covenants for the purpose of affording mutual guarantees of political independence and territorial integrity to great and small states alike.")[1] ।

२५ जनवरी, १९१९ को पेरिस शांति सम्मेलन (Paris Peace Conference) में एक प्रस्ताव पारित कर यह संकल्प किया गया कि, "अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करने, मान्य अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों की संसिद्धि को सुनिश्चित करने तथा युद्ध के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान करने के लिए एक राष्ट्र-संघ की स्थापना होनी चाहिए" ("that a League of Nations be created to promote internationl cooperation, to ensure the fulfillment of accepted international obligations, and to provide safeguards against war") । यह भी निश्चय किया गया कि, "राष्ट्र-संघ के सदस्यों को समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एकत्र होना चाहिये तथा (उसका) एक

---

[1] ८ जनवरी, १९१८ को कांग्रेस में राष्ट्रपति विल्सन द्वारा दिये गये अभिभाषण से उद्धरण।

स्थायी संगठन एवं सचिवालय होना चाहिये" ("The membeis of the League should periodically meet in international conference, and should have a permanent organisation and secretariat.")[1]।

राष्ट्र-संघ का श्रीगणेश ही कुछ गलत ढंग से हुआ, क्योंकि यूरोपीय राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करने के लिए राष्ट्रपति विल्सन को विवशतापूर्वक राष्ट्र-संघ प्रसंविदा को १९१९-१९२० की उन शान्ति-सन्धियों (Peace Treaties) से जोड़ना पड़ा जिनमें अनेक अव्यावहारिक और अन्यायपूर्ण शर्तें जुड़ी हुई थी और जो प्रथम विश्व-युद्ध के उपरान्त उत्पन्न होने वाली अनेक कठिनाइयों के लिए उत्तरदायी थीं। वुडरो विल्सन को इस बात का भय था कि यदि राष्ट्र-संघ प्रसंविदा को शान्ति-सन्धियों से पृथक् रखा गया तो उसे सरकारों का अनुसमर्थन प्राप्त नही हो सकेगा। यद्यपि राष्ट्र-संघ 'वुडरो विल्सन के मस्तिष्क की उपज' (brain-child of Woodrow Wilson) था, तथापि अमरीकी सीनेट द्वारा वर्साई की सन्धि का अनुसमर्थन न करने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका इसकी सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका। अमरीकी सीनेट यह समझती थी कि राष्ट्र-संघ की सदस्यता ग्रहण करने से संयुक्त राज्य अमेरिका को विवश होकर उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में उलझना पड़ेगा जिनका अमरीकी महाद्वीप की राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं होगा।[2]

प्रस्तावना (Preamble)

लीग प्रसंविदा वर्तमान संयुक्त राष्ट्र चार्टर की तुलना में अत्यन्त छोटा था जिसमें एक प्रस्तावना तथा २६ अनुच्छेद थे। प्रसंविदा की प्रस्तावना में कहा गया था कि :—

"इस संघ में शामिल होने वाले राष्ट्र,

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की सिद्धि के उद्देश्य से,

युद्ध का मार्ग न अपनाने का दायित्व स्वीकार करके,

राष्ट्रों के बीच मुक्त, न्यायपूर्ण तथा सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित करके,

सरकारों के बीच पारस्परिक व्यवहार के निमित्त अन्तर्राष्ट्रीय विधि को वास्तविक रूप में कार्य करने वाला समझने की दृढ़ धारणा से, तथा

सुसंगठित राष्ट्रों के बीच पारस्परिक व्यवहार में न्याय व कर्तव्यनिष्ठ सम्मान की व्यवस्था करके तथा जितने भी सन्धिजन्य दायित्व हों उन सबका पूर्ण निष्ठा से आदर करते हुए राष्ट्र-संघ के इस प्रसंविदा को स्वीकार करते हैं।"

उद्देश्य (Objective)

1 F. P. Walters, *A History of the League of Nations*, Vol. 1, p. 32.

2 The Covenant was incorporated into the treaties of peace separately concluded by the World War I allies with the other defeated states.

राष्ट्र-संघ के तीन प्रमुख उद्देश्य थे :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना, अर्थात् न्याय तथा सम्मान के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का विकास करके भावी युद्धों को टालना।

(२) विश्व के राष्ट्रों के मध्य भौतिक तथा मानसिक सहयोग को प्रोत्साहन देना ताकि मानव-जीवन सुखी एवं समृद्ध बन सके, तथा

(३) पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा स्थापित यथास्थिति को स्थायी रूप से बनाये रखना।

राष्ट्रसंघ की प्रकृति

(Nature of the League)

राष्ट्र-संघ प्रसंविदा १९१९-१९२० की विभिन्न शान्ति-सन्धियों का भाग अवश्य थी परन्तु फिर भी यह एक पृथक् दस्तावेज था। शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर न करने वाले राज्य भी इसे स्वीकार कर सकते थे और शान्ति-सन्धियों पर हस्ताक्षर करने वाले राज्य इसे अस्वीकार भी कर सकते थे। पिटमैन बी० पाटर (Pitman B. Potter) ने राष्ट्र-संघ को एक "विशृंखलित संघीय संस्था" (loose federal union)[1] कहा है। इसके सदस्य-राज्यों ने कुछ सामान्य अभिकरण स्थापित किये थे और उन्हें अपनी ओर से कुछ शक्तियाँ दे दी। इन अभिकरणों को कुछ निश्चित क्रियाविधियों के अनुसार कार्य करना पड़ता था।

संरचनात्मक दृष्टि से राष्ट्र-संघ में सदस्य-राज्यों के अतिरिक्त एक सभा (Assembly), एक परिषद (Council), एक सचिवालय (Secretariat) तथा अनेक अस्थायी और स्थायी सहायक संगठन (temporary and permanent auxiliary organisations) थे। इसके अतिरिक्त राष्ट्र-संघ के दो स्वायत्त अंग (autonomous organs) भी थे—स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (PCIJ) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (ILO)।

इस संगठन का नाम "राष्ट्र-संघ" इस बात का द्योतक था कि यह प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का ही एक ऐच्छिक संघ (a voluntary association of sovereign states) था; राष्ट्रों ने ही स्वेच्छा और सहमति से इसका निर्माण किया था तथा इसे विशिष्ट अधिकार सौंपे थे। राष्ट्र-संघ कोई अतिराष्ट्रीय (Supernational) संस्था नहीं थी। इसके सदस्य-राज्यों की स्वतंत्रता पर बहुत ही कम प्रतिबन्ध लगाये गये थे। किसी सदस्य-राज्य की सम्मति के बिना राष्ट्र-संघ न तो कोई नया नियम बना सकता था और न ही नवीन दायित्वों को

1. Pitman B. Potter, *An Introduction to the Study of International Organisation*, p. 243.

उस पर आरोपित कर सकता था। राष्ट्र-संघ में एक संयुक्त उत्तरदायित्व निहित था किन्तु इसके साथ-साथ सदस्य-राज्यों की सम्प्रभुता को भी मान्यता दी गई थी। राष्ट्र संघ प्रसंविदा में किसी आक्रामक राज्य के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाई की व्यवस्था थी किन्तु इस कार्वाई का निश्चय प्रत्येक स्थिति में सदस्य-राज्य स्वयं करते थे। राष्ट्र-संघ द्वारा सशस्त्र शक्ति अथवा सेना का प्रयोग सदस्य-राज्यों की सम्मति पर ही निर्भर करता था। सदस्य-राज्यों से ऊपर कोई भी ऐसी शक्ति राष्ट्र-संघ में निहित नहीं थी जो सदस्य-राज्यों की इच्छा के विरुद्ध कार्य करने मे सक्षम हो। राष्ट्र-संघ के पास अपनी कोई स्वतंत्र सैनिक शक्ति नहीं थी तथा नियम भंग करने वाले सदस्य-राज्य के विरुद्ध इसके द्वारा स्वतः कोई कार्रवाई करना सम्भव नहीं था।

राष्ट्र-संघ की प्रकृति को स्पष्ट करते हुए क्लाइड इगलटन (Clyde Eagleton) ने कहा है कि राष्ट्र-संघ में न तो 'राज्य' के लक्षण विद्यमान थे और न ही इसे 'राष्ट्रों का एक संघ' कहना पर्याप्त होगा। यह एक 'महिमान्वित सार्वजनिक संघ' (glorified public union) था किन्तु इसका ध्येय एक विषय तक ही सीमित नहीं था। राष्ट्र-संघ न तो एक अतिराज्य (superstate) था और न ही इसे एक 'संघीय व्यवस्था' कहा जा सकता था। कदाचित् राष्ट्र-संघ एक राजमंडल या परिसंघ (confederation) की तरह था जिसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य अपनी प्रभुसत्ता तथा स्वायत्तता को बनाये रखा था। यद्यपि यह वादविवाद का विषय रहा है, फिर भी अधिकांश अधिकारी विद्वानों के अनुसार राष्ट्र-संघ में कुछ मात्रा मे वैधानिक व्यक्तित्व अवश्य था।[1]

राष्ट्र-संघ की सदस्यता तथा उसकी समाप्ति

(Membership of the League and its Termination)

राष्ट्र-संघ प्रसंविदा के अनुसार कोई भी स्वशासित राज्य, डोमिनियन (Dominion) या उपनिवेश (Colony) इसका सदस्य बन सकता था जो राष्ट्र-संघ द्वारा निर्धारित अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को पूरा करने और निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी नियमों के पालन का वचन देता था। नये सदस्यों के प्रवेश के लिए सभा (Assembly) के दो-तिहाई सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक थी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता ग्रहण नहीं की। १९२६ में जर्मनी तथा १९३४ में सोवियत रूस जैसे प्रमुख राज्यों को राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्रदान की गयी, तथापि अपने पूर्ण जीवन काल में राष्ट्र-संघ मूलतः यूरोपीय देशों का ही एक संगठन बना रहा।

1. Clyde Eagleton, *International Government*, pp. 260-261.

प्रसंविदा में राष्ट्र-संघ की सदस्यता का परित्याग करने के लिए तीन प्रकार की व्यवस्थायें की गयी थी। प्रथम, राष्ट्र संघ का कोई भी सदस्य-राज्य दो वर्ष का नोटिस देकर राष्ट्र-संघ की सदस्यता छोड़ सकता था किन्तु ऐसे सदस्य-राज्य के लिए यह आवश्यक था कि वह राष्ट्र-संघ की सदस्यता छोड़ते समय अपने समस्त अन्तर्राष्ट्रीय तथा प्रसंविदा सम्बन्धी दायित्वों को पूरा कर लिया हो। द्वितीय, यदि कोई सदस्य-राज्य प्रसंविदा में किसी संशोधन को अस्वीकार कर दे तो उसकी सदस्यता अपने आप से समाप्त हो जाती थी। तृतीय, प्रसंविदा का उल्लंघन करने वाले किसी सदस्य-राज्य को राष्ट्र-संघ से निष्कासित किया जा सकता था। सोवियत रूस ही एकमात्र ऐसा राज्य था जिसे इस व्यवस्था के अधीन फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण दिसम्बर १९३९ में राष्ट्र-संघ से निष्कासित कर दिया गया।

राष्ट्र-संघ का मुख्यालय

राष्ट्र-संघ का मुख्यालय (headquarters) जेनेवा (स्विट्ज़रलैण्ड) में स्थित था (अनुच्छेद ७ के अनुसार)। वैसे राष्ट्र-संघ की बैठक जेनेवा के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर भी हो सकती थी और कुछ बैठकें अन्य स्थानों पर की भी गयी थीं। स्विट्ज़रलैण्ड की सरकार राष्ट्र-संघ के पदाधिकारियों तथा सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों को कुछ उन्मुक्तियाँ (immunities) प्रदान कर रखी थीं।

राष्ट्र-संघ के अंग

राष्ट्र-संघ के तीन प्रधान तथा स्थायी अंग थे जिनकी शक्तियाँ, कार्य तथा क्रियाविधि नियम (Rules of Procedure) प्रसंविदा द्वारा परिभाषित थे। वे अंग इस प्रकार थे :

(१) राष्ट्र-संघ सभा (League Assembly),
(२) राष्ट्र-संघ परिषद् (League Council), तथा
(३) सचिवालय (Secretariat)।

इन अंगों के अतिरिक्त, कई प्राविधिक संगठन, स्थायी तथा अस्थायी आयोग तथा प्रशासकीय निकाय आदि थे।

—•—

३
राष्ट्र-संघ सभा
(League Assembly)

संगठन

राष्ट्र-संघ सभा में सभी सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि शामिल होते थे। प्रत्येक सदस्य-राज्य सभा की बैठकों में सम्मिलित होने के लिए अधिक से अधिक तीन प्रतिनिधि भेज सकता था किन्तु उसे एक ही मत (वोट) देने का अधिकार था। सभा एक राजनयिक सम्मेलन के समरूप थी, फिर भी उसे निश्चित रूप से एक अन्तर्राष्ट्रीय विधायी अंग (international legislative organ) नहीं माना जा सकता था। इस सम्बन्ध में क्लाइड इगल्टन (Clyde Eagleton) ने कहा है, "राष्ट्र-संघ सभा की प्रकृति एक राजनयिक सम्मेलन के सदृश थी और यद्यपि इसने ऐसी क्रियाविधियों का विकास किया जिन्होंने इसे एक संसदीय संस्था के कुछ रूप प्रदान किये, फिर भी इसे विधान-शक्ति प्राप्त नहीं थी" ("The Assembly of the League was in the nature of a diplomatic conference and, though it developed procedures which gave to it some of the aspects of a parliamentary body, it was not possessed of legislative power.")।[1]

लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ५ के अनुसार, सभा की किसी भी बैठक में महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय राष्ट्र-संघ के उपस्थित सभी सदस्यों की सहमति (निर्विरोध निर्णय) से होता था, किन्तु प्रक्रिया-सम्बन्धी मामलों (matters of procedure) के सम्बन्ध में निर्णय बैठक में राष्ट्र-संघ के उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा किया जाता था। सभा की बैठक वर्ष में एक बार होती थी लेकिन आवश्यकतानुसार सभा के विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते थे। दिसम्बर १९२० में, जेनेवा में राष्ट्र-संघ सभा की प्रथम बैठक हुई थी। सभा अपनी बैठक में एक अध्यक्ष चुनती थी जो सामान्यतः छोटे सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों में से चुना जाता था।

समितियाँ

सभा के दिन-प्रतिदिन के कार्यों में सहायता देने के लिए कई समितियों की स्थापना की गयी थी। सर्वप्रथम, एक सामान्य समिति (General Committee) या ब्यूरो (Bureau) था जिसमें अध्यक्ष, १९ उपाध्यक्ष, तथा कार्यसूची और परिचयपत्र समितियों (Agenda and Credentials Committees) के सभापति

1. Clyde Eagleton, *International Government*, p. 273.

शामिल थे। यह एक प्रकार की केन्द्रीय चालक निकाय (central steering body) थी जिसमें महाशक्तियों के विचारों का बड़ा प्रभाव रहता था। सभा की अन्य मुख्य समितियाँ निम्न थी :—

(१) कानूनी और संवैधानिक (Legal and Constitutional) मामलों की समिति,
(२) प्राविधिक संगठनों (Technical Organisations) सम्बन्धी समिति,
(३) शस्त्रीकरण को कम करने (Reduction of Armaments) का कार्य देखने वाली समिति,
(४) बजट तथा प्रशासकीय (Budget and Administrative) मामलों की समिति,
(५) सामाजिक तथा मानवतावादी (Social and Humanitarian) समिति, और
(६) राजनीतिक (Political) समिति।

इसके अतिरिक्त, परिचयपत्र (Credentials), नामांकन (Nomination) तथा कार्यसूची (Agenda) तीन प्रक्रिया सम्बन्धी समितियाँ (Procedural Committees) भी थीं। चूंकि राष्ट्र-संघ के सब सदस्य-राज्यों को इन मुख्य समितियों में प्रतिनिधित्व मिला हुआ था, इसलिए ये समितियाँ किसी राष्ट्रीय व्यवस्थापिका की समितियों की तुलना में आकार में बड़ी तथा प्रबन्ध-कुशलता की दृष्टि से कुछ दोषपूर्ण थीं।

यह स्मरण करने योग्य है कि प्रत्येक राजनीतिक संगठन की भाँति सभा में भी सदस्य-राज्य अपने सामान्य हितों (भौगोलिक, राजनीतिक तथा आर्थिक सम्बन्धों) की दृष्टि से कई गुटों में बँट जाते थे। इनमें सर्वाधिक शक्तिशाली और संगठित समूह ग्रेटब्रिटेन तथा अधिराज्यों (Dominions) का था। फ्रांस तथा लघु समहितसंघ (The Little Entente) अर्थात् चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और यूगोस्लाविया का प्रारम्भिक वर्षों में पर्याप्त प्रभाव रहा तथापि समय के साथ यह प्रभाव घटता गया।[1] १९२६ में राष्ट्र-संघ का सदस्य बन जाने के बाद जर्मनी को प्रायः आस्ट्रिया, हंगरी तथा बाद में इटली का समर्थन प्राप्त हुआ। स्कैण्डिनेवियन राज्यों (Scandinavian States) में परस्पर सहयोग था और उन्हें कभी-कभी नीदरलैण्ड, बेल्जियम, तथा स्विट्जरलैण्ड का समर्थन मिल जाता था। लैटिन अमेरिकन राज्य कई मामलों पर अपनी एकता का परिचय देते थे। वस्तुतः ये

1. लघु समहितसंघ तीन राज्यों—चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया तथा यूगोस्लाविया के संश्रय का गैरसरकारी नाम था जिन्हें ऑस्ट्रो-हंगेरियन राजतंत्र के खंडित हो जाने से सबसे अधिक लाभ पहुँचा था।

सभी गुट 'समूह प्रतिष्ठा' (group prestige) के मामलों पर अर्थात् राष्ट्र-संघ के अधिकारियों के निर्वाचन में अत्यधिक एकता और संगठन का परिचय देते थे किन्तु महत्त्वपूर्ण तथा गम्भीर मामलों पर उन्हें अपनी सहमति प्रदर्शित करने में अधिक कठिनाई होती थी।

राष्ट्र-संघ सभा के कार्य

(Functions of the League Assembly)

लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ३ के अनुसार, सभा अपनी बैठकों में राष्ट्र-संघ के कार्य-क्षेत्र में आने वाले अथवा विश्वशान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी भी विषय पर विचार कर सकती थी ("The Assembly may deal at its meetings with any matter within the sphere of action of the League or affecting the peace of the world.")। संक्षेप में, सभा के कार्य निम्नलिखित थे :

(१) राष्ट्र-संघ परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन करना (the election of non-permanent members of the League Council),

(२) परिषद् के साथ संयुक्त रूप में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करना (the election of judges of the Permanent Court of International Justice, concurrently with the Council),

(३) राष्ट्र-संघ के वित्तीय मामलों पर नियंत्रण रखना (the control of League finances),

(४) राष्ट्र-संघ में नये सदस्यों को प्रवेश देना (the admission of new members),

(५) राष्ट्र-संघ के कार्यकलापों की समीक्षा करना (the review of the activities of the League),

(६) परिषद् के अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन, कार्यकाल तथा पुनर्निर्वाचन से सम्बन्धित नियमों को निश्चित करना (to fix rules concerning the election, terms of office and conditions of re-eligibility of the non-permanent members of the Council),

(७) संविदा में संशोधन हेतु [illegible] करना (the [illegible] o Covenant amendments),

(८) अपनी क्रियाविधि नियमों को निश्चित करना तथा अपनी समितियों की नियुक्ति करना (to fix its own rules of procedure and appoint its committees),

(९) राष्ट्र-संघ के खर्च को सदस्य-राज्यों के बीच बाँटना (apportioning the expenses of the League among the members),

(१०) अनुच्छेद १५ के अधीन, परिषद् से अपने पास भेजे गये विवाद (यदि विवाद से सम्बन्धित कोई भी पक्ष अनुरोध करे) का निपटारा करना (to handle disputes referred to it from the Council),

(११) अनुच्छेद ६ के अधीन, महासचिव (Secretary-General) की नियुक्ति परिषद् द्वारा होती थी तथा उसकी नियुक्ति का अनुमोदन सभा करती थी,

(१२) अनुच्छेद १४ के अन्तर्गत, सभा किसी भी विवाद या प्रश्न पर स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सलाहकारी मत मांग सकती थी, और अन्त में,

(१३) लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद १९ के अनुसार, समय-समय पर सभा राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्यों को जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के जारी रहने से विश्व-शान्ति को खतरा हो सकता था, उन पर विचार करने तथा ऐसी संधियों पर पुनर्विचार करने की सलाह दे सकती थी जो अब लागू होने योग्य न रह गयी हों ("The Assembly may from time to time advise the reconsideration by Members of the League of treaties which have become inapplicable and the consideration of international conditions whose continuance might endanger the peace of the world.") ।

राष्ट्र-संघ का प्रत्येक सदस्य-राज्य सभा या परिषद् का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाली ऐसी किसी भी परिस्थिति की ओर आकर्षित कर सकता था जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति या राष्ट्रों के बीच सद्भावना में जिस पर विश्व-शान्ति निर्भर करती हो, विक्षेप पड़ने की आशंका हो । वस्तुतः विश्व की समस्याओं पर विचार करने तथा अपना मत प्रकट करने के लिये सभा एक नियमित वाक्पीठ (forum) थी तथा विशेषकर छोटे राज्यों के लिये यह बड़ी ही उपयोगी थी । अन्तर्राष्ट्रीय शिकायतों और झगड़ों पर विचार-विमर्श करने के लिये सभा एक अच्छे मंच का काम करती थी । इस सभा ने राष्ट्रसंघ को एक ऐसा स्थल बना दिया जहाँ पर वे राजनीतिज्ञ अपने विचार व्यक्त कर सकते थे, जिन्हें परिषद् में स्थान प्राप्त नहीं हुआ था । कुछ समय में ही सभा महान अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर वाद-विवाद

का विश्व-केन्द्र बन गई। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को चलाने के लिये राष्ट्र-संघ की परिषद् के साथ-साथ सभा भी प्रसंविदा की महान देन थी। इससे पहले यूरोप के विभिन्न राजनीतिज्ञ किसी सामान्य ध्येय को लेकर नियमित रूप से किसी तटस्थ स्थान पर एक साथ एकत्रित नहीं हुये थे।

राष्ट्रसंघ सभा का मूल्यांकन

राष्ट्र-संघ सभा की स्थिति तथा महत्ता के सम्बन्ध में प्रो० पिटमैन बी० पाटर (Pitman B. Potter) का कथन है कि, "सभा राष्ट्र-संघ का एकमात्र विशालतम और अत्यन्त प्रभावशाली अंग था" (The Assembly was the largest and most impressive single organ of the League.")।[1] यद्यपि सभा का उल्लेख प्रसंविदा में सर्वप्रथम हुआ था, किन्तु राष्ट्र-संघ के प्रथम दो वर्षों तक इसका अस्तित्व धूमिल ही पड़ा रहा। सभा को न तो वास्तविक विधायी शक्ति प्रदान की गयी थी और न ही इसे सचिवालय पर कोई शक्ति प्राप्त थी (केवल परिषद् को सचिवालय पर शक्ति प्राप्त थी); तथापि १९२४ के बाद की अवधि में सभा ने अत्यधिक ख्याति और प्रतिष्ठा अर्जित की। यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ थी तो वे मुख्यतः प्रसंविदा में सौंपे गये इसकी शक्तियो के उपर परिसीमन होने के कारण थी। सभा ने कुछ सीमा तक इन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लिया तथा वह राष्ट्र-संघ के कार्य पर अधिक प्रभाव डालने लगी।

प्रो० एल० एम० गुडरिच (L. M. Goodrich) का विचार है कि राष्ट्र-संघ सभा ने व्यवहार में एक लोकप्रिय विधायी अंग (popular-legislative organ) के अनेक कार्यों को ग्रहण कर लिया था। चूँकि इसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य को समान प्रतिनिधित्व मिला हुआ था तथा समान रूप से मत प्रदान करने की शक्ति प्राप्त थी, इसलिये सभा एक ऐसा अंग था जिसमें बड़े तथा छोटे सभी राज्यों को अपने विचारो को व्यक्त करने तथा वाद-विवाद करने का अवसर मिलता था।[2]

यह निःसन्देह सत्य है कि प्रसंविदा के निर्माताओं ने परिषद् को सभा की तुलना में एक अधिक ऊँचा स्थान दिया था तथा यह भी सत्य है कि प्रसंविदा में परिषद् का उल्लेख लगभग ६० बार तथा सभा का उल्लेख २४ बार किया गया, तथापि इन दो राजनीतिक अंगो की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में हमारे निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण हो सकते हैं। राष्ट्र-संघ परिषद् में वस्तुतः बड़े राष्ट्रों का पारस्परिक सहयोग नहीं बना रहा। अतएव सभा को शान्ति तथा सुरक्षा बनाये रखने सम्बन्धी व अन्य

1. Pitman B. Potter, *An Introduction to the Study of International Organisation*, p. 218.
2. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, p 11.

समस्याओं के निदान हेतु एक प्रभावी अभिकरण के रूप में कार्य करने का अवसर मिल गया। यह विश्व की समस्याओं पर विभिन्न राष्ट्रों के विचारों की अभिव्यक्ति के रंगमंच का काम करने लगी, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा (peaceful settlement) कराने का महत्वपूर्ण साधन बन गयी।

राष्ट्रसंघ सभा के महत्त्व का मूल्यांकन करते हुए चीवर तथा हेवीलैण्ड (Cheever and Haviland) ने जो निष्कर्ष दिया है, वह वास्तव में उल्लेखनीय है :—

"सभा के जीवन-इतिहास का सर्वेक्षण करते हुए, जो सर्वाधिक आश्चर्यजनक सत्य प्रकट होता है, वह यह कि (यह) दुर्बल शिशु किसी के मालूम होने के पूर्व एक सशक्त वयस्क बन गया। एक अखिल मंच जिसकी अधिकांश लोगों ने अहानिकर, विरल तथा असंगत के रूप में कल्पना की थी, शीघ्र ही प्रभावशाली, अविरल तथा महत्त्वपूर्ण बन गया" ("Surveying the Assembly's life-history, the most striking fact that emerges is that the weakling infant grew to be a vigorous adult almost before anyone was aware of it. A plenary forum that was expected by many to be innocuous, infrequent and inconsequential quickly became influential, frequent and important.")।[1]

1. Cheever and Haviland, *Organising for Peace : International Organisation in World Affairs*, pp. 82-83.



४

राष्ट्र-संघ परिषद्

(League Council)

संगठन

प्रसंविदा में यह प्रावधान था कि राष्ट्र-संघ परिषद् का गठन "प्रमुख मित्र तथा साथी राष्ट्रों" (Principal Allied and Associated Powers) के प्रतिनिधियों द्वारा होगा। प्रमुख मित्र तथा साथी राष्ट्र थे—संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, इटली तथा जापान। ये सभी राष्ट्र परिषद् के स्थायी सदस्य थे। इसके अतिरिक्त, ४ अस्थायी सदस्यों की व्यवस्था थी जिनका निर्वाचन राष्ट्र-संघ सभा द्वारा समय-समय पर होता था। प्रसंविदा में यह निर्दिष्ट था कि जब तक सभा इन ४ अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन न कर ले, तब तक बेल्जियम, ब्राजील, स्पेन तथा यूनान परिषद् के अस्थायी सदस्य बने रहेंगे। इस प्रकार राष्ट्र-संघ परिषद् में दो प्रकार के सदस्य होते थे—स्थायी तथा अस्थायी। यद्यपि बड़े राज्य परिषद् की सदस्यता केवल अपने ही तक सीमित रखना चाहते थे, तथापि उन्हें थोड़ी संख्या में छोटे राज्यों को इसमें प्रतिनिधित्व देना पड़ा। जब संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं बन सका, तो परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या घटकर ४ ही रह गई थी। फिर भी, सभा के बहुमत की स्वीकृति मिलने पर स्थायी या अस्थायी अथवा दोनों ही प्रकार के सदस्यों को जोड़कर राष्ट्र-संघ परिषद् का विस्तार किया जा सकता था। प्रसंविदा का परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या में आगे जाकर वृद्धि करने सम्बन्धी प्रावधान स्पष्ट ही इसी उद्देश्य से रखा गया था कि परिषद् से अनुपस्थित बड़े राष्ट्रों—रूस और जर्मनी—को उसका लाभ मिल सके। परिषद् के अस्थायी सदस्यों की संख्या १९२२ में ४ से बढ़कर ६, १९२६ में ९, १९३३ में १० तथा अन्त में १९३६ में ११ हो गई। प्रारम्भ में अस्थायी सदस्यों के कार्यकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं था किन्तु १९२६ में उनका कार्यकाल ३ वर्ष के लिये निर्धारित किया गया। परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या भी कभी बढ़ी और कभी घटी। उदाहरण के लिये, स्थायी सदस्यों की संख्या १९२० में ४ से बढ़कर १९३४-३५ में ६ हो गई तथा १९३९ के अन्त में यह संख्या घटकर केवल २ रह गई। १९२६ में जब जर्मनी ने राष्ट्र-संघ में शामिल होकर परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त की तब परिषद् के स्थायी सदस्यों की संख्या ४ से बढ़कर ५ हो गई। १९३४ में रूस को राष्ट्र-संघ में प्रवेश मिलने पर परिषद् में ६ स्थायी सदस्य हो गये किन्तु यह संख्या केवल कुछ ही माह तक स्थिर रह सकी।

मार्च, १९३५ में जापान राष्ट्र-संघ से पृथक् हो गया और स्थायी सदस्यों की संख्या घटकर ५ हो गयी। जब अक्टूबर, १९३५ में जर्मनी राष्ट्र-संघ से अलग हो गया तो स्थायी सदस्यों में से एक संख्या पुनः घट गयी। दिसम्बर, १९३९ में इटली ने राष्ट्र-संघ की सदस्यता का परित्याग कर दिया तथा १९३९ में रूस को फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण राष्ट्र-संघ से निष्कासित कर दिया गया। फलस्वरूप राष्ट्र-संघ के अन्तिम वर्षों में महाशक्तियों में से केवल ग्रेटब्रिटेन तथा फ्रांस दो ही देश परिषद् के स्थायी सदस्य रह गये थे।

लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ४ के अनुसार, परिषद् का प्रत्येक सदस्य-राज्य परिषद् के लिये केवल एक प्रतिनिधि भेज सकता था तथा उसे इसकी बैठकों में एक ही मत (वोट) देने का अधिकार था। यदि राष्ट्र-संघ का कोई सदस्य-राज्य परिषद् का सदस्य न हो और उसके हितों को विशेष रूप से प्रभावित करने वाले विषयों पर परिषद् की किसी बैठक में विचार किया जाना हो तो उसे परिषद् की उस बैठक में सदस्य की हैसियत से शामिल होने के लिये, एक प्रतिनिधि भेजने के लिये आमंत्रित किया जा सकता था। लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ४ में ही निर्दिष्ट था कि परिषद् की बैठक वर्ष में एक बार होगी किन्तु व्यवहार में इसकी बैठकें प्रतिवर्ष कई बार होती थीं। १९२९ के पूर्व परिषद् की बैठकें वर्ष में चार बार हुई तथा १९२९ के बाद प्रतिवर्ष इसकी तीन बैठकें होने लगीं। अनुच्छेद ११ के अनुसार, महासचिव किसी संकटकालीन अवस्था में राष्ट्र-संघ के किसी भी सदस्य-राज्य के अनुरोध पर तुरन्त परिषद् की बैठक बुला सकता था। परिषद् की बैठकें जेनेवा के अतिरिक्त लन्दन, पेरिस, ब्रसेल्स, मैडरिड, लुगानो आदि स्थानों पर हुईं।

परिषद् के अध्यक्ष (President) का चुनाव फ्रांसीसी वर्ण-क्रमानुसार (alphabetical rotation) होता था। अनुच्छेद ५ के अनुसार, सभा या परिषद् की किसी भी बैठक में निर्णय लेने के लिये राष्ट्र-संघ के उपस्थित सभी सदस्यों की सहमति आवश्यक थी। दूसरे शब्दों में, महत्वपूर्ण मामलों पर निर्णय लेने के लिये राष्ट्र-संघ में निर्विरोध नियम या मतैक्य नियम (rule of unanimity) अपनाया गया था। किन्तु सभा या परिषद् की बैठकों में प्रक्रिया-सम्बन्धी सभी मामलों का, जिनमें विशेष मामलों की जाँच के लिये समितियों की नियुक्ति भी शामिल होती थी, विनियमन सभा या परिषद् द्वारा होता था तथा उसके सम्बन्ध में निर्णय बैठक में राष्ट्र-संघ के उपस्थित सदस्यों के बहुमत द्वारा किया जाता था।

राष्ट्रसंघ परिषद् के कार्य
(Functions of the League Council)

राष्ट्र-संघ परिषद् का कार्य-क्षेत्र प्रसंविदा के अनुसार लगभग उतना ही व्यापक था जितना कि सभा का। लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ४ के अनुसार, राष्ट्र-संघ

परिषद् अपनी बैठकों में राष्ट्र-संघ के कार्य-क्षेत्र में आने वाले या विश्वशान्ति पर प्रभाव डालने वाले किसी विषय पर विचार कर सकती थी ("The Council may deal at its meetings with any matter within the sphere of action of the League or affecting the peace of the world.")। प्रो० एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) का मत है कि यदि सभा को, एक काल्पनिक विचार में, राष्ट्र-संघ की लोकप्रिय विधायी अंग माना जा सकता था तो उसी भावना द्वारा राष्ट्र-संघ परिषद् को कार्यपालिका अंग (executive organ) के रूप में देखा जा सकता था।[1] यद्यपि परिषद् और सभा की शक्तियों का वर्णन प्रसंविदा द्वारा एक ही भाषा में किया गया था, तथापि परिषद् को कुछ विशिष्ट कार्य दिये गये थे जिनसे इसकी कार्यपालिका प्रकृति प्रतिबिम्बित होती थी। उदाहरण के लिये, परिषद् को विवादों के निबटारे (settlement of disputes) के सम्बन्ध में विशेष उत्तरदायित्व दिये गये थे। इस उत्तरदायित्व को निभाने के कारण ही परिषद् "राष्ट्र-संघ की मशीनरी का मुख्य केन्द्र" (the centre of the League machinery) बन गई थी। संक्षेप में, परिषद् के निम्नलिखित कार्य थे :

(१) परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करती थी;

(२) परिषद् सचिवालय के कार्य का निर्देशन करती थी;

(३) परिषद् राष्ट्र-संघ के सहायक अंगों (subsidiary organs) से प्रतिवेदन प्राप्त करती थी;

(४) परिषद् शस्त्रास्त्र घटाने के सम्बन्ध में योजनायें तैयार करती थी;

(५) परिषद् महासचिव को नियुक्त करती थी, तथा सचिवालय के अन्य पदाधिकारियों की नियुक्तियों को अनुमोदन प्रदान करती थी;

(६) परिषद् प्रादेश पद्धति (mandates system) पर नियंत्रण रखने का कार्य करती थी तथा यह अल्पसंख्यक सन्धियों (Minorities Treaties) और अन्य समझौतों के पालन का निरीक्षण करती थी;

(७) परिषद् सभा के साथ संयुक्त रूप में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती थी;

(८) परिषद् अनुच्छेद २६ के अधीन सभा के साथ ही लीग प्रसंविदा में संशोधन करने की शक्ति रखती थी;

(९) राष्ट्र-संघ के भवनों के निर्माण तथा उनकी देखभाल का उत्तरदायित्व परिषद् पर था तथा इसे राष्ट्र-संघ के मुख्यालय को किसी अन्य स्थान पर (जेनेवा के अतिरिक्त) स्थापित करने का अधिकार प्राप्त था;

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, pp. 1-121

(१०) किसी आक्रमण के समय या किसी आक्रमण की धमकी या खतरे के समय, परिषद् राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्यों को परामर्श दे सकती थी कि किन उपायों द्वारा अनुच्छेद १० में निर्दिष्ट कर्तव्यों (सभी सदस्यों की प्रादेशिक अखण्डता तथा वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान तथा बाह्य आक्रमण से उनकी रक्षा) को पूरा किया जा सकता था;

(११) लीग प्रसंविदा का उल्लंघन या अतिक्रमण करने वाले किसी सदस्य-राज्य के विरुद्ध परिषद् को अनुशास्ति (*sanction*) लागू करने की शक्ति प्राप्त थी;

(१२) परिषद् अनुच्छेद १६ के अधीन सैनिक कार्रवाई के लिये संस्तुति कर सकती थी तथा इसी अनुच्छेद के अन्तर्गत वह किसी सदस्य-राज्य को राष्ट्र-संघ से निष्कासित कर सकती थी। परिषद् ने इस अधिकार का प्रयोग केवल सोवियत संघ के सम्बन्ध में किया जब उसे १९३९ में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के कारण राष्ट्र-संघ से निष्कासित कर दिया गया;

(१३) परिषद् अनुच्छेद १७ के अधीन उन शर्तों (conditions) को निर्धारित कर सकती थी जिनके अन्तर्गत वे राज्य, जो राष्ट्र-संघ के सदस्य नहीं थे बल्कि विवाद से सम्बन्धित पक्ष थे, किसी विवाद में राष्ट्र-संघ के समक्ष उपस्थित हो सकते थे, तथा ऐसी स्थिति में किस प्रकार की कार्रवाई की जाय, इसके लिये परिषद् संस्तुति कर सकती थी; तथा

(१४) परिषद् को संधियों द्वारा विविध शक्तियाँ प्रदान की गई थीं, यथा— डानजिग (Danzig) तथा सार (Saar) जैसे प्रदेशों पर इसका प्रत्यक्ष नियंत्रण था।

राष्ट्र-संघ प्रसंविदा के परिषद् सम्बन्धी अनुच्छेदों से स्पष्ट है कि उसे वास्तव में राष्ट्र-संघ का एक शक्तिशाली और महत्वपूर्ण अंग बनाया गया था जिसके पास वैधानिक अधिकारों के अतिरिक्त विश्व-राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर थे। परिषद् की स्थिति के सम्बन्ध में पिटमैन बी० पाटर (Pitman B. Potter) का निष्कर्ष है, "परिषद्, निस्सन्देह, कुछ अंश में एक नीति निर्मात्री और अंशतः एक कार्यकारिणी संस्था थी। यह कभी भी राष्ट्रसंघ में अपनी स्थिति को बिलकुल स्पष्ट अथवा कदाचित् पूर्णतः प्रतिष्ठित नहीं बना सकी, इसका कारण अंशतः इसकी कार्रवाईयों में प्रकट शक्ति-राजनीति के तत्वों की प्रधानता थी" "The Council was, of course, in part a policy forming and in part an executive body. It never quite made its position in the League system clear or, perhaps, entirely respected, this in part because of the prominence of the element of power politics evident in its operations")[1]

1. Pitman B. Potter, *An Introduction to the Study of International Organisation*, p. 249.

थोड़े समय बाद ही परिषद् पूर्ण रूप से तथा स्पष्ट रूप से सभा के समक्ष झुक गई तथा उससे कम प्रभावशाली रह गई।

राष्ट्रसंघ परिषद् की वास्तविक स्थिति

राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के निबन्धनों (terms) के अधीन सभा तथा परिषद् के कार्यों के बीच किसी प्रकार की स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची गई थी। एक बहुत बड़ी सीमा तक इन दो राजनीतिक अंगों की शक्तियाँ समान और संपूरक थी (इस सम्बन्ध में प्रसंविदा के अनुच्छेद ३ और अनुच्छेद ४ स्मरण करने योग्य हैं)। किसी को भी एक दूसरे को आदेश देने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। चीवर तथा हैवीलैण्ड (Cheever and Haviland) के मत में परिषद् की तुलना न तो ब्रिटिश मंत्रि-मंडल (British Cabinet) से की जा सकती है और न ही संयुक्त राज्य अमेरिका की कार्यकारिणी शाखिका से। परिषद् "केन्द्रीय अंग" (central organ) के रूप में एक छोटी और अधिक संयोजनीय (manageable) संस्था थी जिसका नेतृत्व मुख्यतः बड़े राष्ट्रों के हाथ में था और जिसे शस्त्रास्त्रों को घटाने जैसे सुरक्षा मामलों में कुछ विशेष उत्तरदायित्व प्रदान किये गये थे। फिर भी, व्यवहार में सभा ने उत्तरोत्तर एक अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और अनेक मामलों में तो वह राष्ट्रसंघ की "प्रभुसत्ता-सम्पन्न शक्ति" (sovereign power) समझी जाने लगी।[1]

राष्ट्रसंघ परिषद् की शक्ति के पतन में अनेक कारणों ने योग दिया। लघु-राष्ट्र सामान्यतः बड़े राष्ट्रों के प्रभाव को सीमित करने के प्रयास में लगे रहे। किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण सत्य यह था कि बड़े राष्ट्रों ने परस्पर-विरोधी परराष्ट्र-नीतियाँ अंगीकार की जिनके फलस्वरूप परिषद् की संरक्षकीय दायित्व को ठेस पहुँची। इसके अतिरिक्त, कुछ सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों को परिषद् के सदस्य के रूप में शामिल नहीं किया गया और अन्त में परिषद् की तुलना में एक अधिक प्रातिनिधिक संस्था के रूप में सभा विविध कार्यक्रमों के लिये व्यापक समर्थन प्राप्त करने हेतु एक उपयोगी मार्ग सिद्ध हुई।

परिषद् के लिये सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह था कि इसके शक्तिशाली तथा प्रभावशाली सदस्य अपने राष्ट्रीय हितों के समक्ष अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये अधिक चिन्तित नहीं थे। महत्वपूर्ण तथा गम्भीर विषयों पर निर्णय [illegible] था किन्तु महाशक्तियों द्वारा किसी विषय पर [illegible] नहीं की जा सकती थी। एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) ने [illegible] ही कहा है, "बिना प्राधिकार के जो इसने [illegible] रूप में उससे प्राप्त किया होता, परिषद् शक्ति [illegible]

1. Cheever and Haviland, *Organising for Peace: International [illegible] World Affairs*, p. 113.

प्रभावशाली ढंग से प्रतियोगिता करने में असमर्थ थी, तथा राष्ट्रसंघीय व्यवस्था के अन्तर्गत इसके आपेक्षिक महत्व में ह्रास होने लगा” (“Without the authority which it would have derived from being the instrument of Great Power co-operation, the Council was unable to compete effectively with the Assembly for power and influence, and its relative importance in the League system tended to decline”)।[1]

सारांश रूप में, यदि राष्ट्रसंघ के विभिन्न अंगों के कार्यों पर ध्यान दिया जाये तो परिषद् सम्भवतः सबसे अधिक असफल रही थी क्योंकि वह राजनीतिक दांवपेचों का मंच बन गई। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के एक अधिकारी विद्वान ने कहा है कि एक न्यायाधिकरण (tribunal) के रूप में परिषद् कभी भी राजनीति से मुक्त नहीं रही, न सामूहिक सुरक्षा नीतियों की दृष्टि से वह उचित तथा न्यायपूर्ण निर्णय ले सकी तथा एक प्रशासकीय अभिकरण के रूप में वह न तो निष्पक्ष ही रही। परिषद् में प्रमुख राज्यों के बीच न तो कभी सहमति ही रही और न आपसी सद्विश्वास। राष्ट्रसंघ सभा इस दृष्टि से परिषद् से अधिक सफल रही, विशेषकर १९२४ के उपरान्त तो सभा अधिकाधिक प्रभावशाली होती गई।

सभा और परिषद् का सम्बन्ध (Relation of Assembly and Council)

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि राष्ट्रसंघ प्रसंविदा में सभा और परिषद् के बीच कार्यों का स्पष्ट विभेदन नहीं किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के अधिकारी विद्वान क्लाइड इगलटन (Clyde Eagleton) ने इन दो राजनीतिक अभिकरणों के सम्बन्ध पर प्रकाश डालते हुये कहा है कि सभा और परिषद् न तो किसी विधानमंडल के दो सदनों का द्योतक थी और न ही उनके सम्बन्ध को मंत्रिमंडल (cabinet) तथा संसद् (parliament) के सम्बन्ध की तरह वर्णन करना उचित होगा। सत्य तो यह है कि वे एक ही मशीनरी में घनिष्ठ रूप से मिल जुलकर काम करने वाली दो दाँते (cogs) की तरह थीं। सभा और परिषद् राज्यों की समानता तथा बड़े राज्यों की प्रधानता के बीच एक मध्यमार्ग का प्रतीक थीं (The Assembly and the Council represented a compromise between the equality of states and the predominance of the Great Powers)।[2]

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, p. 12.
2. Records of the First Assembly (1920), p. 320.

"It is impossible to consider the Assembly as a Chamber of Deputies and the Council as an Upper Chamber...

"It is equally impossible to consider the Council as invested with the executive and the Assembly with the legislative powers.......................

"The truth is that the League of Nations has no analogy in ordinary constitutional law." *Ibid.*, pp. 318-320.

५

सचिवालय

(Secretariat)

संगठन तथा कार्य

राष्ट्र-संघ का तीसरा महत्त्वपूर्ण अंग सचिवालय था। सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय सिविल सेवा (International Civil Service) अभिकरण था। इसके प्रमुख को महासचिव (Secretary-General) के नाम से जाना जाता था। प्रथम महासचिव का उल्लेख लीग प्रसंविदा के परिशिष्ट (२) में ही कर दिया गया था। महासचिव की नियुक्ति, लीग प्रसंविदा के अनुच्छेद ६ के अनुसार, परिषद् द्वारा सभा की स्वीकृति से होती थी। इसके प्रथम महासचिव ब्रिटिश सिविल सेवा के सर जेम्स एरिक ड्रमण्ड (Sir James Eric Drummond) थे जिन्होंने १३ वर्षों तक बड़ी निष्ठा से इस पद पर कार्य किया। लीग प्रसंविदा में महासचिव के कार्यकाल के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं था किन्तु १९३३ में सर एरिक ड्रमण्ड के पद त्यागने के बाद सभा द्वारा महासचिव का कार्यकाल १० वर्ष के लिये निश्चित कर दिया गया। इसके उपरान्त, फ्रांस के एम० जोसेफ एवनोल (M. Joseph Avenol) द्वितीय तथा अन्तिम महासचिव नियुक्त किये गए। सितम्बर १९४० में जोसेफ़ एवनोल द्वारा पद त्याग के कारण श्री सीन लेस्टर (Sean Lester) ने कार्यकारी महासचिव के रूप में राष्ट्र-संघ के अन्तिम वर्षों में इसका मार्ग निदेशन किया।

सचिवालय सभा, परिषद् तथा दूसरे सहायक अंगों की सहायता करता था। इसके मुख्य कार्य थे : सभी अन्तर्राष्ट्रीय विषयों से सम्बन्धित सूचनायें, तथ्य तथा आंकड़े एकत्रित करना तथा प्रकाशित करना, मसौदे बनाना, सदस्य-राष्ट्रों द्वारा की जाने वाली संधियों को पंजीकृत करना, शोध करना, बैठकों की व्यवस्था करना, रिकार्ड्स रखना आदि।

राष्ट्र-संघ के सचिवालय का कार्य विभिन्न खण्डों (sections) में बँटा हुआ था। प्रारम्भ में इसमें ११ खण्ड थे किन्तु १९३८ में इसमें १५ खण्ड कर दिये गये। १९१९ में सचिवालय के कर्मचारियों की संख्या १२१ तथा १९३१ में बढ़कर ७०७ हो गई। जैसे-जैसे राष्ट्रसंघ का पतन होता गया, वैसे-वैसे सचिवालय के कर्मचारियों की संख्या भी घटती गई। १९४० तथा १९४४ में सचिवालय के कर्मचारियों की संख्या क्रमशः २०९ तथा ९४ रह गई थी।

प्रारम्भ में, सचिवालय के लिये ४ अवर महासचिव (Under-Secretaries-General) की व्यवस्था थी किन्तु १९२२ में उप-महासचिव (Deputy-Secret-

ary-General) पद की स्थापना हुई तथा १९३२ में एक द्वितीय उप-महासचिव पद को जोड़ दिया गया। व्यवहार में, इन अवर महासचिवों तथा उप-महासचिवों की नियुक्तियाँ महाशक्तियों द्वारा ही होती थी तथा वास्तव में, ये अधिकारी राष्ट्रीय प्रतिनिधि होते थे।

सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाये थे परन्तु उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने राष्ट्रीय हितों से उपर उठकर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपना कार्य करेंगे। उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने देश की सरकार के प्रति निष्ठा न रखकर राष्ट्र-संघ के प्रति अपनी निष्ठा प्रदर्शित करेंगे। वस्तुतः राष्ट्र-संघ के सचिवालय के अधिकारियों को अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारियों का रूप दिया गया था तथा उनके कर्तव्य राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय होते थे। लीग प्रसंविदा द्वारा सचिवालय को कोई विशेष अधिकार नहीं दिये गये थे लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से जो काम इसे करने पड़ते थे, वे निश्चय ही सराहनीय तथा महत्त्वपूर्ण थे। Clyde Eagleton ने राष्ट्र-संघ के सचिवालय को "राष्ट्र-संघ का आधार-स्तम्भ" ("backbone of the League") कहा है।



६

राष्ट्र-संघ के अन्य अंग

(Miscellaneous Organs of the League)

राष्ट्र-संघ के तीन प्रधान अंगों—सभा, परिषद् तथा सचिवालय के अतिरिक्त कई प्रकार के सहायक अंग भी थे जो विविध कार्यों को पूरा करने के लिये राष्ट्र-संघ के अधीन कार्यरत थे। इनमें सर्वप्रथम आर्थिक और वित्तीय संगठन (Economic and Financial Organisation) आता है जिसकी स्थापना १९२० में ब्रसेल्स वित्तीय सम्मेलन (Brussels Financial Conference) की संस्तुति के फलस्वरूप हुयी थी। इसके अन्तर्गत एक आर्थिक समिति तथा एक वित्तीय समिति स्थापित की गयी। इसके तत्वावधान में कई सम्मेलन हुए जिनमें १९२७ का "विश्व अर्थ-सम्मेलन" (World Economic Conference) तथा १९३३ का "मुद्रा तथा अर्थ-सम्मेलन" (Monetary and Economic Conference) मुख्य हैं। दूसरा संगठन यातायात तथा पारगमन (Communications and Transit) से सम्बन्धित था तथा तीसरा स्वास्थ्य संगठन (Health Organisation) था जिसके अन्तर्गत स्वास्थ्य समिति तथा सचिवालय का स्वास्थ्य खंड था। इनकी सहायता के लिये एक सलाहकारी परिषद् भी थी। राष्ट्र-संघ ने कई स्थायी आयोग भी स्थापित किये थे। प्रसंविदा के अनुच्छेद ९ के अनुसार, भूसेना, नौसेना तथा वायुसेना सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने के लिये एक "स्थायी परामर्शदात्री समिति" (Permanent Advisory Committee) भी बनायी गयी। अन्य आयोगों में अफीम तथा अन्य भयंकर औषधियों सम्बन्धी परामर्शदात्री आयोग (Advisory Commission on Opium and Other Dangerous Drugs), स्थायी केन्द्रीय अफीम बोर्ड (Permanent Central Opium Board), बालकों तथा नवयुवकों की सुरक्षा तथा कल्याण के लिये परामर्शदात्री आयोग (Advisory Commission for the Protection and Welfare of Children and Young People) तथा दासता पर विशेषज्ञों की परामर्शदात्री समिति (Advisory Committee of Experts on Slavery) थे। १९२२ में बौद्धिक सहयोग के लिये अन्तर्राष्ट्रीय समिति (International Committee on Intellectual Cooperation) की स्थापना हुई। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण के लिये भी एक समिति बनायी गई थी।

अन्त में, दो ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठन भी थे, जिनका खर्च राष्ट्र-संघ के आय-व्ययक (budget) में शामिल होते हुए भी जो प्रशासनिक तौर पर उससे स्वतंत्र

थे। ये थे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (International Labour Organisation) तथा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice)।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (I. L. O.)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ का, जिसका कार्यालय जेनेवा में था, निर्माण शांति-संधियों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से हुआ था। उसका संविधान राष्ट्र-संघ के संविधान जैसा बनाया गया था। उसके वार्षिक सम्मेलन (Annual Conference) शासी सभा (Governing Body) तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office) क्रमशः राष्ट्र-संघ की सभा, परिषद् और सचिवालय के समान थे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ में राष्ट्र-संघ के सभी सदस्य तथा संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्राजील शामिल थे। उसके वार्षिक सम्मेलन में हर राष्ट्र के चार प्रतिनिधि सम्मिलित होते थे जिनमें से दो की नियुक्ति सरकार द्वारा, एक की मालिकों के संगठनों द्वारा और एक की श्रमिकों के संगठनों द्वारा की जाती थी। श्रमिकों की स्थिति के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते किये गये किन्तु उनमें से सभी का सामान्यतः अनुसमर्थन नहीं किया गया।

१९४० में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ का मुख्यालय मान्ट्रीयल (Montreal) ले जाया गया तथा द्वितीय विश्व-युद्ध तक की सम्पूर्ण अवधि में इसका कार्य निरन्तर चलता रहा। दिसम्बर १९४६ में इसे संयुक्त राष्ट्र-संघ की एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (PCIJ)

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना राष्ट्र-संघ द्वारा प्रसंविदा के अनुच्छेद १४ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के ऐसे किसी भी विवाद को निपटाने के उद्देश्य से जो कि "सम्बन्धित पक्ष उसके सम्मुख प्रस्तुत करें" तथा परिषद् या सभा द्वारा उसके पास भेजे गये प्रश्नों पर सलाहकारी मत देने के लिये, की गयी थी। न्यायालय के लिये प्रारम्भ में ११ न्यायाधीशों तथा ४ उप-न्यायाधीशों (deputy judges) की व्यवस्था थी, किन्तु १९२९ में न्यायालय की संविधि में संशोधन कर न्यायाधीशों की संख्या १५ कर दी गयी। इस प्रकार न्यायालय में १५ न्यायाधीशों का एक मण्डल (panel) होता था जो सामूहिक रूप से "मानव सभ्यता के प्रधान रूपों तथा विश्व की प्रमुख कानूनी पद्धतियों" का प्रतिनिधित्व करते थे (अनुच्छेद ९)। न्यायाधीशों का निर्वाचन सभा तथा परिषद् द्वारा ९ वर्ष की अवधि के लिये होता था। इनके पुनर्निर्वाचन की भी व्यवस्था थी। यह न्यायालय हेग (Hague) में

लगता था। न्यायालय के अधिकारियों में सभापति तथा उप-सभापति मुख्य थे जिनका चुनाव ३ वर्ष की अवधि के लिये किया जाता था। इसमें एक रजिस्ट्रार (Registrar) भी होता था जिसकी स्थिति महासचिव के समान होती थी। यद्यपि संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी न्यायालय का सदस्य नहीं रहा, फिर भी उसके तीन नागरिकों—Charles Evans Hughes, Frank B. Kellogg तथा Manley O. Hudson को न्यायालय का न्यायाधीश होने का गौरव प्राप्त हुआ। राष्ट्र-संघ-सभा न्यायाधीशों के वेतन तथा न्यायालय के बजट, जो राष्ट्र-संघ बजट का ही एक भाग होता था, को निर्धारित करती थी। न्यायाधीशों को राजनयिक विशेषाधिकार तथा उन्मुक्तियाँ प्राप्त थीं (अनुच्छेद १९)।

न्यायालय की संविधि में एक तथाकथित "ऐच्छिक धारा" (Optional Clause) भी थी जिस पर हस्ताक्षर करने वालों के लिये यह आवश्यक था कि वे उनके तथा राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों के बीच वैधिक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप के विवाद को उसके सामने निर्णय के लिये प्रस्तुत करें। लगभग ५० राज्यों ने, जिनमें बड़े राष्ट्र भी शामिल थे, इस धारा पर हस्ताक्षर किये थे यद्यपि उनमें से कुछ ने कुछ रक्षणों (Reservations) के साथ उस पर हस्ताक्षर किये थे।

यद्यपि विश्व-न्यायालय (World Court) शान्ति स्थापना हेतु एक प्रमुख माध्यम नहीं था, फिर भी इसका कार्य उपयोगी तथा प्रशंसनीय था। २२ वर्षों की अवधि में इस न्यायालय के सम्मुख ६५ कानूनी विवाद आये जिनमें इसने ३२ मामलों में निर्णय तथा २७ सलाहकारी मत दिये।[1] राज्यों के मध्य जिन विवादों के वैधिक पक्षों पर न्यायालय ने सलाहकारी मत दिया, उनमें अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (ILO), Nationality Decrees in Tunisia and Morocco (१९२२), Austro-German Customs Union (१९३१), आदि मुख्य थे। Status of Eastern Karelia (१९२३) में न्यायालय ने सलाहकारी मत देने से अस्वीकार कर दिया था। न्यायालय की संविधि तथा उसके निर्णय—दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विकास में सहायक रहे। न्यायाधीश Manley O. Hudson के अनुसार, इस न्यायालय ने अपने जीवन-काल में "आश्चर्यजनक सफलता" (surprising success) से काम किया था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की निष्पक्षता इतनी अधिक थी कि सब सदस्य-राज्यों ने इसके निर्णयों को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया था।



[1] As to advisory opinions, see M. O. Hudson, *The Advisory Opinions of the Permanent Court of International Justice* Int. Con.: No. 214, 1925.

७

राष्ट्र-संघ तथा प्रादेश-पद्धति

(The League and the Mandates System)

सामान्य परिचय

उस समय, जबकि साम्राज्यवाद (imperialism) अपनी चरमसीमा पर था, इसकी कटु आलोचनायें की जा रही थीं। इन आलोचनाओं में सबसे व्यापक और प्रभावी आलोचना जे० ए० हाब्सन (J. A. Hobson) ने अपनी पुस्तक "साम्राज्यवाद—एक अध्ययन" (Imperialism, A Study), जो लन्दन में १९०२ में प्रकाशित हुई थी, में प्रस्तुत किया था। राष्ट्रपति वुडरो विलसन के १४ सूत्रों में से पाँचवाँ सूत्र भी औपनिवेशिक समस्या तथा शान्ति-समझौता से सम्बन्धित था जिसमें यह घोषित किया गया था कि "सभी औपनिवेशिक दावों का निर्बाध, उदार और पूर्णतया निष्पक्ष समायोजन, जिसका आधार इस सिद्धान्त का कठोर पालन होगा कि संप्रभुत्व के ऐसे सभी प्रश्नों का निर्णय करते समय सम्बन्धित जनता के हितों का भी उतना ही ध्यान रखा जायेगा जितना उस सरकार के, जिसका हक निश्चित किया जाना है, न्याय्य दावों का" ("A free, open-minded, and absolutely impartial adjustment of all colonial claims, based upon a strict observance of the principle that in determining all such questions of sovereignty the interests of the population concerned must have equal weight with the equitable claims of the government whose title is to be determined.")।

परिणामस्वरूप, राष्ट्र-संघ प्रसंविदा के निर्माण के समय पराधीन क्षेत्रों को एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रादेश-पद्धति के अधीन रखने के लिये कई प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये। दक्षिण अफ्रीका के जेनरल जान सी० स्मट्स (General Jan C. Smuts) ने प्रादेश-पद्धति की योजना बनाने में एक विशेष महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।[1] प्रथम विश्व-युद्ध में पराजित जर्मनी तथा टर्की के जिन प्रदेशों को प्रमुख मित्र तथा साथी राष्ट्रों ने अपने अधिकार में कर लिया था, उन्हें राष्ट्र-संघ प्रादेश-पद्धति के अन्तर्गत रखा गया,—जिसका उद्देश्य अधिक विकसित राष्ट्रों के प्रशासन के अधीन उन पराधीन क्षेत्रों के निवासियों के हितों की रक्षा करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय

1. General Jan Smuts, *The League of Nations : A Practical Suggestion* (London : Hodder and Stoughton, 1918).

गारण्टियाँ (guarantees) प्रदान करना था। यह विश्वास किया गया था कि ये गारण्टियाँ अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम करने तथा भावी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष को टालने में सहायक होंगी।

प्रादेश-प्रद्धति की परिभाषा तथा रूपरेखा

प्रादेश-पद्धति की सर्वोत्तम परिभाषा क्विन्सी राइट (Quincy Wright) ने की है जो इस प्रकार है : "एक मान्यताप्राप्त संस्था के रूप में······प्रादेश-पद्धति की उत्पत्ति राष्ट्र-संघ प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में हुई। इसकी परिभाषा विकसित राज्यों द्वारा कुछ पिछड़े हुए प्रदेशों के प्रशासन की योजना के रूप में दी जा सकती है जो (विकसित राज्य) प्रसंविदा और प्रादेश में निहित न्यास की शर्तों के अनुसार राष्ट्र-संघ की ओर से प्रादेशप्राप्त सत्ता के रूप में कार्य करते हैं जो (प्रादेश) निवासियों के लिये, जब तक कि वे अपने पैरों पर खड़े होने योग्य न हो जायं, एक संरक्षण प्रदान करता है" ("The mandate system as a recognised institution of············ originated in Article 22 of the League of Nations covenant. It may be defined as a system for the administration of certain backward territories by advanced states which act as mandatories on behalf of the League of Nations according to the terms of a trust embodied in the covenant and mandate which provides for a tutelage of the inhabitants until they are able to stand by themselves.")।

प्रादेश-पद्धति की रूपरेखा प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में रखी गयी। इसमें यह व्यवस्था की गयी थी कि पराजित राष्ट्रों द्वारा समर्पित उन क्षेत्रों के निवासियों का, "जो आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थितियों में अपने पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं हैं", कल्याण और विकास (well-being and development) सभ्यता का पवित्र न्यास (sacred trust of civilisation) है तथा "इस सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि ऐसे लोगों का संरक्षण उन समुन्नत राष्ट्रों को सौंपा जाय जो अपने संसाधनों, अपने अनुभव या अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण, इस उत्तरदायित्व को सबसे अच्छी तरह स्वीकार कर सकते हों तथा जो यह उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने के लिये प्रस्तुत हों तथा इस संरक्षण-अधिकार का उपयोग वे राष्ट्र-संघ की ओर से प्रादेशप्राप्त राज्य के रूप में करें" ("The best method of giving practical effect to this principle is that the tutelage of such peoples should be entrusted to

advanced nations who, by reason of their resources, their experience or their geographical position, can best undertake this responsibility, and who are willing to accept it, and that this tutelage should be exercised by them as Mandatories on behalf of the League.")।[1] ये प्रादेशप्राप्त राष्ट्र किस सीमा तक राष्ट्र-संघ की ओर से काम करने वाले कहे जा सकते हैं यह बात सन्देहास्पद ही थी। जिन प्रदेशों का उल्लेख किया गया है उन्हें जर्मनी और टर्की ने प्रमुख मित्र और साथी राष्ट्रों को समर्पित किया था और प्रादेशप्राप्त राष्ट्रों का चुनाव भी मित्र और साथी राष्ट्रों द्वारा होना था। राष्ट्र-संघ ने प्रादेश की शर्तों पर अपनी स्वीकृति दी थी। प्रादेशप्राप्त राष्ट्र अपने प्रादेश सम्बन्धी प्रतिवेदन प्रतिवर्ष राष्ट्र-संघ को भेजते भी थे किन्तु राष्ट्र-संघ उनकी केवल मित्रतापूर्ण आलोचना ही कर सकता था। चूँकि प्रादेश उसने नहीं दिये थे, इसलिये वह उन्हें वापस भी नहीं ले सकता था। इसके साथ ही यह प्रश्न भी कि प्रादेशाधीन प्रदेशों की सम्प्रभुता (Sovereignty) किसमें निहित है, एक ऐसी कानूनी पहेली थी जिसका कोई हल नहीं था।

प्रादेशाधीन प्रदेशों का वर्गीकरण

प्रसंविदा में तीन प्रकार के प्रादेशाधीन प्रदेशों (जिन्हें साधारणतः 'क' (A), 'ख' (B) और 'ग' (C) प्रादेशाधीन प्रदेश कहा जाता है) की व्यवस्था की गयी थी। यह वर्गीकरण सम्बन्धित निवासियों के विकास की अवस्था के आधार पर किया गया था।[2]

'क' प्रादेशाधीन प्रदेशों में, जिनमें टर्की के भूतपूर्व प्रान्त थे, प्रादेशप्राप्त राष्ट्र का कर्त्तव्य, "जब तक कि वे अपने पैरों पर खड़े न हो जायें, तब तक उन्हें प्रशासकीय सलाह तथा सहायता देना," निश्चित किया गया था। इस वर्ग में रखे गये ५ प्रदेशों में—ईराक, फिलिस्तीन और ट्रांसजोर्डन ग्रेटब्रिटेन को सौंपे गये जबकि सीरिया और लेबनान फ्रांस को। केवल ईराक ही एक ऐसा प्रदेश था जिसे राष्ट्र-संघ के जीवन-काल में स्वतंत्रता प्राप्त हुई थी। यह १९३२ में स्वतंत्र हो गया तथा उसी समय यह राष्ट्र-संघ का सदस्य भी बन गया। सीरिया १९४४ में एक गणराज्य घोषित किया गया किन्तु फ्रांस की सेनायें वहाँ १९४६ में युद्ध समाप्त होने तक बनी रहीं। फिलिस्तीन का प्रादेश अंग्रेज सरकार द्वारा १९१७ में दिये गये इस वचन पर आधारित था कि वह फिलिस्तीन को "यहूदी लोगों का

1. Article 22 of the League Covenant.
2. Complete information as to the working of the League Mandates System is to be found in the exhaustive work of Quincy Wright, *Mandates under the League of Nations* (Chicago : University of Chicago Press, 1930).

राष्ट्रीय स्वदेश" ("a national home for the Jewish people") बना देगी। लेबनान द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के बाद १९४१ में स्वाधीन हो गया। ट्रान्सजोर्डन (अब जोर्डन) १९४६ में स्वतंत्र हुआ जबकि फिलिस्तीन (Palestine) इजरायल राज्य के रूप में यहूदियों का देश घोषित किया गया।

'ख' प्रादेशाधीन प्रदेशों की जिनमें अफ्रीका में स्थित जर्मनी की अधिकांश बस्तियाँ (colonies) थीं, जनता को किसी भी प्रकार की प्रशासनिक स्वायत्तता के योग्य नहीं माना गया। किन्तु प्रादेशप्राप्त राज्य का केवल यही कर्त्तव्य नहीं था कि वह दासों तथा शस्त्रों के व्यापार को रोके, और "पुलिस के प्रयोजनों या अपने क्षेत्र की रक्षा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य के लिये" देशी लोगों की भरती न करे अपितु राष्ट्र-संघ के अन्य सदस्यों को व्यापार और वाणिज्य के समान अधिकार देना भी उनके लिये आवश्यक था। पूर्वी अफ्रीका में, भूतपूर्व जर्मन उपनिवेश टैंगानिका (Tanganyika) पूरा का पूरा ग्रेटब्रिटेन को प्रादिष्ट कर दिया गया। पश्चिमी अफ्रीका में कैमेरून्स (cameroons) और टोगोलैण्ड (Togoland) दोनों ही ग्रेटब्रिटेन और फ्रांस के प्रादेशों में विभक्त कर दिये गये जबकि रुआण्डा-उरुण्डी (Ruanda-Urundi) बेल्जियम के अधीन रखा गया। इस प्रकार इस वर्ग में ६ प्रदेश थे।

'ग' वर्ग के प्रादेशाधीन प्रदेशों में जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका तथा जर्मन प्रशान्त द्वीप थे। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका (Union of South Africa) को, पश्चिमी समोआ न्यूजीलैण्ड को, जर्मन न्यू गायना आस्ट्रेलिया को प्रादिष्ट किया गया। नौरू ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के संयुक्त प्रशासन में रखा गया जबकि उत्तरी प्रशान्त द्वीप (North Pacific Islands) जापान को सौंप दिये गये। 'ग' वर्ग के प्रादेशाधीन प्रदेशों का प्रशासन प्रादेशप्राप्त राज्यों के कानूनों के अनुसार चलता था तथा ये प्रदेश प्रादेशप्राप्त राज्य की भूमि के ही अविभाज्य अंग (integral portions) माने गये थे।

स्थायी प्रादेश आयोग की स्थापना

प्रादेशप्राप्त राज्य के प्राधिकार, नियंत्रण या प्रशासन की मात्रा का निश्चय प्रत्येक मामले में राष्ट्र-संघ परिषद् तथा प्रादेशप्राप्त राज्य के बीच एक समझौता द्वारा होता था किन्तु प्रादेशप्राप्त राज्य को अपने अधीनस्थ प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध में एक वार्षिक प्रतिवेदन परिषद् को प्रस्तुत करनी पड़ती थी। प्रादेश सम्बन्धी कार्यों की देखभाल के लिये राष्ट्र-संघ ने एक "स्थायी प्रादेश आयोग" (Permanent Mandates Commission) की स्थापना की जिसके दो कार्य थे—(अ) प्रादेशप्राप्त राज्यों से वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करना तथा उनकी

जाँच करना, तथा (ब) प्रादेश के कर्त्तव्यों का पालन करने सम्बन्धी सभी मामलों पर परिषद् को परामर्श देना। प्रादेश आयोग की जिनमें ११ उपनिवेश-प्रशासन विशेषज्ञ थे, बैठकें वर्ष में दो बार जेनेवा में होती थीं। इन बैठकों में आयोग प्रादेशप्राप्त राष्ट्रों से उनके प्रशासन-क्षेत्रों-सम्बन्धी वार्षिक प्रतिवेदन प्राप्त करता था, तथा अपनी आलोचना और सिफारिशों के साथ उन्हें परिषद् के सम्मुख प्रस्तुत करता था। परिषद् उन पर विचार करती थी और आवश्यकता होने पर उनके सम्बन्धों में अपनी सिफारिश करती थी। इस प्रयोजन के लिये प्रादेशप्राप्त राष्ट्र का (चाहे वह परिषद् का नियमित सदस्य हो अथवा न हो) प्रतिनिधि परिषद् में बुलाया जाता था।

वर्ग क : फिलिस्तीन (ग्रेटब्रिटेन), सीरिया तथा लेबनान (फ्रांस) तथा ईराक और ट्रांस जोर्डन (ग्रेटब्रिटेन);
वर्ग ख : टैंगानिका (ग्रेटब्रिटेन), टोगोलैण्ड (ग्रेटब्रिटेन), टोगोलैण्ड (फ्रांस), केमेरून्स (ग्रेटब्रिटेन), केमेरून्स (फ्रांस) तथा रुआण्डा-उरूण्डी (बेल्जियम);
वर्ग ग : पश्चिमी समोआ (न्यूजीलैण्ड), नौरू (ग्रेटब्रिटेन, न्यूजीलैण्ड तथा आस्ट्रेलिया), न्यू गायना (आस्ट्रेलिया) तथा उत्तरी प्रशान्त द्वीप (जापान)।

परिषद् तथा आयोग के प्रयास मुख्यतया तीन लक्ष्यों की ओर निदेशित थे:[1]

१. देशी (native) जनता की राजनीतिक तथा नैतिक शिक्षा, जीवन-अवस्थाओं में सुधार तथा सामान्य रूप से उनके हितों का संरक्षण,

२. आर्थिक मामलों में अविभेद के सिद्धान्तों का अनुप्रयोग, तथा

३. एक पृथक् अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व के रूप में प्रादेशाधीन प्रदेश की वैधिक स्थिति, अखण्डता तथा वैयक्तिकता का परिरक्षण।

प्रादेश-पद्धति के दोष

राष्ट्र-संघ द्वारा प्रचालित प्रादेश-पद्धति का एक प्रमुख दोष, जैसा कि एल० एम० गुडरिच (Leland M Goodrich) ने कहा है, यह था कि यह उपनिवेशीय शासन के अधीन क्षेत्रों के एक भाग तथा अपेक्षाकृत एक छोटे भाग पर प्रयुक्त किया गया था। यह पद्धति उन प्रदेशों, जो जर्मनी तथा ऑटोमन साम्राज्य (Ottoman Empire) के उपनिवेश तथा भाग रह चुके थे तथा जिन्हें विजयी राष्ट्रों को समर्पित किया गया था, पर लागू होता था किन्तु स्पष्टतया केवल ये ही ऐसे प्रदेश नहीं थे जिनके निवासी आधुनिक विश्व की कठिन परिस्थितियों में अपने

1. Clyde Eagleton, *International Government*, p. 289.

पैरों पर खड़े होने योग्य नहीं थे। ग्रेटब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस, जापान, इटली, बेल्जियम, स्पेन, पुर्तगाल तथा नीदरलैण्ड्स के उपनिवेशों तथा अधीन-प्रदेशों के सम्बन्ध में प्रसंविदा में केवल यह प्रावधान था कि राष्ट्र-संघ के सदस्य-राज्य उन प्रदेशों के देशी निवासियों के साथ "न्यायोचित व्यवहार" (just treatment) करेंगे। किन्तु "न्यायोचित व्यवहार" (just treatment) को न तो परिभाषित करने का प्रयास किया गया और न ही उनके लिये अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण या किसी प्रकार की गारण्टी का प्रावधान किया गया।[1]

यद्यपि प्रसंविदा ने प्रादेश के अधीन प्रादेशाधीन प्रदेशों के प्रशासन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की स्थापना की थी, किन्तु इसने निरीक्षणात्मक कार्यों को पूरा करने में आवश्यक सूचना प्राप्त करने के लिये एक प्रभावकारी ढंग की व्यवस्था नहीं की थी और न तो प्रादेशप्राप्त राज्य द्वारा प्रादेश की शर्तों के अतिक्रमण के मामले में राष्ट्र-संघ द्वारा दण्ड दिये जाने की व्यवस्था की गयी थी। "स्थायी प्रादेश आयोग" प्रादेशप्राप्त राष्ट्रों के प्रतिवेदनों की सत्यता और परिशुद्धता का परीक्षण करने के लिये प्रादेशाधीन प्रदेशों में जाकर जाँच-पड़ताल नहीं कर सकता था। एक राजनीतिक अभिकरण होने तथा राजनीतिक विचारों से प्रभावित होने के कारण परिषद् को उस राज्य के विरुद्ध, जिसने एक प्रादेशप्राप्त सत्ता के रूप में अपने उत्तरदायित्वों के पालन में असफलता दिखायी हो, बल-प्रयोग कार्रवाई करने की शक्ति प्राप्त नहीं थी। इस प्रकार की अनुशास्तियाँ (sanctions) पूर्ण रूप से नैतिक थीं।

प्रादेश-पद्धति के दोषों की ओर संकेत करते हुए चीवर तथा हैवीलैण्ड (Cheever and Haviland) ने कहा है कि राष्ट्र-संघ को प्रादेशाधीन प्रदेशों में बन्धनकारी आदेश देने, वित्त अथवा कर्मचारीगण को नियंत्रित करने अथवा अपने उत्तरदायित्वों की उपेक्षा करने वाले प्रादेशप्राप्त राज्यों पर अनुशास्तियाँ लागू करने के लिये कोई स्पष्ट सत्ता प्रदान नहीं की गयी थी। अन्त में, चूँकि प्रादेश आयोग के सभी सदस्य, केवल एक को छोड़कर, उपनिवेशीय राष्ट्रों से ही लिये गये थे, अतः इसकी नीतियाँ अत्यधिक पक्षपातपूर्ण थीं। इन परिस्थितियों में यह कोई आश्चर्य नहीं कि "राष्ट्र-संघ प्रादेशाधीन प्रदेशों के प्रशासन में एक सक्रिय सहयोगी की अपेक्षा एक निष्क्रिय दर्शक अधिक था" ("The League was more a passive side-line spectator than an active teammate in the administration of the territories.")।[2]

1. L. M. Goodrich, *The United Nations*, pp. 294-295. Article 23 (b) of the Covenant.
2. Cheever and Haviland, *Organising for Peace: International C* ... *World Affairs*, p. 289.

निःसन्देह आदेश-पद्धति अपनी सभी परिसीमनों के होते हुए भी मानव-प्रगति के क्षेत्र में एक सफल प्रयोग था तथा इसे पराधीन प्रदेशों के प्रशासन के गुणात्मक स्तर को बनाये रखने में पर्याप्त सफलता मिली। निश्चित रूप से इस पद्धति ने उन लोगों को प्रोत्साहन तथा प्रेरणा प्रदान की जो उपनिवेशवाद की समाप्ति तथा पराधीन लोगों द्वारा स्वराज्य की प्राप्ति के लिये प्रयास कर रहे थे।[1]



1. "Certainly the League mandates system gave encouragement and support," writes Prof. L. M. Goodrich, "to those who, more conscious of the evils of colonialism than of its benefits, were working for its termination and for the realisation by dependent peoples of the benefits of self-government."–The United Nations, p- 296.

८

राष्ट्र-संघ शांतिस्थापक के रूप में

(The League as Peacemaker)

राष्ट्र-संघ ने जनवरी १९२० में अपना कार्य प्रारम्भ किया। अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में इसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, क्योंकि एक तो सीनेट द्वारा वर्साई की संधि का अनुसमर्थन न करने के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं हो सका और दूसरे, साधारणतः सरकारों का यह विचार था कि राष्ट्र-संघ विजेता राष्ट्रों का ही एक संगठन है; इसलिये यह निष्पक्ष न्याय नहीं दे सकता। राष्ट्र-संघ ने अनेक गम्भीर कठिनाइयों के होते हुए भी धैर्यपूर्वक अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह का प्रयत्न किया तथा अपनी प्रारम्भिक सफलताओं के कारण अल्प समय में ही वह एक ऐसी संस्था बन गयी जिसकी ओर सभी राष्ट्रों का ध्यान केन्द्रित हो गया।

दो विश्व-युद्धों के बीच दो दशकों में राष्ट्र-संघ के सम्मुख लगभग ६० राजनीतिक विवाद प्रस्तुत हुए और इसी अवधि में स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने लगभग इतने ही कानूनी विवादों पर विचार किया जिनमें इसने ३२ मामलों में निर्णय तथा २७ सलाहकारी मत (advisory opinion) दिये।

प्रथम दशक, १९२० से १९३०, में राष्ट्र-संघ को विवादों का निपटारा कराने में पर्याप्त सफलता मिली यद्यपि इसकी क्रियाविधियों का पूर्ण विकास नहीं हुआ था तथा संयुक्त राज्य अमेरिका जो इसके जन्म के लिये एक बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी था, इसका सदस्य नहीं बना। संयुक्त राज्य अमेरिका की कर्तव्यविमुखता (defection) ने राष्ट्र-संघ को शीघ्र ही शक्तिहीन कर दिया तथा विवादों के निपटारे और शान्ति की स्थापना में इसकी क्षमता को कम कर दिया। फिर भी, १९३० तक राष्ट्र-संघ को संतोषजनक ढंग से कई राजनीतिक विवादों को हल करने में सफलता मिली। ई० एच० कार (E. H. Carr) ने ठीक ही कहा है, "१९२४ से १९३० तक का काल राष्ट्र-संघ की सर्वाधिक प्रतिष्ठा एवं सत्ता का काल था" ("The years 1924 to 1930 were the period of the League's greatest prestige and authority.") । १९२४ से पहले, जेनेवा में राष्ट्र-संघ के सदस्य-राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व सामान्यतः ऐसे प्रतिनिधि करते थे, जो, वे कितने ही विख्यात क्यों न हों, अपने देश की विदेश-नीति के लिये उत्तरदायी मंत्री

E. H. Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, p. 93.

होते थे। किन्तु जब १९२४ में रामजे मेकडॉनल्ड (Ramsay Mac Donald) तथा हेरियत (Herriot) सभा की कार्यवाही में भाग लेने के लिये स्वयं जेनेवा आये, तब उन्होंने एक दूरगामी महत्व का पूर्वोदाहरण उपस्थित किया। उसके बाद से ग्रेटब्रिटेन, फ्रास और (उसकी सदस्यता की अवधि में) जर्मनी के विदेश-मंत्री सामान्यतः सभा के प्रत्येक अधिवेशन की कुछ कार्यवाही में तथा परिषद् के लगभग हर अधिवेशन में भाग लेते रहे। योरोप के कई अन्य राष्ट्रों के विदेश-मंत्रियों ने भी इस उदाहरण का शीघ्र ही अनुकरण किया। एक वर्ष (१९२९) तो सभा में योरोप के सभी विदेश-मंत्री सम्मिलित हुए। गैर-योरोपीय देशों का प्रतिनिधित्व अधिकांश अवसरों पर विवशतापूर्वक योरोपीय राजधानियों में स्थित उनके राजदूत अथवा जेनेवा स्थित उनके व्यावसायिक (professtonal) प्रतिनिधि करते थे।

चीवर तथा हैवीलैण्ड (Cheever and Haviland) ने १९३० तक राष्ट्र-संघ की सफलता तथा प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में निम्नलिखित कारणों पर प्रकाश डाला है :—

(१) जनमत (public opinion) के दबाव के कारण सरकारों ने राष्ट्र-संघ को अपना समर्थन प्रदान किया। राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने राष्ट्र-संघ के पक्ष में जनमत निर्माण की महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

(२) राष्ट्र-संघ में प्रवेशप्राप्त प्रमुख शक्तियों ने १९२९ से बाद के वर्षों की तुलना में अपनी वैदेशिक नीति के उद्देश्यों और राष्ट्र-संघ के प्रति अपने दृष्टिकोण में सामान्यतः एकता की भावना प्रदर्शित की। उदाहरणार्थ, फ्रांस, इटली तथा ब्रिटेन ने जर्मनी के सम्बन्ध में अपने अनेक मतभेदों को दूर कर उन कदमों पर सहमति प्रकट की जो जर्मनी को राष्ट्र-संघ में शामिल करने के लिये उठाये गये। जर्मनी तथा उसके भूतपूर्व शत्रु-राज्यों के बीच यह पुनर्मेल (rapprochement) का काल था तथा इसी अवधि में ६४ राष्ट्रों ने १९२८ के पेरिस समझौता (Pact of Paris) या केलॉग-ब्रियाँ समझौता (Kellogg-Briand Pact) द्वारा "आपसी सम्बन्धों में राष्ट्रीय नीति के साधन" के रूप में युद्ध को त्यागने का वचन दिया था। और, अन्त में ;

(३) युद्ध के बाद गम्भीर कठिनाइयों यथा बेरोजगारी, परम्परागत व्यापार सम्बन्धों की अव्यवस्था आदि के होते हुए भी १९२४ के बाद की अवधि कम-से-कम बाहरी रूप से वर्धमान अर्थ-समृद्धि की अवधि थी। सारांश में, योरोप में १९२५ से १९२९ के बीच "सद्‌भावना" (good feeling) का युग रहा।[1]

राष्ट्र-संघ के दूसरे दस वर्षों (१९३०-१९४०) को असफलता का काल कहा जा सकता है। इस अवधि में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद यथा मंचूरिया संकट

1. Cheever and Haviland, *Organising for Peace : International Organization in World Affairs*, p. 400.

(१९३१), इटली-इथोपिया संकट (१९३४), चीन-जापान युद्ध (१९३७) तथा स्पेन का गृह-युद्ध (१९३६) राष्ट्र-संघ के सम्मुख उपस्थित हुए किन्तु वह इन समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से नहीं निबटा सका।

राष्ट्र-संघ का प्रमुख कार्य—और आगे भी उसका यही कार्य रहना था—विवादों का शान्तिपूर्ण समाधान निकालकर युद्ध को रोकना था किन्तु उसकी सर्वोच्च उन्नति के समय भी सभी राष्ट्र उसके क्षेत्राधिकार में नहीं आये थे। १९२६ में जब निकारगुआ (Nicaragua) की सरकार ने मेक्सिको के विरुद्ध जहाँ की सरकार पर यह आरोप था कि वह निकारगुआ के राजनीतिक शत्रुओं की सहायता कर रही थी, राष्ट्र-संघ से अपील की, तब अमरीका ने "अमरीकी और विदेशी जन-धन की रक्षा के लिये" ("for the protection of American and foreign lives and property") कुछ जहाज शीघ्र ही भेज दिये; और राष्ट्र-संघ ने यह सूचना स्वीकार कर ली कि मध्य-अमेरिका में शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना ऐसा मामला नहीं था जिसमें राष्ट्र-संघ को कोई रुचि दिखाने की आवश्यकता हो। ग्रेटब्रिटेन और मिस्र (जिसे १९२२ में ही स्वतंत्र राज्य मान लिया गया था) में विशिष्ट सम्बन्धों के कारण मिस्र राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं बन सका तथा इस कारण ग्रेटब्रिटेन और मिस्र के मतभेद अन्तर्राष्ट्रीय विवाद नहीं माने जा सकते थे। चीन में विदेशियों को विशेष अधिकार दिये जाने सम्बन्धी सन्धियों पर चीन और बड़े राष्ट्रों के विवादों को राष्ट्र-संघ के सामने प्रस्तुत किये जाने योग्य नहीं समझा गया किन्तु इन अपवादों के होते हुए भी, राष्ट्र-संघ का कार्यक्षेत्र दूरगामी था; और इस अवधि में विश्व के कई भागों से विवाद उसके सामने प्रस्तुत किये गये। उदाहरणार्थ, तीन ऐसे विवादों का यहाँ वर्णन किया जायेगा जिनमें युद्ध की सम्भावना थी :—

(१) मोसूल विवाद (Mosul dispute)

पहले विवाद का सम्बन्ध टर्की के साथ हुई शान्ति-सन्धि से था। इस सन्धि में यह व्यवस्था की गयी थी कि टर्की तथा प्रादेशाधीन राज्य ईराक के बीच के सीमान्त का निर्धारण, यदि इस मामले में ब्रिटिश और तुर्की सरकारों में समझौता न हो सके तो, राष्ट्र-संघ की परिषद् द्वारा किया जाय। १९२४ में परिषद् ने, जिसमें इस उद्देश्य के लिये टर्की के प्रतिनिधि भी शामिल किये गये थे, सीमान्त रेखा की सिफारिश करने के लिये एक तटस्थ सीमा-आयोग नियुक्त किया। विवादग्रस्त क्षेत्र मोसूल (Mosul) का विलायत (Vilayet) या जिला था जिसकी मिश्रित आबादी कुर्द, तुर्क और अरब थी तथा जो विराम-सन्धि के बाद से ब्रिटेन के अधिकार में ही था। जिस समय सीमा-आयोग अपने कार्य में व्यस्त था, उस समय टर्की के कुर्दों (Kurds) ने तुर्की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। विद्रोह ५ तुर्की क्रूरता के साथ दबा दिया गया। अनेक कुर्द भागकर मोसूल क्षेत्र में

और वर्तमान अस्थायी सीमान्त पर गम्भीर मुठभेड़ें हुईं। स्थिति इतनी भयंकर प्रतीत होने लगी कि राष्ट्र-संघ परिषद् ने १९२५ के प्रारम्भ में ही, एक दूसरा आयोग इन उत्पातों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने के लिये भेजा। आयोग का प्रतिवेदन तुर्की प्रशासन-रीति के अत्यधिक प्रतिकूल था; उससे परिषद् को एक ऐसा सीमान्त निश्चित करने में सहायता मिली जिसमें मोसुल के विलायत का लगभग सारा ही क्षेत्र प्रादेशाधीन क्षेत्र में सम्मिलित हो गया। कार्रवाई के अन्तिम दौर में टर्की ने परिषद् से अपने प्रतिनिधि को वापस बुलाकर परिषद् के निर्णय को अन्तिम मानने के अपने पूर्व आश्वासन को वापस ले लिया। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने, जिसके पास यह मामला भेजा गया था, यह मत प्रकट किया कि लौसाँ-सन्धि (Lausanne Treaty) के अनुसार, परिषद् के निर्णय को बन्धनकारी बनाने के लिये सम्बन्धित पक्षों के मत आवश्यक नहीं हैं। कुछ हिचकिचाहट के बाद, टर्की ने अन्य कोई उपाय न देखकर, नये सीमान्त को स्वीकार कर लिया, जिसकी पुष्टि जून १९२६ में ग्रेटब्रिटेन, टर्की और ईराक में हुई एक सन्धि के द्वारा हो गयी।

(२) यूनान और बल्गेरिया विवाद (Greco-Bulgarian dispute)

दूसरा विवाद बालकन देशों से सम्बन्धित था। युद्ध के बाद कई वर्षों तक यूनान और बल्गेरिया के सीमान्त पर, छोटे-छोटे हमले और उत्पात होते रहते थे जो कि मुख्यतः मेसिडोनियन लुटेरों का काम होता था। अक्टूबर १९२५ में, इनमें से एक घटना के परिणामस्वरूप एक यूनानी सीमान्त-चौकी के कमाण्डर तथा उसके एक सैनिक की हत्या हो गयी। प्रतिशोधस्वरूप, एक यूनानी सेना बल्गेरिया के क्षेत्र में घुस गयी। बल्गेरिया की सरकार ने प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन राष्ट्र-संघ से अपील की। परिषद् ने तुरन्त पेरिस में अपना अधिवेशन किया और यूनानी सरकार से अपनी सेना हटा लेने का अनुरोध किया। इसके साथ ही उसने ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इटालियन सरकारों से भी अपने अधिकारियों को घटना-स्थल पर यह देखने के लिये कि वहाँ क्या हो रहा था, भेजने का अनुरोध किया। इन कदमों ने यूनानी सरकार पर निरोधक प्रभाव डाला। यूनानी सेना बल्गेरिया की भूमि से हट गयी और यूनान को राष्ट्र-संघ आयोग द्वारा निश्चित किये गये पैमाने पर बल्गेरिया को उसकी भूमि के अतिक्रमण के लिये क्षतिपूर्ति की रकम चुकानी पड़ी।

(३) पोलैण्ड और लिथुआनिया विवाद (Polish-Lithuanian dispute)

लिथुआनी सरकार ने मित्र राष्ट्र-सरकारों के उस निर्णय को मानने से अस्वीकार कर दिया जिसके अनुसार विल्ना (Vilna) पोलैण्ड के ही अधिकार में रहने दिया गया था। मध्ययुग में विल्ना लिथुआनिया साम्राज्य की राजधानी रह चुका था।

लिथुआनिया ने पोलैण्ड की सरकार से अपने सम्बन्ध तोड़ लिये और दोनों देशों के बीच "युद्ध-स्थिति" (state of war) की घोषणा कर दी। १९२७ में लिथुआनिया के तानाशाह वोल्डेमरास (Voldemaras) ने विल्ना से कुछ लिथुआनियों के निष्कासन से अवसर पाकर प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन सारा मामला राष्ट्र-संघ के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। १० दिसम्बर को परिषद् की एक स्मरणीय बैठक हुई जिसमें लिथुआनिया और पोलैण्ड के तानाशाहों की भेंट हुई। इस भेंट के फलस्वरूप जो सम्मत प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह घोषणा थी कि "राष्ट्र-संघ के दो सदस्यों के बीच युद्ध-स्थिति प्रसंविदा की भाषा और भावना से असंगत है" ("a state of war between two members of the League was incompatible with the spirit and the letter of the Covenant"), फलस्वरूप लिथुआनिया ने पोलैण्ड के साथ युद्ध-स्थिति समाप्त कर दी। जो भी हो, लम्बे समय से चले आ रहे लिथुआनिया-पोलैण्ड के इस विवाद के जेनेवा में प्रकाश में आ जाने से, यदि दोनों देशों में पुनः मित्रता स्थापित नहीं हो सकी, तो कम-से-कम तनाव तो स्थायी रूप से कम हो ही गया। राष्ट्र-संघ के लिये यह महत्वपूर्ण सफलता थी।

राष्ट्र-संघ ने इन तीनों विवादों को जिस तरह निबटाया, उस पर कुछ सामान्य चर्चा करने की आवश्यकता है। मोसूल विवाद और पोलैण्ड-लिथुआनिया विवाद दोनों ही ऐसे राज्यों के बीच के विवाद थे जिनकी शक्ति बहुत ही असमान थी। दोनों ही मामले ऐसे थे जिनमें अधिक शक्तिशाली राज्य के पास न केवल विवाद-ग्रस्त क्षेत्र ही था, अपितु किसी तरह उस पर औपचारिक अधिकार भी उसी का था। इन दोनों ही मामलों में राष्ट्र-संघ ने कमजोर राज्य को आत्माभिमान खोये बिना असमर्थनीय स्थिति से बच निकलने में सहायता पहुँचायी। यूनान-बलगेरिया विवाद कमजोर और बराबरी के ऐसे राज्यों में था, जिनमें से किसी के भी परिषद् में कोई प्रभावशाली समर्थक नहीं थे। इन बातों के कारण यह विवाद विशिष्ट रूप में राष्ट्र-संघ की कार्यवाही के योग्य था। इससे परिषद् के लिये निष्पक्ष निर्णय करना और उसे दोनों ही पक्षों से स्वीकृत करा लेना सरल हो गया। इसके बाद युद्ध का खतरा उपस्थित करने वाले अन्य किसी विवाद के समय परिस्थितियों का ऐसा सौभाग्यपूर्ण संयोग कभी नहीं आया, अतः यह घटना ही युद्ध रोकने में राष्ट्र-संघ की सफलता का चरमबिन्दु रही।

(४) इसी प्रकार १९२० में राष्ट्र-संघ के सम्मुख फिनलैण्ड तथा स्वीडन के बीच आलैण्ड द्वीपों (Aaland Islands) पर स्वामित्व से सम्बन्धित विवाद लाया गया। ग्रेटब्रिटेन ने इस मामले को परिषद् के सामने प्रस्तुत किया। फिनलैण्ड ने विवाद को अपना घरेलू मामला बताया। विधिवेत्ताओं की एक समिति ने यह

और वर्तमान अस्थायी सीमान्त पर गम्भीर मुठभेड़ें हुई। स्थिति इतनी भयंकर प्रतीत होने लगी कि राष्ट्र-संघ परिषद् ने १९२५ के प्रारम्भ में ही, एक दूसरा आयोग इन उत्पातों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने के लिये भेजा। आयोग का प्रतिवेदन तुर्की प्रशासन-नीति के अत्यधिक प्रतिकूल था; उससे परिषद् को एक ऐसा सीमान्त निश्चित करने में सहायता मिली जिसमें मोसुल के विलायत का लगभग सारा ही क्षेत्र प्रादेशाधीन क्षेत्र में सम्मिलित हो गया। कार्यवाई के अन्तिम दौर में टर्की ने परिषद् से अपने प्रतिनिधि को वापस बुलाकर परिषद् के निर्णय को अन्तिम मानने के अपने पूर्व आश्वासन को वापस ले लिया। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने, जिसके पास यह मामला भेजा गया था, यह मत प्रकट किया कि लॉसाँ-सन्धि (Lausanne Treaty) के अनुसार, परिषद् के निर्णय को बन्धनकारी बनाने के लिये सम्बन्धित पक्षों के मत आवश्यक नहीं हैं। कुछ हिचकिचाहट के बाद, टर्की ने अन्य कोई उपाय न देखकर, नये सीमान्त को स्वीकार कर लिया, जिसकी पुष्टि जून १९२६ में ग्रेटब्रिटेन, टर्की और ईराक में हुई एक सन्धि के द्वारा हो गयी।

(२) यूनान और बल्गेरिया विवाद (Greco-Bulgarian dispute)

दूसरा विवाद बालकन देशों से सम्बन्धित था। युद्ध के बाद कई वर्षों तक यूनान और बल्गेरिया के सीमान्त पर, छोटे-छोटे हमले और उत्पात होते रहते थे जो कि मुख्यतः मेसिडोनियन लुटेरों का काम होता था। अक्टूबर १९२५ में, इनमें से एक घटना के परिणामस्वरूप एक यूनानी सीमान्त-चौकी के कमाण्डर तथा उसके एक सैनिक की हत्या हो गयी। प्रतिशोधस्वरूप, एक यूनानी सेना बल्गेरिया के क्षेत्र में घुस गयी। बल्गेरिया की सरकार ने प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन राष्ट्र-संघ से अपील की। परिषद् ने तुरन्त पेरिस में अपना अधिवेशन किया और यूनानी सरकार से अपनी सेना हटा लेने का अनुरोध किया। इसके साथ ही उसने ब्रिटिश, फ्रांसीसी और इटालियन सरकारों से भी अपने अधिकारियों को घटना-स्थल पर यह देखने के लिये कि वहाँ क्या हो रहा था, भेजने का अनुरोध किया। इन कदमों ने यूनानी सरकार पर निरोधक प्रभाव डाला। यूनानी सेना बल्गेरिया की भूमि से हट गयी और यूनान को राष्ट्र-संघ आयोग द्वारा निश्चित किये गये पैमाने पर बल्गेरिया को उसकी भूमि के अतिक्रमण के लिये क्षतिपूर्ति की रकम चुकानी पड़ी।

(३) पोलैण्ड और लिथुआनिया विवाद (Polish-Lithuanian dispute)

लिथुआनी सरकार ने मित्र राष्ट्र-सरकारों के उस निर्णय को मानने से अस्वीकार कर दिया जिसके अनुसार विलना (Vilna) पोलैण्ड के ही अधिकार में रहने दिया गया था। मध्ययुग में विलना लिथुआनिया साम्राज्य की राजधानी रह चुका था।

लिथुआनिया ने पोलैण्ड की सरकार से अपने सम्बन्ध तोड़ लिये और दोनों देशों के बीच "युद्ध-स्थिति" (state of war) की घोषणा कर दी। १९२७ में लिथुआनिया के तानाशाह वोल्डेमरास (Voldemaras) ने विलना से कुछ लिथुआनियों के निष्कासन से अवसर पाकर प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अधीन सारा मामला राष्ट्र-संघ के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। १० दिसम्बर को परिषद् की एक स्मरणीय बैठक हुई जिसमें लिथुआनिया और पोलैण्ड के तानाशाहों की भेंट हुई। इस भेंट के फलस्वरूप जो सम्मत प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसकी सबसे प्रमुख विशेषता यह घोषणा थी कि "राष्ट्र-संघ के दो सदस्यों के बीच युद्ध-स्थिति प्रसंविदा की भाषा और भावना से असंगत है" ("a state of war between two members of the League was incompatible with the spirit and the letter of the Covenant"), फलस्वरूप लिथुआनिया ने पोलैण्ड के साथ युद्ध-स्थिति समाप्त कर दी। जो भी हो, लम्बे समय से चले आ रहे लिथुआनिया-पोलैण्ड के इस विवाद के जेनेवा में प्रकाश में आ जाने से, यदि दोनो देशों में पुनः मित्रता स्थापित नहीं हो सकी, तो कम-से-कम तनाव तो स्थायी रूप से कम हो ही गया। राष्ट्र-संघ के लिये यह महत्वपूर्ण सफलता थी।

राष्ट्र-संघ ने इन तीनों विवादों को जिस तरह निबटाया, उस पर कुछ सामान्य चर्चा करने की आवश्यकता है। मोसूल विवाद और पोलैण्ड-लिथुआनिया विवाद दोनों ही ऐसे राज्यों के बीच के विवाद थे जिनकी शक्ति बहुत ही असमान थी। दोनों ही मामले ऐसे थे जिनमें अधिक शक्तिशाली राज्य के पास न केवल विवाद-ग्रस्त क्षेत्र ही था, अपितु किसी तरह उस पर औपचारिक अधिकार भी उसी का था। इन दोनों ही मामलों में राष्ट्र-संघ ने कमजोर राज्य को आत्माभिमान खोये बिना असमर्थनीय स्थिति से बच निकलने में सहायता पहुँचायी। यूनान-बलगेरिया विवाद कमजोर और बराबरी के ऐसे राज्यों में था, जिनमें से किसी के भी परिषद् में कोई प्रभावशाली समर्थक नहीं थे। इन बातों के कारण यह विवाद विशिष्ट रूप में राष्ट्र-संघ की कार्यवाही के योग्य था। इससे परिषद् के लिये निष्पक्ष निर्णय करना और उसे दोनों ही पक्षों से स्वीकृत करा लेना सरल हो गया। इसके बाद युद्ध का खतरा उपस्थित करने वाले अन्य किसी विवाद के समय परिस्थितियों का ऐसा सौभाग्यपूर्ण सयोग कभी नहीं आया, अतः यह घटना ही युद्ध रोकने में राष्ट्र-संघ की सफलता का चरमबिन्दु रही।

(४) इसी प्रकार १९२० में राष्ट्र-संघ के सम्मुख फिनलैण्ड तथा स्वीडन के बीच आलैण्ड द्वीपों (Aaland Islands) पर स्वामित्व से सम्बन्धित विवाद लाया गया। ग्रेटब्रिटेन ने इस मामले को परिषद् के सामने प्रस्तुत किया। फिनलैण्ड ने विवाद को अपना घरेलू मामला बताया। विधिवेत्ताओं की एक समिति ने यह

निर्णय किया कि विवाद फिनलैण्ड का एक आन्तरिक विषय नहीं था। अतः परिषद् ने एक जाँच-पड़ताल आयोग की नियुक्ति की, जिसकी रिपोर्ट के आधार पर द्वीपों को फिनलैण्ड के अधिकार-क्षेत्र में घोषित किया गया, किन्तु द्वीपों में बसी स्वीडिश जनता के हितों की रक्षा हेतु यह व्यवस्था की गयी कि उन्हें व्यापक स्वायत्तता मिलनी चाहिये।

(५) १९२१ से १९२४ तक अल्बानिया और यूनान तथा अल्बानिया और यूगोस्लाविया के बीच एक सीमा-विवाद चलता रहा। इसे हल करने में परिषद् को राजदूत-सम्मेलन (Ambassadors' Conference) से सहायता मिली।

(६) १९२२ में ट्यूनिश-मोरक्को में राष्ट्रीयता आज्ञप्तियों (Nationality Decrees) के सम्बन्ध में फ्रांस और ब्रिटेन के मध्य एक विवाद उत्पन्न हो गया। फ्रांस ने जब राष्ट्रीयता आज्ञप्तियों को ट्यूनिश-मोरक्को के ब्रिटिश नागरिकों पर लागू करना चाहा तो ब्रिटेन ने उन पर आपत्ति की और पंच-निर्णय का सुझाव रखा जिसे फ्रांस ने अस्वीकार कर दिया। विवश होकर ब्रिटेन ने इस मामले को परिषद् में उठाया। फ्रांस ने इसे अपना घरेलू मामला बताकर परिषद् में इसके उठाये जाने का विरोध किया। किन्तु जब स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय बताया तो विवाद को दोनों पक्षों ने परस्पर बातचीत द्वारा तय कर लिया।

राष्ट्र-संघ की इन सभी सफलताओं के बारे में, जैसा कि प्रो० ई० एच० कार (E. H. Carr) ने अपना मत प्रकट किया है, अधिक ध्यान देने योग्य बात यह थी कि ये सफलतायें समझौते का मार्ग अपनाते हुए प्राप्त की गयी थीं। इन सभी मामलों में यह स्पष्ट हो चुका था कि परिषद् केवल मनाने-समझाने की रीति (method of persuasion) ही काम में ला सकती थी। अपनी सर्वाधिक प्रतिष्ठा एवं शक्ति की इस अवधि में, राष्ट्र-संघ का एकमात्र आधार उसका नैतिक अधिकार था; क्योंकि अनुच्छेद ११ के अधीन उसे अन्य कोई शक्तियाँ प्राप्त नहीं थीं। १९३२ से पहले अनुच्छेद १५ और १६ में उपबन्धित निर्णय (Judgment) और दण्डशक्ति (penalty) की प्रक्रिया का आश्रय लेने का कोई प्रयत्न ही नहीं किया गया।[1]

राष्ट्र-संघ के अन्य कार्यकलाप

(Other Activities of the League)

यद्यपि शान्ति बनाये रखना ही राष्ट्र-संघ का सबसे महत्वपूर्ण तथा स्पष्ट कार्य था तथापि उसके नित्य के सामान्य कार्यों की, जिनमें से अनेक अन्तर्राष्ट्रीय जीवन

1. E. H. Carr, *International Relations Between the Two World Wars*, p. 108.

का मान्य अंग बन गयी, कुछ चर्चा किये बिना १९१९ से बाद के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का कोई भी इतिहास अपूर्ण ही रहेगा।

राष्ट्र-संघ को समय-समय पर अन्य राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते थे। उसने अपने शासी आयोग (Governing Commission) के जरिये १९२० से १९३५ तक सार प्रदेश पर सफलतापूर्वक प्रशासन किया और जनवरी १९३५ में वहाँ जनमत-संग्रह लिया जिसके आधार पर सार का प्रशासन राष्ट्र-संघ ने जर्मनी को सौंप कर अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पायी। अन्य कोई प्रदेश राष्ट्र-संघ के सीधे प्रशासन में नहीं रखा गया था। किन्तु राष्ट्र-संघ ने स्वतंत्र नगर डानजिग (Free City of Danzing) के संविधान की गारण्टी दी थी और वहाँ उसका एक उच्च आयुक्त (High Commissioner) रहता था जिसका काम इस स्वतंत्र नगर और पोलैण्ड के विवादों में पंच के रूप में निर्णय देना था। उच्च आयुक्त के निर्णयों के विरुद्ध परिषद् में अपील करने का अधिकार दोनों ही पक्षों को था। १९३४ से पहले जबकि जर्मनी और पोलैण्ड के बीच समझौते से स्थिति बदल गयी, पोलैण्ड और डानजिग के बीच के जितने विवाद परिषद् के समक्ष आते थे, उतने और कोई प्रश्न नहीं आते थे। इन विवादों को निबटाने में राष्ट्र-संघ ने अत्यधिक कार्य-कुशलता प्राप्त कर ली थी।

अल्पसंख्यकों-सम्बन्धी सन्धियों को कार्यान्वित करने के लिये एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया अपनायी गयी थी। अल्पसंख्यकों की ओर से आवेदन तथा जिस सरकार के विरुद्ध शिकायत की गयी हो उसका उत्तर परिषद् के "तीन सदस्यों की एक समिति" के समक्ष प्रस्तुत किये जाते थे। समिति सम्बन्धित सरकार से इन मामलों की चर्चा करती थी (किन्तु अल्पसंख्यकों से नहीं जिन्हें सुनवाई का अधिकार नहीं था) और सामान्यतः या तो सम्बन्धित सरकार को दोषमुक्त कर या उससे शिकायत दूर करने का वचन लेकर निबटारा करती थी। यदि समिति सन्तोषजनक आश्वासन प्राप्त नहीं कर पाती थी तो मामला परिषद् में भेज दिया जाता था जिसमें प्रतिवादी सरकार को भी नियमानुसार प्रतिनिधित्व दिया जाता था।

आर्थिक क्षेत्र में, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिये राष्ट्रसंघ ने एक नया और विशाल संगठन प्रस्तुत किया। विभिन्न देशों के विशेषज्ञों की वित्त और अर्थ (financial and economic) समितियों की बैठकें प्रतिवर्ष जेनेवा में होती थीं। वित्तीय समिति विभिन्न राष्ट्र-संघ ऋणों को जारी करने और उनकी देखरेख के लिये उत्तरदायी थी। १९२० में ब्रुसेल्स में एक सामान्य वित्त सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य युद्धोत्तर वित्तीय पुनर्निर्माण पर विचार करना था। इसी प्रकार,

शुल्क-दरों (*tariffs*) में कमी करने तथा अन्य व्यापारिक बाधाओं को दूर करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये जेनेवा में १९२७ में एक आर्थिक सम्मेलन भी हुआ था।

राष्ट्र-संघ का सामाजिक तथा मानवतावादी कार्य कुछ अंश तक युद्ध से पूर्व उन यदा-कदा और यत्र-तत्र होनेवाले असम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय क्रियाकलापों में समन्वय स्थापित करना था और कुछ अंश तक नयी दिशाओं में कार्य करना था। इन सभी कार्यों में सबसे पुराना कार्य दासता के विरुद्ध अभियान था। १९२५ में जेनेवा में एक दासता-उपसन्धि (Slavery Convention) हुई। १९३२ में राष्ट्र-संघ ने एक स्थायी दासता-आयोग (Permanent Slavery Commission) स्थापित करने का निश्चय किया। राष्ट्र-संघ के अन्य संगठनों के कार्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर औषधियों के व्यापार, एवं स्त्री-व्यापार (traffic in women) की रोकथाम, शिशु-संरक्षण तथा शरणार्थियों को सहायता देने और उन्हें बसाने, एवं स्वास्थ्य तथा बीमारियों से सम्बन्धित थे।



९

राष्ट्रसंघ तथा सामूहिक सुरक्षा

(The League and Collective Security)

सामूहिक सुरक्षा का अर्थ एवं परिभाषा

'सुरक्षा' शब्द एक साध्य की ओर संकेत करता है, जबकि 'सामूहिक' शब्द उस साधन का बोध कराता है जिसे साध्य की प्राप्ति के लिये प्रयोग किया जाता है। शब्दों की इस व्याख्या से स्वाभाविक अर्थ यह निकलता है कि चूँकि साधन सामूहिक है, अतः साध्य भी सामूहिक होगा। 'सामूहिक सुरक्षा' (Collective Security) शब्द के अनेक अर्थ निकलते हैं, किन्तु उनके मूल में यह बात है कि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न राष्ट्र सामूहिक रूप से सगठित होकर किसी सम्भावित आक्रमण का विरोध करने के लिये कृतसंकल्प हो जाते हैं।

'सामूहिक सुरक्षा' की परिभाषा करते हुए प्रो० स्वार्जेनबर्गर (Schwarzenberger) ने कहा है कि सामूहिक सुरक्षा "संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के विरुद्ध किसी आक्रमण को रोकने अथवा सामना करने के लिये संयुक्त कार्रवाई की मशीनरी" है ("machinery for joint action in order to prevent or counter any attack against an established international order.") ।[1] प्रो० इनिस एल० क्लाउड (Inis L. Claude) के अनुसार, सामूहिक सुरक्षा एक परिकल्पित व्यवस्था है जो शक्ति-संतुलन तथा विश्व सरकार के बीच अन्तर्वर्ती है (a hypothetical system that is intermediate between balance of power and world government) ।[2] इस प्रकार की व्यवस्था सदस्यता की दृष्टि से प्रायः सार्वभौमिक होती है तथा सदस्य-राज्य आक्रमण की स्थिति में एक दूसरे की रक्षा करने के निमित्त बाध्य रहते हैं। इस व्यवस्था का मूल सिद्धान्त यह है कि जहाँ किसी एक राज्य पर आक्रमण सभी राज्यों पर आक्रमण माना जाता है, वहाँ एक दूसरे की रक्षा करने के हेतु प्रत्येक राज्य कृतसंकल्प होता है।

सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था में सुरक्षा की समस्या अकेले किसी एक राष्ट्र की समस्या नहीं होती, अपितु उन सभी राष्ट्रों की समस्या होती है जो इस व्यवस्था के के अन्तर्गत आपस में बँधे होते हैं। यदि 'A' 'B' की सुरक्षा को संकट में डालता है अथवा 'B' पर आक्रमण करता है तो C, D, E, F, G, H, I, J तथा

1. Georg Schwarzenberger, *Power Politics*, p. 494.
2. Inis L. Claude, *Power and International Relations*, Chapters 4 and 5.

K 'B' की ओर से तथा 'A' के विरुद्ध कदम उठायेंगे अथवा 'A' के आक्रमण का मुकाबला करेंगे, मानो 'A' ने 'B' की सुरक्षा के साथ ही उनकी सुरक्षा को भी संकट में डाल दिया हो। प्रो० हन्स जे० मारगेनथाउ के अनुसार, 'एक सबके लिये तथा सब एक के लिये' सामूहिक सुरक्षा का नारा है (One for all and all for one is the watchword of collective security.)।[1]

सामूहिक सुरक्षा की मान्यतायें

युद्ध को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना करने के एक प्रभावकारी साधन के रूप में सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त निम्नलिखित तीन मान्यताओं पर आधारित है :

(१) सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था प्रत्येक अवसर पर जबरदस्त शक्ति-सञ्चय करने की स्थिति में हो ताकि आक्रामक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों को आक्रमण करने का साहस न हो सके,

(२) उन राष्ट्रों की सुरक्षा सम्बन्धी धारणाओं, मान्यताओं तथा नीतियों में समरूपता होनी चाहिए जिन्हें सामूहिक रूप से आक्रमण का मुकाबला करना हो, तथा

(३) ऐसे सभी राष्ट्रों को अपनी परस्पर-विरोधी राजनीतिक हितों को सामूहिक सुरक्षा-कार्रवाई के हितों के लिये उत्सर्ग करने को तत्पर रहना चाहिये।

अन्त में, प्रो० फ्रीडमैन (Friedmann) के शब्दों में कहा जा सकता है कि सामूहिक सुरक्षा की सफल व्यवस्था के लिये राष्ट्रीय स्वतंत्रता या राष्ट्रीय वैयक्तिकता का पूर्ण परित्याग अनिवार्य नहीं है, किन्तु उसके लिये आवश्यक है कि राष्ट्र अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं का सामूहिक निर्णयों के समक्ष आत्मसमर्पण कर दें। सामूहिक सुरक्षा के प्रभावशाली होने के लिये यह अपेक्षित है कि सैनिक शक्तियों तथा घातक शस्त्रों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण लगाया जाय, जो निश्चित रूप से उस समय तक सम्भव नहीं है जब तक कि राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर कठोर प्रतिबन्ध न हो।

राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था

राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा की स्थापना करना एवं अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से सुलझाना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये राष्ट्रसंघ प्रसंविदा में अनेक प्रावधान थे किन्तु उनमें सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित प्रावधान प्रमुख थे। प्रसंविदा के अनुच्छेद १० में प्रावधान था कि, "राष्ट्रसंघ के सदस्य संघ के सभी सदस्यों की प्रादेशिक अखण्डता तथा वर्तमान राजनीतिक स्वतंत्रता का सम्मान करने तथा बाह्य आक्रमण से उनकी

1. Hans J. Morgenthau, *Politics Among Nations*, p. 398.

रक्षा करने का वचन देते हैं। ऐसे किसी आक्रमण के समय या ऐसे किसी आक्रमण की धमकी या खतरे के समय परिषद् यह परामर्श देगी कि किन उपायों द्वारा यह कर्तव्य पूरा किया जा सकता है" ("The Members of the League undertake to respect and preserve as against external aggression the territorial integrity and existing political independence of all Members of the League. In case of any such aggression or in case of any threat or danger of such aggression the Council shall advise upon the means by which this obligation shall be fulfilled.")। इस सम्बन्ध में प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ का उल्लेख कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है जिसमें कहा गया था कि, "कोई भी युद्ध अथवा युद्ध की धमकी, चाहे उसका प्रभाव राष्ट्रसंघ के किसी भी सदस्य पर तत्काल पड़ता हो अथवा न पड़ता हो, इसके द्वारा सारे राष्ट्रसंघ की चिन्ता के विषय घोषित किये जाते हैं और राष्ट्रसंघ ऐसी कोई भी कार्यवाई कर सकेगा जो राष्ट्रों की शान्ति बनाये रखने के लिये उचित और प्रभावपूर्ण समझी जाय"। यदि राष्ट्रसंघ की गतिविधियों का अवलोकन किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि सामूहिक सुरक्षा के विकास तथा उसे लागू करने के एक साधन के रूप में राष्ट्रसंघ अत्यधिक बाधाग्रस्त था तथा वस्तुतः प्रारम्भ से ही शक्तिहीन था।

सामूहिक सुरक्षा की विफलता के कारण

प्रसविदा के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा की विफलता के कारणों में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण थे :

(१) संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका तथा सोवियत संघ (रूस) राष्ट्रसंघ के बाहर ही रहा (सोवियत संघ को १९३४ में राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो सकी)। ग्रेटब्रिटेन ने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के पालन में उपेक्षा दिखाई तथा बाद में जापान, इटली एवं जर्मनी ने खुलकर तथा निःसंकोच प्रसविदा के नियमों का उल्लंघन किया। इन सब बातों ने मिलकर उन आशाओं को धूमिल कर दिया कि राष्ट्रसंघ अन्तर्राष्ट्रीय संकटों को सुलझाने में प्रभावकारी होगा।

(२) सदस्यता की दृष्टि से भी राष्ट्रसंघ पर्याप्त रूप से व्यापक नहीं था, क्योंकि सभी प्रमुख राज्य इसमें शामिल नहीं थे और जिन्होंने इसकी सदस्यता स्वीकार की थी, वे सामूहिक सुरक्षा के प्रबल समर्थक नहीं थे। वे अपने राष्ट्र की सुरक्षा के लिये चिन्तित थे, न कि सामूहिक सुरक्षा के लिये। उदाहरण के लिये, फ्रांस एक वास्तविक तथा सार्वभौमिक सुरक्षा पद्धति की अपेक्षा जर्मनी के विरुद्ध

सुरक्षा चाहता था तथा सोवियत संघ मुख्यतः फासीवाद के बढ़ते संकट के विरुद्ध सुरक्षा के लिये चिन्तित था।

(३) राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य प्रसंविदा के अनुच्छेद १६ के अन्तर्गत आवश्यकता होने पर सामूहिक सुरक्षा के लिये कदम उठाने को वचनबद्ध थे। किन्तु इस अनुच्छेद को यथार्थ में कभी कार्यान्वित नहीं किया गया। राष्ट्रसंघ के अनेक सदस्य-राज्य प्रारम्भ से ही सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त के विषय में भ्रान्तियाँ रखते थे। यद्यपि समय-समय पर सामूहिक सुरक्षा के अन्तर्गत सदस्य-राज्यों के दायित्वों की व्याख्या करते हुए प्रस्ताव पारित किये गये, तथापि उनमें से अनेक प्रस्ताव सीमाकारी तथा प्रतिबन्धक स्वभाव के थे।

(४) अपने प्रारम्भिक वर्षों में राष्ट्रसंघ ने कुछ विवादों को सुलझाने में उत्कृष्ट सफलता अर्जित की, किन्तु जब-जब किसी महाशक्ति ने खुलकर प्रसंविदा के नियमों की अवज्ञा की, तब राष्ट्रसंघ की सुरक्षा व्यवस्था उस परीक्षण में निष्फल ही रही।

सामूहिक सुरक्षा की विफलता में प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय संकट

(१) मंचूरिया का संकट तथा चीन-जापान युद्ध (१९३१-१९३७)— १९३१ में राष्ट्रसंघ के समक्ष एक भीषण संकट–मंचूरिया का संकट–उपस्थित हुआ। जापान द्वारा मंचूरिया-विजय प्रथम विश्व-युद्ध के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक भूमिचिन्हों में से एक थी। यह एक ऐसा विवाद था जिसमें सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त का वास्तविक परीक्षण होनेवाला था। १८ सितम्बर, १९३१ को जापान ने मुकडेन (मंचूरिया) पर आक्रमण करके उसे अपने अधिकार में ले लिया। यद्यपि चीन ने प्रसंविदा के अनुच्छेद ११ के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से जापान के आक्रमण के विरुद्ध सहायता की याचना की, तथापि वह (राष्ट्रसंघ) सुदूर पूर्वीय राजनीति में अनर्थकारी रूप से उलझ कर रह गया। राष्ट्रसंघ परिषद् ने २४ अक्टूबर को यह प्रस्ताव पारित किया कि जापान मंचूरिया से अपनी सेनायें वापस बुला ले, परन्तु इस प्रस्ताव का कोई ठोस तथा व्यावहारिक परिणाम नहीं निकला; क्योंकि जापान ने इसका विरोध किया। पेरिस समझौते के अनुसार युद्ध का आश्रय लेना निषिद्ध था तथा वाशिंगटन में की गयी नौ-राष्ट्रों की सन्धि के हस्ताक्षरकर्ता चीन की स्वतंत्रता और अखण्डता का सम्मान करने के लिये वचनबद्ध थे। यही कारण था कि जापान ने दृढ़तापूर्वक अनुरोध किया कि मंचूरिया में उसकी कार्रवाई को युद्ध न मानकर "पुलिस कार्रवाई" (police operations) माना जाना चाहिये और कहा कि चीनी क्षेत्र को अपने राज्य में मिलाने का उसका कोई विचार नहीं था।

दिसम्बर, १९३१ को जापान के पहल पर राष्ट्रसंघ परिषद् ने प्रत्यक्ष जाँच-पड़ताल करने के लिये लार्ड लिटन की अध्यक्षता में एक पाँच-सदस्यीय जाँच-

आयोग सुदूर-पूर्व भेजा। इस आयोग में ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जर्मनी तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि शामिल थे। बाद में १९३२ में जापान ने शंघाई पर अपना अधिकार कर लिया और चीन ने पुनः राष्ट्रसंघ से सहायता की याचना की। ४ मार्च, १९३२ को राष्ट्रसंघ सभा ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें जापान को शीघ्र ही शंघाई खाली करने को कहा गया था। इसी बीच १९३२ में जापान ने मंचूरिया के मंचूकुओ (Manchukuo) स्थान पर एक कठपुतली सरकार की स्थापना कर दी। राष्ट्रसंघ द्वारा सुदूर-पूर्व में भेजे गये 'लिटन आयोग' (Lord Lytton Commission) ने मंचूरिया पर जापान का दावा अस्वीकार कर दिया। राष्ट्रसंघ ने जापान के कार्यों की निन्दा करते हुए उसे आक्रामक घोषित किया। इसके पश्चात् जापान ने मार्च, १९३३ को राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग होने की घोषणा कर दी। इस घटना ने राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा पद्धति की दुर्बलता को स्पष्ट कर दिया। राष्ट्रसंघ जापान के आक्रमण से चीन की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहा।

(२) इथोपिया का संकट (१९३५-१९३६)—राष्ट्रसंघ के इतिहास में सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की सबसे कठोर परीक्षा इथोपिया के संकट के समय हुई। जब इटली की सेनाओं ने इस स्वतंत्र अफ्रीकी राज्य पर आक्रमण कर दिया तो यह मामला शीघ्र ही राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत किया गया और जब इटली ने अपनी आक्रामक कार्यवाइयों को बन्द करने से अस्वीकार कर दिया, तो इटली के विरोधों के होते हुए भी, राष्ट्रसंघ परिषद् ने इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों को लागू करने का निर्णय लिया। इस प्रकार इटली-इथोपिया युद्ध राष्ट्रसंघ की सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिये सबसे बड़ी कसौटी था। जैसा कि समस्त विश्व जानता है, राष्ट्रसंघ इस संकटकालीन परीक्षा में भी असफल रहा। यद्यपि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों ने इटली के विरुद्ध अनुशास्तियों को लागू करने का समर्थन किया, तथापि उन्होंने व्यवहार में ऐसी कोई कार्यवाई नहीं की। इटली के विरुद्ध तेल-अनुशास्तियों को कभी लागू नहीं किया गया तथा स्वेज नहर इटली के जहाजों के लिये खुला रहा। इटली के तानाशाह मुसोलिनी ने इथोपिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया तथा इस प्रकार सुरक्षा के एक साधन के रूप में राष्ट्रसंघ की दुर्बलता स्पष्टतया प्रकट हो गई थी।

इथोपिया के सम्राट् हेले सिलासी (Haile Selassie) ने राष्ट्रसंघ सभा के समक्ष उपस्थित होते हुए प्रतिनिधियों को याद दिलाया कि इटली के आमानुषिक तथा बर्बर आक्रमण से न केवल उनके देश की स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी थी, अपितु उसने विश्वशान्ति की आशाओं पर भी कठोर प्रहार किया था। सम्राट् हेले सिलासी ने सभा को चेतावनी दी कि जब तक साम्राज्यवादी शक्तियों का विश्व पर

प्रभुत्व पर बना रहेगा, अथवा जब तक शान्तिप्रेमी राष्ट्र संगठित होकर भविष्य में आक्रमणों का विरोध नहीं करेंगे (चाहे उसके लिये उन्हें युद्ध ही क्यों न करना पड़े), तब तक इथोपिया के संकट के समान ही विश्व के अन्य भागों में संकट उत्पन्न होते रहेंगे।

(३) अन्य घटनायें—हेले सिलासी की निराशाजनक भविष्यवाणियाँ पूर्णतया सत्य सिद्ध हुईं। इथोपिया पर इटली के आधिपत्य के शीघ्र बाद ही नात्सी जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया पर विजय प्राप्त कर ली गयी। म्यूनिख में हिटलर को आत्मसमर्पण, उसके बाद चेकोस्लोवाकिया का विनाश आदि घटनायें इस बात का प्रतिबिम्ब थीं कि राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा के एक साधन के रूप में नितान्त निष्क्रिय रहा। मार्च, १९३९ को चेकोस्लोवाकिया पर नात्सी जर्मनी के अधिकार के बाद, स्टालिन (Stalin) ने कटु शब्दों में कहा था कि, "अनाक्रामक राज्यों, मुख्यतः इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने······सामूहिक सुरक्षा की नीति, आक्रामकों के विरुद्ध सामूहिक विरोध की नीति का परित्याग कर दिया है, तथा अहस्तक्षेप, 'तटस्थता' की स्थिति को अपना लिया है" ("The non-aggressive states, primarily England, France and the United States·········have rejected the policy of collective security, the policy of collective resistance to the aggressors, and have taken up a position of non-intervention, a position of 'neutrality'.")।[1] स्टालिन ने चेतावनी दिया कि "अहस्तक्षेप की नीति का अभिप्राय आक्रमण को मौन सहमति देना है, युद्ध को स्वच्छन्द बागडोर देना है, तथा फलस्वरूप युद्ध को विश्व-युद्ध में बदल देना है।" स्टालिन की इस चेतावनी के ठीक छः माह के अन्दर ही सामूहिक सुरक्षा की नीति का परित्याग करने के कारण विश्व को द्वितीय विश्व-युद्ध का सामना करना पड़ा। इस प्रकार राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा मशीनरी पूर्णतः असफल रही।

1. Quoted in Palmer and Perkins, *International Relations*, p. 248.

१०

राष्ट्र-संघ की दुर्बलतायें अथवा कमजोरियाँ

(Weaknesses or Shortcomings of the League)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ख्यातिलब्ध विद्वान प्रो० हन्स जे० मारगेनथाउ ने अपनी पुस्तक 'राष्ट्रों के मध्य राजनीति' (Politics among Nations) में राष्ट्रसंघ की तीन दुर्बलताओं अथवा कमजोरियों का वर्णन किया है। ये निम्नलिखित हैं :

(१) सांविधानिक (Constitutional),

(२) सरचनात्मक (Structural), तथा

(३) राजनीतिक (Political)।

(१) सांविधानिक दुर्बलता

राष्ट्रसंघ की सांविधानिक दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए प्रो० मारगेनथाउ ने कहा है कि राष्ट्रसंघ प्रसविदा के अन्तर्गत युद्ध को पूर्णतया अवैध घोषित नहीं किया गया था। राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य कुछ परिस्थितियों के अधीन युद्ध का आश्रय नहीं ले सकते थे किन्तु उन्हीं परिस्थितियों के अभाव में सदस्य-राज्यों को युद्ध करने की अनुमति दी गई थी। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रसविदा में युद्ध को 'चिन्ता का विषय' (अनुच्छेद ११) तो घोषित किया गया था, परन्तु उसे गैरकानूनी नहीं माना गया था। प्रसविदा की प्रस्तावना में ही सदस्य-राज्यों पर युद्ध न करने का प्रतिबन्ध लगाया गया था।

अनुच्छेद १२ के अनुसार सदस्य-राज्य इस बात पर सहमत थे कि वे पंचों के फैसले या न्यायिक निर्णय या परिषद् के प्रतिवेदन के तीन महीने बाद तक युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे। अनुच्छेद १३ के खण्ड ४ के अनुसार सदस्य-राज्यों ने इस बात को स्वीकार किया था कि वे राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य-राज्य के विरुद्ध युद्ध का आश्रय नहीं लेंगे, जो विवाद के न्यायिक निर्णय से सहमत हो। अन्त में, अनुच्छेद १५ के खण्ड ६ के अनुसार सदस्य-राज्य इस बात पर भी सहमत थे कि यदि किसी विवाद से सम्बन्धित परिषद् के प्रतिवेदन को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाता है, तो वे (सदस्य-राज्य) उस विवाद से सम्बन्धित पक्ष, जिसने परिषद् के प्रतिवेदन में की गई सिफारिशों के अनुपालन का वचन दिया हो, के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे। इन समस्त सशर्त उपबन्धों से यह अर्थ निकलता था कि यदि ऐसी परिस्थितियाँ उपलब्ध न हों, तो युद्ध किया जा सकता था। जैसा कि जीन रे (Jean Ray) ने कहा

है कि प्रसंविदा के निर्माताओं की दृष्टि में अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के लिये युद्ध ही एक सामान्य हल था।[1]

प्रो० मारगेनथाउ का विचार है कि यदि राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों ने प्रसंविदा के प्रावधानों को पूर्ण रूप से कार्यान्वित भी किया होता, तो उन्हें कुछ युद्धों को रोकने की व्यवस्था करनी पड़ती और कुछ युद्धों को वैध बतलाना पड़ता। इस प्रकार कुछ आलोचकों जैसे प्रो० मारगेनथाउ के अनुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राष्ट्रसंघ में एक गम्भीर सांविधानिक दुर्बलता यह थी कि वह राज्यों को कुछ परिस्थितियों के अधीन युद्ध का आश्रय लेने की अनुमति देता था।

(२) संरचनात्मक दुर्बलता

राष्ट्र-संघ की संरचनात्मक दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए प्रो० मारगेनथाउ ने कहा है कि राष्ट्रसंघ की संरचना उस समय प्रधानतः यूरोपीय थी, जब कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के मुख्य तत्त्व प्रधानतः यूरोपीय नहीं थे। फ्रांस तथा ग्रेटब्रिटेन, जिनका राष्ट्रसंघ पर प्रभुत्व था, यूरोपीय शक्तियाँ थीं। गैरयूरोपीय महाशक्ति के रूप में एकमात्र जापान राष्ट्रसंघ का सदस्य था। विश्व के दो सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका तथा सोवियत संघ १९३४ से १९३९ तक ही राष्ट्रसंघ का सदस्य बना रहा।

यह निस्सन्देह सत्य है कि ३१ प्रारम्भिक सदस्यों में से केवल १० यूरोपीय थे और १३ राष्ट्रों में से, जिन्होंने बाद में राष्ट्रसंघ की सदस्यता ग्रहण की, केवल ७ यूरोपीय थे। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जिसका प्रमुख उद्देश्य विश्वशान्ति और व्यवस्था को बनाये रखना है, को सार्वभौमिक इस अर्थ में नहीं होना है कि विश्व के सभी राष्ट्र इसके सदस्य हैं। इसे सार्वभौमिक इस अर्थ में होना है कि वे शक्तिशाली राष्ट्र, जिनसे विश्वशान्ति के भंग होने की आशंका हो, इसके क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते हों।

प्रसंविदा के अनुच्छेद १७ ने राष्ट्रसंघ के क्षेत्राधिकार को सार्वभौमिक या विश्वव्यापी बनाने का प्रयास किया, चाहे सभी राष्ट्र इसके सदस्य हों या न हों। इस अनुच्छेद में कहा गया था कि, यदि राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य और किसी

1. As Mr. Jean Ray put it, "We are convinced that this timidity of the authors of the Covenant has serious consequences and puts in jeopardy the new system which they tried to erect. As a matter of fact, since the contrary opinion was not clearly expressed, it remained tacitly admitted that war is a solution, the normal solution of international conflicts. These obligations, as a matter of law, are presented only as exceptions; the implicit rule is the › to war."

राज्य अथवा किन्ही राज्यों के बीच विवाद हो, जो कि राष्ट्रसंघ का सदस्य न हो अथवा राष्ट्रसंघ के सदस्य न हों, तो ऐसे राज्य अथवा राज्यों को विवाद के प्रयोजनों के लिये राष्ट्रसंघ की सदस्यता के कर्तव्यों को ऐसी शर्तों पर स्वीकार करने के लिये आमंत्रित किया जा सकता है, जैसा कि परिषद् न्यायोचित समझे। यदि इस प्रकार का आमंत्रित राज्य सदस्यता के कर्तव्यों को मानने से अस्वीकार कर देता है और राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य-राज्य के विरुद्ध युद्ध का आश्रय लेता है तो अनुच्छेद १६ में उल्लिखित अनुशास्तियाँ ऐसे राज्य के विरुद्ध लागू होंगी।' इसमें आगे यह भी कहा गया था कि 'यदि विवाद से सम्बन्धित दोनों पक्ष (चाहे उनमें से एक अथवा दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य न हों) सदस्यता के कर्तव्यों को मानने से अस्वीकार कर देते हैं, तो परिषद् ऐसे कदम उठा सकती है तथा ऐसी सिफारिशें कर सकती है जो युद्ध को रोक सके तथा विवाद को सुलझाने में सहायक हो।'

विश्वशान्ति की स्थापना की दृष्टि से अनुच्छेद १७ ने राष्ट्रसंघ को एक विश्व सरकार का रूप देने का प्रयास किया। राष्ट्रसंघ को अवश्य ही छोटे राज्यों को नियंत्रित करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। हम यह कल्पना कर लें कि १९१९-१९३४ के बीच संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ, जब कि ये दोनों ही राष्ट्र इस अवधि के समय राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं, के बीच एक विवाद उत्पन्न हो गया है। ऐसी स्थिति में यदि राष्ट्रसंघ संयुक्त राज्य अमेरिका अथवा सोवियत संघ अथवा दोनों पर अपनी इच्छा को थोपने का प्रयास करता तो उसका तात्पर्य विश्व-युद्ध को आमंत्रित करना होता। अन्त में, प्रो० मारगेनथाउ के शब्दों में कहा जा सकता है कि कुछ बड़े राज्यों की सदस्यता तथा दूसरे बड़े राज्यों की गैरसदस्यता ने राष्ट्रसंघ को विश्वव्यापी पैमाने पर शान्ति-स्थापना की दिशा में शक्तिहीन बना दिया।

(३) राजनीतिक दुर्बलता

राष्ट्रसंघ प्रसंविदा पर हस्ताक्षर करते समय सदस्य-राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने के लिये अनेक बन्धन और दायित्व स्वीकार किये थे, परन्तु जब उनके पालन करने का समय आया, तब उन्होंने प्रसंविदा के नियमों के भंग करने वाले राज्य को रोकने की न तो इच्छा दिखाई और न योग्यता एवं साहस। राष्ट्रसंघ सदस्य-राज्यों और विशेषकर बड़े राज्यों के आपसी मतभेदों के कारण शक्तिहीन और निष्क्रिय होता गया। राष्ट्रसंघ के शक्तिशाली सदस्य-राज्यों ने सदैव अपने राष्ट्रीय हितों को राष्ट्रसंघ की न्यायभावना से उच्चतर स्थान दिया। सच तो यह है कि प्रत्येक राज्य राष्ट्रसंघ को अपने हित में प्रयोग करना चाहता था। उदाहरण के लिये, फ्रांस राष्ट्रसंघ को केवल अपनी सुरक्षा और जर्मनी के विरुद्ध प्राप्त करने का एक माध्यम बनाना चाहता था, न कि विश्वशान्ति की.

करने वाला एक संगठन। जापान की राष्ट्रसंघ के प्रति कभी निष्ठा नहीं रही। १९३१ में मंचूरिया पर आक्रमण करके तथा राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग करके जापान ने इस संगठन की स्पष्ट अवहेलना की थी। सोवियत संघ एक साम्यवादी देश होने के कारण पश्चिमी राष्ट्रों के लिए एक भयंकर चुनौती बन गया था। सोवियत संघ के लिए राष्ट्रसंघ केवल विजेता राष्ट्रों का ही एक संगठन था, तथापि १९३४ में राष्ट्रसंघ का सदस्य हो जाने पर भी सोवियत संघ में राष्ट्रसंघ के प्रति निष्ठा और विश्वास नहीं था। वास्तव में राष्ट्रसंघ की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि इसके सदस्य-राज्य निष्ठापूर्वक एकमत होकर कभी कार्य नहीं कर सके।



११

राष्ट्र-संघ की असफलता के कारण

(Failure of the League of Nations)

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विकास की दिशा में राष्ट्र-संघ एक महत्वपूर्ण कदम था। यह आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का प्रथम सफल प्रयोग था। विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में राष्ट्र-संघ ने उल्लेखनीय सफलता अर्जित की। किन्तु युद्धों को रोकने तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा से सम्बन्धित विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा कराने में वह असफल रहा। वह केवल उन छोटे-मोटे राजनीतिक विवादों को ही निपटा सका जिनमें प्रमुख राष्ट्रों के स्वार्थ नहीं टकराते थे अथवा जिनके निदान से सभी सदस्य-राष्ट्रों के स्वार्थ समान रूप से पूरे होते थे। उसकी स्थापना के बाद से निरन्तर बड़ी शक्तियों द्वारा आक्रामक कार्रवाईयाँ करने की घटनायें घटती रहीं, परन्तु राष्ट्र-संघ निष्क्रिय होकर उन्हें देखता रहा। जर्मनी, जापान, इटली, रूस आदि शक्तियों ने राष्ट्र-संघ प्रसंविदा का गम्भीर अतिक्रमण किया, लेकिन वह उनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं कर सका। इस प्रकार राष्ट्र-संघ अपने प्रमुख उद्देश्य—युद्ध को रोकने तथा विश्व-व्यवस्था को बनाये रखने में पूरी तरह असफल रहा जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) राष्ट्र-संघ की असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इसे मित्र तथा साथी राष्ट्रों (Allied and Associated Powers) द्वारा १९१९ में जर्मनी के साथ की गयी वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) का ही एक भाग माना गया था अर्थात् राष्ट्र-संघ की स्थापना वर्साई की संधि द्वारा हुई थी। एक तो यह संधि जर्मन प्रचारकों के सुपरिचित शब्दों में "आदिष्ट शान्ति" (dictated peace) थी। वह विजेताओं द्वारा विजितों पर लादी गयी थी, आदान-प्रदान की प्रक्रिया के आधार पर परस्पर बातचीत द्वारा तय नहीं हुई थी। वर्साई की सन्धि में आरोपण की मात्रा आधुनिक युग की किसी भी पिछली शान्ति-सन्धि की अपेक्षा अधिक स्पष्ट थी। इस संधि पर जर्मनी की ओर से हस्ताक्षर करने वाले प्रतिनिधियों को हस्ताक्षर-विधि के समय मित्रराष्ट्रों के प्रतिनिधियों की बराबरी से नहीं बैठाया गया, अपितु, इसके विपरीत, उन्हें पहरे में अपराधियों की भाँति हॉल के भीतर और बाहर लाया-ले जाया गया। इन अनावश्यक अपमानों के जर्मनी में व अन्यत्र दूरगामी मनोवैज्ञानिक परिणाम हुए। अतः राष्ट्र-संघ के लिये वर्साई की संधि से जुड़ा होना अभिशाप सिद्ध हुआ। प्रो० नॉर्मन बेन्टविच (Norman Bentwich

के शब्दों में "राष्ट्र-संघ एक बदनाम माता की एक कुत्सित कन्या थी" ("The League of Nations was a dishonourable daughter of a disreputed mother.")।

(२) राष्ट्र-संघ की असफलता के लिये तात्कालिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी समान रूप से उत्तरदायी थीं। १९२९ के महान् अर्थ-संकट (economic crisis) ने राष्ट्र-संघ को अप्रत्यक्ष क्षति पहुँचायी। १९२९ में अमरीका से यूरोप को ऋण मिलना बिल्कुल बन्द हो जाना इस संकट की प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति थी। इसके बाद शीघ्र ही सारे विश्व में क्रय-शक्ति का ह्रास होता गया जिसके परिणामस्वरूप कीमतों में व्यापक एवं अनिष्टकारी गिरावट हुई। इस अर्थ-संकट के समय जर्मनी की स्थिति विशेष रूप से कमजोर थी। इस स्थिति का लाभ उठाकर जर्मनी के राष्ट्रीय समाजवादी या नात्सी (Nazi) दल ने वर्साई-संधि की तीव्र निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रचार के कारण १९३० के निर्वाचन में जर्मनी की संसद (Reichstag) में नात्सी दल के सदस्यों की संख्या १२ से बढ़कर १०७ हो गयी।

(३) राष्ट्र-संघ की असफलता का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि इसकी सफलता के लिये जिस नये दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, वह विकसित नहीं हो पाया था। वस्तुतः संप्रभुता की पुरानी मान्यता के प्रति दुराग्रह ही राष्ट्र-संघ की असफलता का कारण था। राष्ट्र-संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शक्ति स्थापित करने की असमर्थता का मूल कारण यह था कि राष्ट्र-संघ को एक सक्षम विश्व-सरकार में परिणत करने के लिये जिन निष्पक्ष, नैतिक तथा राजनीतिक लक्ष्यों की अपेक्षा थी, उससे अधिक निष्ठा राज्यों को अपनी संप्रभुता की मान्यताओं और नीतियों के प्रति थी। इस प्रकार राष्ट्र-संघ "प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का एक विश्व संगठन" (a world organisation of sovereign states) था जिसमें कोई भी सदस्य-राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था के लिये अपनी प्रभुसत्ता पर किसी भी प्रकार का अंकुश लगाने को तत्पर नहीं था। सदस्य-राज्यों का यह दृष्टिकोण राष्ट्र-संघ के अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के प्रति अहितकर सिद्ध हुआ।

(४) राष्ट्र-संघ की असफलता के सम्बन्ध में यह स्मरण करने योग्य है कि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं हो सका। फलस्वरूप संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा सदस्यता ग्रहण न करने के कारण राष्ट्र-संघ अपने प्रबल समर्थक के सहयोग से वंचित हो गया। ऐसा विचार करना निःसन्देह उचित ही है कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्र-संघ में प्रारम्भ में शामिल हो गया होता, अपना नेतृत्व प्रदान किया होता तथा उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिये तत्पर हो गया होता, जैसा कि इसने बाद में संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रारम्भिक वर्षों में किया था, तो कदाचित्

(६) राष्ट्र-संघ की असफलता के लिये वास्तव में सदस्य-राज्य ही उत्तरदायी थे। वह राष्ट्र-संघ की असफलता न होकर सदस्य-राज्यों की असफलता थी। इस सम्बन्ध में पिटमैन बी० पाटर (Pitman B. Potter) का कहना है, "राष्ट्र-संघ विफल नहीं हुआ वरन् संघ के सदस्य-राष्ट्र विफल हुए।"[1] ("It was not the League of Nations but the Nations of the League which failed, in so far as there was failure.") कदाचित्, इस विषय में राष्ट्र-संघ के वैधानिक दायित्व अथवा वैधानिक सिद्धान्त दोषपूर्ण थे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि उसके सदस्य राज्य सुरक्षा व कल्याण की अभिवृद्धि के लिये अधिक प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकते थे। यह बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि राष्ट्र-संघ अपने विविध अंगों में से किसी भी अंग के संरचनात्मक दोषों के कारण विफल नहीं रहा। राष्ट्र-संघ शान्ति व सुरक्षा की स्थापना करने में इसलिये विफल रहा क्योंकि उसके दो प्रमुख सदस्य-राज्यों—फ्रांस तथा ग्रेटब्रिटेन ने मंचूरिया तथा इथोपिया के मामले में उतने शक्तिशाली ढंग से उसका समर्थन नहीं किया जितना कि उन्हें करना चाहिये था।

(७) पिटमैन बी० पाटर (Pitman B. Potter) का विचार है कि राष्ट्र-संघ की असफलता के लिये सदस्य-राज्यों की जनता भी समान रूप से उत्तरदायी थी। जर्मनी, इटली तथा जापान की जनता ने अपने देशों की आक्रामक तथा विस्तारवादी नीतियों का समर्थन किया तथा ब्रिटेन, फ्रांस व संयुक्त राज्य अमेरिका की जनता ने अपनी सरकारों को निरुत्साहित किया और आक्रमणकारियों के विरुद्ध कोई ठोस तथा दृढ़ पग नहीं उठाने दिया। इस प्रकार राष्ट्र-संघ की असफलता के लिये अन्तिम अपराधी सदस्य-राज्य तो थे ही, उनकी जनता भी इस असफलता के लिये उतनी ही उत्तरदायी थी।

(८) यह कहा गया है कि राष्ट्र-संघ अपने मूल उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में असफल रहा क्योंकि इसके पास दाँत नहीं थे (The League of Nations had no teeth)। अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये राष्ट्र-संघ को कोई अन्तर्राष्ट्रीय बल (force) नहीं प्रदान किया गया था।

(९) राष्ट्र-संघ केवल तभी सफल हो सकता था जब राष्ट्रों में एकता होती। इतने मतभेदों के कारण प्रत्येक सदस्य-राज्य सर्वसम्मति-नियम का दुरुपयोग करते हुए अपनी असहमति प्रकट करके निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करता था। वैसे इस नियम को धीरे-धीरे व्यवहार में समाप्त किया जा रहा था किन्तु सत्य तो

1 Pitman B. Potter, *An Introduction to the Study of International Organisation*, p. 253.

वह है कि इसने राष्ट्र-संघ को सबल बनाने वाली शक्तियों को पंगु बना दिया तथा राष्ट्र-संघ को निर्बल बनाने वाली शक्तियों को और शक्तिशाली बना दिया।

(१०) राष्ट्र-संघ की असफलता का एक अन्य कारण निःशस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण की समस्या को हल न करना था। मित्र-राष्ट्र-सरकारों ने जर्मनी को यह वचन (जो वैधिक दृष्टि से नहीं, नैतिक दृष्टि से तो बन्धनकारी था ही) दिया था कि जर्मनी के निःशस्त्रीकरण के बाद व्यापक निःशस्त्रीकरण किया जायेगा और दूसरी ओर उन्होंने शस्त्रास्त्रों में कोई भी कमी करने में राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकताओं को सर्वप्रमुख तत्व मान लिया था। इन दोनों सिद्धान्तों में संघर्ष ही निःशस्त्रीकरण समस्या थी। फरवरी १९३२ में जब निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का अन्तिम अधिवेशन हुआ—जब आर्थिक संकट चरम सीमा पर था और जापानियों ने शंघाई पर हमला किया था—तब उसकी सफलता की लगभग सारी सम्भावना मिट चुकी थी। जर्मनी ने निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा राष्ट्र-संघ की सदस्यता त्याग देने की घोषणा कर दी। मित्र राष्ट्रों द्वारा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी अपना वचन पूरा न किये जाने के कारण जर्मनी के पुनःशस्त्रीकरण को उचित ठहराया जा सकता था। इस पुनःशस्त्रीकरण का आवश्यक परिणाम अन्य देशों में अधिक भय का फैलना और अधिक शस्त्रों का निर्माण हुआ और जिस कुचक्र को १९१९ के राजमर्मज्ञों ने भंग करना चाहा था वह एक बार फिर पूर्ण हो गया।

(११) प्रथम विश्व-युद्ध के बाद अकारण आक्रमण के विरुद्ध ग्रेटब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ने फ्रांस को जो गारन्टी दी थी, वह कभी भी पूरी नहीं की जा सकी। इससे फ्रांस असंतुष्ट हुआ तथा प्रत्येक समय अपनी सुरक्षा की खोज में लगा रहा। फ्रांस और ग्रेटब्रिटेन की नीतियों में भारी मतभेद रहा। फ्रांस ने जर्मनी के प्रति कठोर नीति अपनायी और ग्रेटब्रिटेन ने अपने व्यापारिक स्वार्थों के कारण जर्मनी के प्रति मृदु तथा उदारनीति अपनायी। वस्तुतः जर्मनी ने राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों तथा सन्धियों में कभी किसी आस्था का परिचय नहीं दिया। कुछ अधिकारी विद्वानों का मत है कि यदि संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य बन जाता तो फ्रांस अपने आपको इतना अधिक असुरक्षित अनुभव नहीं करता और शायद सदस्य-राज्य भी राष्ट्रीयता की संकीर्ण मर्यादाओं से ऊपर उठ जाते।

(१२) जापान, जर्मनी, एल-साल्वेडर, गुआटेमाला, इटली, निकारागुआ, होण्डुरास, वेनेजएला, ब्राजील, हंगरी, स्पेन आदि राज्यों ने राष्ट्रसंघ की अपनी सदस्यता छोड़ दी। यह स्थिति राष्ट्रसंघ की प्रतिष्ठा तथा शक्ति के लिये विनाशक सिद्ध हुई।

(१३) सदस्य-राष्ट्रों की सरकारों ने उस समय की समस्याओं की महत्ता तथा गम्भीरता की ओर ध्यान देने में निरन्तर अरुचि दिखायी तथा उन समस्याओं का

सही समाधान देकर, जैसा कि जनरल स्मट्स ने कहा था, राष्ट्रसंघ "राज्यों के सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का अनिवार्य अंग" ("part and parcel of the common international life of States") बन गया होता। राष्ट्रसंघ की विफलता के सम्बन्ध में विल्फ्रेड जेन्क्स (Wilfred Jenks) ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है:—

"मेरे मत में, असफलता का मूल कारण............यह था कि राष्ट्रसंघ को विश्व राजनीति में कभी भी केन्द्रीय स्थान नहीं प्राप्त हो सका जिसके बिना वह तत्कालीन कठिन समस्याओं पर विजय प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता था। कुछ अंश में यह तत्कालीन विश्व राजनीति का प्रतिबिम्ब था तथा अंशतः अपने कार्यों के प्रभावकारी सम्पादन के लिये आवश्यक महत्ता तथा प्रतिष्ठा को सफलतापूर्वक बनाये रखने की राष्ट्रसंघ की विफलता का परिणाम था। राष्ट्रसंघ के संस्थागत बनावट में किसी दोष या प्रसंविदा में किसी कमी या भ्रांति की अपेक्षा यह एक कहीं अधिक गम्भीर कमजोरी थी" ("In my judgement, the fundamental cause of failure, both transcending and comprehending all lesser causes, was that the League never held the central place in world politics without which it could not hope to grapple with the crucial problems of the day. This was in part a reflection of the world politics of the day and in part the result of the failure of the League to assert successfully for itself the stature and position necessary for the effective discharge of its functions. This was a far more serious weakness than any gap or misconception in the Covenant or any defect in the institutional structure of the League.")।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ की असफलता के अनेक कारण थे। जो कुछ भी हो, राष्ट्रसंघ की विफलता के लिये उसके सदस्य-राष्ट्र ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी थे। इस सम्बन्ध में, क्लाइड इगलटन (Clyde Eagleton) का यह मत पूर्ण रूप से उचित और सही प्रतीत होता है, "यद्यपि राष्ट्रसंघ का अपना कुछ व्यक्तित्व अवश्य था, फिर भी अधिकतर वह एक ऐसा साधन मात्र था जिसके द्वारा राज्य, यदि वे चाहते तो, सहयोग कर सकते थे—और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रसंघ की असफलता के लिये उसके सदस्य-राष्ट्र दोषी थे" (While it had some personality of its own, it was for the most part merely machinery through which states could cooperate if they so desired—and from this it follows that the failure of the League was the fault of its Mem[illegible] th[illegible] [illegible]f.")।[1]

1. Clyde Eagleton, *International Go*[illegible]

१२

संयुक्त राष्ट्रसंघ

(The United Nations)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म

प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) की विभीषिका तथा उसकी विनाश-लीला से सन्त्रस्त होकर विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने भावी महायुद्ध की सम्भावना को कम करने के लिये, पारस्परिक सुरक्षा, शान्ति एवं कल्याण को दृष्टि में रखते हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया और उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये १९२० में राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना की। किन्तु कई कारणों से राष्ट्रसंघ राजनीतिक क्षेत्र में पूर्णतया सफल नहीं रहा और इसके रहते ही १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया और राष्ट्रसंघ का काम ठप पड़ गया। इसके पश्चात्, मानव-जाति को युद्ध की महाविपत्ति से बचाने तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो स्वरूप ग्रहण किया, उसमें निम्नलिखित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

(१) अटलान्टिक चार्टर

१४ अगस्त, १९४१ को राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा प्रधान मन्त्री चर्चिल ने एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे जो अटलान्टिक चार्टर के नाम से विख्यात है। अटलान्टिक चार्टर का उल्लेख प्रायः संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माता के रूप में किया जाता है। इस चार्टर में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, आक्रमण का विरोध, निरस्त्रीकरण, व्यापार और कच्चे माल के प्रति समान पहुँच आदि प्रावधान थे।

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा

अटलान्टिक चार्टर की घोषणा के पश्चात् 'संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा' की गयी थी जिस पर २६ राष्ट्रों ने १ जनवरी, १९४२ को हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा में एटलान्टिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया गया था और उसमें प्रत्येक राष्ट्र ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह अपने सम्पूर्ण साधनों को शत्रु के विरुद्ध लगायेगा।

(३) मास्को सम्मेलन

१९४३ के इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन में ग्रेटब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस के परराष्ट्र-मंत्रियों तथा रूस में चीन के राजदूत ने अपनी सरकारों की ओर

सही समाधान देकर, जैसा कि जनरल स्मट्स ने कहा था, राष्ट्रसंघ "राज्यों के सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का अनिवार्य अंग" ("part and parcel of the common international life of States") बन गया होता। राष्ट्रसंघ की विफलता के सम्बन्ध में विल्फ्रेड जेन्क (Wilfred Jenks) ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है:—

"मेरे मत में, असफलता का मूल कारण..........यह था कि राष्ट्रसंघ को विश्व राजनीति में कभी भी केन्द्रीय स्थान नहीं प्राप्त हो सका जिसके बिना यह तत्कालीन कठिन समस्याओं पर विजय प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकता था। कुछ अंश में यह तत्कालीन विश्व राजनीति का प्रतिबिम्ब था तथा अंशतः अपने कार्यों के प्रभावकारी सम्पादन के लिये आवश्यक महत्ता तथा प्रतिष्ठा को सफलतापूर्वक बनाये रखने की राष्ट्रसंघ की विफलता का परिणाम था। राष्ट्रसंघ के संस्थागत बनावट में किसी दोष या प्रसंविदा में किसी कमी या भ्रांति की अपेक्षा यह एक कहीं अधिक गम्भीर कमजोरी थी" ("In my judgement, the fundamental cause of failure, both transcending and comprehending all lesser causes, was that the League never held the central place in world politics without which it could not hope to grapple with the crucial problems of the day. This was in part a reflection of the world politics of the day and in part the result of the failure of the League to assert successfully for itself the stature and position necessary for the effective discharge of its functions. This was a far more serious weakness than any gap or misconception in the Covenant or any defect in the institutional structure of the League.")।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राष्ट्रसंघ की असफलता के अनेक कारण थे। जो कुछ भी हो, राष्ट्रसंघ की विफलता के लिये उसके सदस्य-राष्ट्र ही अन्तिम रूप से उत्तरदायी थे। इस सम्बन्ध में, क्लाइड इगलटन (Clyde Eagleton) का यह मत पूर्ण रूप से उचित और सही प्रतीत होता है, "यद्यपि राष्ट्रसंघ का अपना कुछ व्यक्तित्व अवश्य था, फिर भी अधिकतर वह एक ऐसा साधन मात्र था जिसके द्वारा राज्य, यदि वे चाहते तो, सहयोग कर सकते थे—और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रसंघ की असफलता के लिये उसके सदस्य-राष्ट्र दोषी थे" (While it had some personality of its own, it was for the most part merely machinery through which states could cooperate if they so desired—and from this it follows that the failure of the League was the fault of its Members rather than of itself.")।[1]

---

1. Clyde Eagleton, *International Government*, p. 259.

१२

संयुक्त राष्ट्रसंघ

(The United Nations)

संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म

प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) की विभीषिका तथा उसकी विनाश-लीला से सन्त्रस्त होकर विश्व के प्रमुख राष्ट्रों ने भावी महायुद्ध की सम्भावना को कम करने के लिये, पारस्परिक सुरक्षा, शान्ति एवं कल्याण को दृष्टि में रखते हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता का अनुभव किया और उसे क्रियात्मक रूप देने के लिये १९२० में राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ नेशन्स) की स्थापना की। किन्तु कई कारणों से राष्ट्रसंघ राजनीतिक क्षेत्र में पूर्णतया सफल नहीं रहा और इसके रहते ही १९३९ में द्वितीय महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया और राष्ट्रसंघ का काम ठप पड़ गया। इसके पश्चात्, मानव-जाति को युद्ध की महाविपत्ति से बचाने तथा विश्व-शान्ति की स्थापना के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ अस्तित्व में आया। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो स्वरूप ग्रहण किया, उसमें निम्नलिखित अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।

(१) अटलान्टिक चार्टर

१४ अगस्त, १९४१ को राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा प्रधान मन्त्री चर्चिल ने एक घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर किये थे जो अटलान्टिक चार्टर के नाम से विख्यात है। अटलान्टिक चार्टर का उल्लेख प्रायः संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माता के रूप में किया जाता है। इस चार्टर में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय का सिद्धान्त, आक्रमण का विरोध, निरस्त्रीकरण, व्यापार और कच्चे माल के प्रति समान पहुँच आदि प्रावधान थे।

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा

अटलान्टिक चार्टर की घोषणा के पश्चात् 'संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा' की गयी थी जिस पर २६ राष्ट्रों ने १ जनवरी, १९४२ को हस्ताक्षर किये थे। इस घोषणा में एटलान्टिक चार्टर के सिद्धान्तों का समर्थन किया गया था और उसमें प्रत्येक राष्ट्र ने यह प्रतिज्ञा की थी कि वह अपने सम्पूर्ण साधनों को शत्रु के विरुद्ध लगायेगा।

(३) मास्को सम्मेलन

१९४३ के इस महत्त्वपूर्ण सम्मेलन में ग्रेटब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस के परराष्ट्र-मंत्रियों तथा रूस में चीन के राजदूत ने अपनी सरकारों की ओर

से यह वचन दिया था कि शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिये उनका संयुक्त प्रयास जारी रहेगा तथा उन्होंने घोषणा की थी कि वे 'शीघ्र-से-शीघ्र एक सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं' जो सभी शान्तिप्रिय राष्ट्रों की प्रभुसत्तात्मक समानता के सिद्धान्त पर आधारित हो तथा जिसकी सदस्यता छोटे और बड़े सभी राज्यों के लिये खुली हो।

(४) डम्बरटन ओक्स सम्मेलन

१९४४ में डम्बरटन ओक्स (वाशिंगटन) में एक सम्मेलन हुआ जिसमें चीन, सोवियत संघ, ग्रेटब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के संगठन का प्रारूप प्रस्तुत किया गया।

(५) याल्टा सम्मेलन

इस सम्मेलन (१९४५) में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्तालिन की सहमति से निश्चित किया गया कि "डम्बरटन ओक्स के प्रस्तावों" पर आधारित संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान पर विचार करने के लिये सान फ्रांसिस्को में बड़े पैमाने पर एक आम सम्मेलन बुलाया जाय।

(६) सान फ्रांसिस्को सम्मेलन

१९४५ में २५ अप्रैल से २६ जून तक सान फ्रांसिस्को में एक सम्मेलन हुआ जिसमें पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। पूर्वोक्त चार राष्ट्रों—चीन, सोवियत संघ, ग्रेटब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका—के प्रतिनिधियों ने जो प्रारूप प्रस्तुत किया था, उसके आधार पर ही संयुक्त राष्ट्र चार्टर निष्पन्न किया गया। २६ जून, १९४५ को संयुक्त राष्ट्र चार्टर पर पचास राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये। बाद में एक और राष्ट्र पोलैण्ड ने हस्ताक्षर किया। इस प्रकार कुल ५१ राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रारम्भिक सदस्य हुए। २४ अक्टूबर, १९४५ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की आधिकारिक रूप से स्थापना हुई जब कि उसके चार्टर को चीन, फ्रांस, सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका एवं अन्य हस्ताक्षरकारी राष्ट्रों के बहुमत ने अभिपुष्ट किया। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में १११ अनुच्छेद हैं तथा यह १९ अध्यायों में विभाजित है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निम्नलिखित ४ उद्देश्य हैं :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखना,

(२) राष्ट्रों के बीच, उनके सम्मान, अधिकार और आत्मनिर्णय के आधार पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करना,

(३) आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवतावादी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने के लिये, तथा मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को बढ़ाने तथा प्रोत्साहित करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्राप्त करना, तथा,

(४) इन सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के लिये राज्यों द्वारा किये जाने वाले कार्यों में सामंजस्य रखना।

सिद्धान्त

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर अपना कार्यसम्पादन करता है :

(१) संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने सभी सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ताक समानता के सिद्धान्त पर निर्मित है,

(२) चार्टर के अनुसार जो दायित्व या कर्त्तव्य सदस्य-राज्यों ने स्वीकार किये हैं, उन्हें सत्यनिष्ठा के साथ पूरा करना है,

(३) सदस्य-राज्यों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्ण तरीकों से और इस ढंग से हल करना है, जिससे शान्ति, सुरक्षा एवं न्याय पर खतरा न पहुँचे,

(४) सभी सदस्य-राज्यों को अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अन्य राज्यों के विरुद्ध धमकी या बलप्रयोग से विरत रहना है,

(५) चार्टर के अनुसार राष्ट्रसंघ जो भी कार्य करे, उसमें सदस्य-राज्यों को हर प्रकार की सहायता करनी है और ऐसे किसी भी राज्य को सहायता नहीं देनी है जिसके विरुद्ध संयुक्त राष्ट्रसंघ रोधात्मक या प्रवर्तन कार्रवाई (preventive or enforcement action) कर रहा हो,

(६) संयुक्त राष्ट्रसंघ को यह सुनिश्चित रखना है कि जो राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं, वे भी, जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखना आवश्यक है, इन सिद्धान्तों के अनुसार आचरण करें,

(७) संयुक्त राष्ट्रसंघ को उन मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना है, जो तत्त्वतः किसी राज्य के आन्तरिक या घरेलू अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। परन्तु जहाँ शान्ति-भंग का खतरा हो, शान्ति-भंग या आक्रमण किया गया हो, और उसके सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रवर्तन कार्रवाई कर रहा हो, वहाँ यह प्रावधान लागू नहीं होता है।

सदस्यता

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता का द्वार उन सभी शान्तिप्रिय राज्यों के लिये खुला है, जो संयुक्त राष्ट्र चार्टर में उल्लिखित दायित्वों को स्वीकार करते हैं और इस संस्था के विचार में इन दायित्वों का पालन करने में समर्थ और इच्छुक हैं।

२६ अक्टूबर, १९७१ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने चीन (जनवादी गणतंत्र) को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान कर ताइवान (राष्ट्रवादी चीन) की सदस्यता समाप्त कर दी। दिसम्बर १९७६ तक संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की कुल संख्या १४७ थी।

प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन

संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों के प्रवेश, निलम्बन तथा निष्कासन (admission, suspension and expulsion) के लिये महासभा के अन्तर्गत महासभा का 'निर्वाचनिक कार्य' देखिये।

संशोधन-प्रक्रिया

चार्टर में संशोधन की प्रक्रिया को जानने के लिये महासभा के अन्तर्गत महासभा का 'संविधायी कार्य' देखिये।

मुख्यालय

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्यालय न्यूयार्क (संयुक्त राज्य अमेरिका) में तथा यूरोपीय कार्यालय जेनेवा में है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की भाषायें चीनी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, रूसी तथा स्पेनी हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंग

चार्टर के अनुच्छेद ७ के अनुसार, संयुक्त राष्ट्रसंघ के ६ प्रमुख अंगों की स्थापना की गई है :—

(१) महासभा (General Assembly),
(२) सुरक्षा परिषद् (Security Council),
(३) आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council),
(४) न्यास परिषद् (Trusteeship Council),
(५) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice), तथा
(६) सचिवालय (Secretariat) ।

१२

महासभा

(General Assembly)

संगठन

महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों से मिलकर बनती है। इसकी विशिष्ट रचना, कार्यों तथा शक्तियों के कारण ही इसे "संयुक्त राष्ट्रसंघ का केन्द्रीय अंग" माना जाता है। इसे "विश्व की नगर सभा" ("town meeting of the world") कहा गया है क्योंकि यहाँ एकमात्र ऐसा स्थल है जहाँ छोटे और बड़े सभी सदस्य-राज्यों को समान रूप से वादविवाद तथा विचार-विमर्श में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। कुछ अधिकारी विद्वानों ने महासभा को संयुक्त राष्ट्रसंघ की विधायिका या संसद माना है।

प्रत्येक सदस्य-राज्य महासभा में अपने पाँच प्रतिनिधि तथा पाँच वैकल्पिक प्रतिनिधि भेज सकता है किन्तु उसे एक ही मत (वोट) का अधिकार होता है। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधि-मंडल में आवश्यकतानुसार अनेक विशेषज्ञ एवं सलाहकार सम्मिलित किये जा सकते हैं। केवल प्रतिनिधि तथा वैकल्पिक प्रतिनिधि ही महासभा की कार्यवाही में शामिल हो सकते हैं या उसकी समितियों के अध्यक्ष के रूप में कार्य कर सकते हैं।

चार्टर के अनुच्छेद २० के अनुसार महासभा की बैठक नियमित रूप से वर्ष में एक बार प्रायः सितम्बर मास के तीसरे मंगलवार से प्रारम्भ होती है परन्तु महासचिव सुरक्षा परिषद् की माँग पर अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों के बहुमत की प्रार्थना पर महासभा की विशेष बैठक बुला सकता है।

महासभा प्रत्येक अधिवेशन में अपने एक सभापति का निर्वाचन करती है। व्यवहार में, सभापति का निर्वाचन किसी लघु सदस्य-राज्य से किया जाता है तथा निर्वाचन करते समय यह ध्यान रखा जाता है कि इससे विश्व के मुख्य भौगोलिक क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त, महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिये तेरह उपसभापतियों का भी निर्वाचन करती है। उपसभापतियों की संख्या प्रारम्भ में सात निर्धारित की गयी थी परन्तु १९५६ में उपसभापतियों की संख्या आठ कर दी गयी तथा दिसम्बर १९५७ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता में वृद्धि के कारण यह संख्या तेरह कर दी गयी।[1] यदि सभापति किसी बैठक या अधिवेशन

1. H. G. Nicholas, *The United Nations as a Political Institution*, p. 03.

के समय में अनुपस्थित होना आवश्यक समझता है तो वह अपने पद पर उपसभापतियों में से किसी एक को नियुक्त कर सकता है। यदि सभापति किसी भी तरह अपने कार्यों को सम्पन्न करने में असमर्थ है तो शेष अवधि के लिये एक नये सभापति का निर्वाचन करना पड़ता है। महासभा के प्रथम सभापति बेल्जियम के पॉल हेनरी स्पाक थे। १९५३ में महासभा के आठवें अधिवेशन में भारत की श्रीमती विजयालक्ष्मी पण्डित को भी सभापति पद पर निर्वाचित होने का गौरव प्राप्त हो चुका है।

महासभा के अब तक अनेक विशेष अधिवेशन हो चुके हैं। १९४७ तथा १९४८ में इसके दो विशेष अधिवेशन फिलिस्तीन समस्या पर विचार करने के लिये बुलाये गये थे। इसी प्रकार, १९६१ में फ्रांस-ट्यूनिशिया संघर्ष तथा १९६३ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के वित्तीय संकट पर विचार करने के लिये महासभा के विशेष अधिवेशन हुए।

महासभा की समितियाँ

महासभा के संगठन का एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण भाग उसकी समिति व्यवस्था है। इस समय महासभा का कार्य सात मुख्य समितियों में बँटा हुआ है। प्रत्येक समिति में सभी सदस्य-राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है। ये समितियाँ इस प्रकार हैं :—

(१) राजनीतिक और सुरक्षा समिति (Political and Security),
(२) आर्थिक और वित्तीय (Economic and Financial),
(३) सामाजिक, मानवतावादी तथा सांस्कृतिक (Social, Humanitarian and Cultural),
(४) न्यासधारिता समिति (Trusteeship),
(५) प्रशासकीय तथा बजट सम्बन्धी समिति (Administrative and Budgetary),
(६) विधि-विषयक समिति (Legal), तथा,
(७) विशेष राजनीतिक समिति (Special Political Committee)।

महासभा तथा उसकी सभी समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय बनाये रखने के लिये एक 'सामान्य समिति' होती है जिसमें महासभा का सभापति, उपसभापति तथा मुख्य समितियों के अध्यक्ष शामिल होते हैं। एक 'परिचय-पत्र समिति' भी होती है जो सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों के परिचय-पत्रों की जाँच करती है। इसके अतिरिक्त, स्थायी समितियाँ तथा समय-समय पर विशेष उद्देश्यों के लिये स्थापित तदर्थ समितियाँ भी होती हैं।

मतदान-प्रणाली

महासभा में महत्त्वपूर्ण मामलों पर निर्णय, उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्य-राज्यों के दो-तिहाई बहुमत से होता है तथा दूसरे मामलों पर निर्णय के लिये केवल साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। 'महत्त्वपूर्ण' विषयों में (१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा सम्बन्धी सिफारिशें, (२) संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अंगों के सदस्यों का निर्वाचन, (३) संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्य-राज्यों का प्रवेश, (४) सदस्य-राज्यों का निलम्बन तथा निष्कासन, (५) न्यासधारिता पद्धति के संचालन से सम्बन्धित प्रश्न, तथा (६) बजट सम्बन्धी विषय (अपवादस्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन के लिये महासभा में एक पूर्ण बहुमत की आवश्यकता होती है)। इसके अतिरिक्त, यह भी प्रावधान है कि यदि किसी विषय को महत्त्वपूर्ण प्रश्न में शामिल करना है तो ऐसा साधारण बहुमत से किया जा सकता है (इस नियम का एक अपवाद यह है कि चार्टर के अनुच्छेद १०८ में कहा गया है कि प्रस्तावित संशोधनों के लिये सभी सदस्य-राज्यों के दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता होगी)।

कार्य और शक्तियाँ (Functions and Powers)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा महासभा को अत्यन्त व्यापक और विविध कार्य प्रदान किये गये हैं। महासभा के इन कार्यों को सुविधा के लिये निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(१) विचारात्मक (Deliberative),
(२) निरीक्षणात्मक (Supervisory),
(३) वित्तीय (Financial),
(४) निर्वाचनिक (Elective), तथा,
(५) संविधायी (Constituent)।

(१) विचारात्मक कार्य

विचार-विमर्श में वादविवाद, अध्ययन, संस्तुति आदि महत्त्वपूर्ण प्रावधान शामिल हैं। महासभा को सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य के सम्बन्ध में वादविवाद करने तथा आलोचना करने का अधिकार है। एच० जी० निकोलस (H. G. Nicholas) ने ठीक ही कहा है, "महासभा एक गपशप की दुकान है" (The General Assembly is a talking shop")।[1] लियोनर्ड (Leonard) ने महासभा के विचारात्मक कार्य को "अन्तर्राष्ट्रीय नीति-निर्धारक कार्य" कहा है।[2]

1 H. G. Nicholas, *The United Nations as a Political Institution* p. 91.
2. L. Larry Leonard, *International Organisation*, p. 60.

वर्तमान चार्टर के अन्तर्गत किन्हीं प्रश्नों पर अथवा मामलों पर अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी अंग की शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में महासभा विचार कर सकती है (अनुच्छेद १०) परन्तु चार्टर द्वारा महासभा की इस शक्ति पर दो महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध हैं। सर्वप्रथम, महासभा वादविवाद के पहले या बाद में किसी मामले को सुरक्षा परिषद् को सुपुर्द करे जिस पर प्रवर्तन कार्यवाई आवश्यक हो किन्तु प्रत्येक अवस्था में संस्तुति करने के पहले। और दूसरे, महासभा किसी ऐसे प्रश्न अथवा झगड़े या परिस्थिति के विषय में अपनी कोई संस्तुति नहीं कर सकती, जिसके सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् अपने कार्याधिकारों का प्रयोग कर रही हो (अनुच्छेद १२)। वस्तुतः ये प्रतिबन्ध संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्त से संगत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना का प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् में निहित है तथा सामान्यतः अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाले विवादों और परिस्थितियों पर नियंत्रण रखना उसी अंग (सुरक्षा परिषद्) का कार्य है। चार्टर का यह प्रावधान इस विचार को प्रतिबिम्बित करता है कि महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों को अधिक स्पष्ट रूप से अलग किया जाना चाहिये। राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अन्तर्गत सभा और परिषद् के कार्यों के बीच कोई स्पष्ट सीमा-रेखा नहीं थी।

महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को संकट में डालने वाली किसी भी परिस्थिति की ओर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित कर सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के संवर्धन हेतु तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना संसार के सब लोगों के लिये मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं की प्राप्ति में सहयोग करने के उद्देश्य से महासभा अध्ययन प्रारम्भ कर सकती है तथा संस्तुतियाँ कर सकती है। किसी भी परिस्थिति के, चाहे उसके उत्पन्न होने का कारण कुछ भी क्यों न हो, किन्तु यदि उससे सार्वजनिक कल्याण या राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों पर विक्षेप पड़ने की आशंका हो तो महासभा उसके शान्तिपूर्ण समाधान के लिये संस्तुति कर सकती है कि कौन से कदम उठाये जायें।

वस्तुतः महासभा विश्वशान्ति और सुरक्षा जैसे विषयों एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों पर विचार करने के लिये एक वाक्पीठ बन गयी है जिसमें द्वितीय विश्व-युद्ध से लेकर आज तक की सभी अन्तर्राष्ट्रीय गम्भीर संकटों तथा घटनाक्रमों पर विचार-विमर्श हुआ है। फिलिस्तीन, मध्यपूर्व, यूनान, साइप्रस, हंगरी, स्वेज संकट, शरणार्थी समस्या, रोडेशिया, चेकोस्लोवाकिया, दक्षिण-अफ्रीका की रंगभेद नीति, भारत-पाक विवाद, कश्मीर की समस्या, साम्यवादी-चीन, कोरिया आदि अनेकानेक समस्याओं पर महासभा में विचार-विमर्श हुआ है।

विचार-विमर्श सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिये महासभा सम्बद्ध तथ्य और सूचना प्राप्त करने का अधिकार रखती है तथा इस प्रयोजन के लिये वह जाँच-आयोग की नियुक्ति कर सकती है।

संस्तुतियाँ, वास्तव में, वैध रूप से बन्धनकारी निर्णय नहीं होती हैं। वे महासभा के अभिमत तथा परामर्श या सुझाव को प्रतिबिम्बित करती हैं। महासभा विचार-विमर्श, अनुनय तथा संस्तुतियों के माध्यम से अपने कार्यों को सम्पन्न करती है। प्रवर्तन कार्यवाई सुरक्षा परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में आती है। यद्यपि महासभा को अध्ययन, विचार-विमर्श तथा संस्तुति सम्बन्धी व्यापक शक्तियाँ प्राप्त हैं तथापि चार्टर के अधीन उसे ऐसे निर्णय लेने की शक्ति प्राप्त नहीं है जो सदस्य-राज्यों पर कानूनन बन्धनकारी हो सकें अथवा उसे अपने निर्णयों को अनिवार्यतः पालन करवाने की शक्ति प्राप्त नहीं है। इस स्थल पर महासभा और सुरक्षा परिषद् के बीच कार्यों का विभाजन स्पष्ट हो जाता है।

(२) निरीक्षणात्मक कार्य

महासभा का निरीक्षणात्मक कार्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अंगों तथा अभिकरणों को नियंत्रित एवं सुव्यवस्थित करने की शक्तियों से सम्बन्धित है। एक केन्द्रीय अंग के रूप में, वह दूसरे अंगों से प्रतिवेदन प्राप्त कर उन पर विचार कर सकती है। चार्टर के अनुच्छेद १५ में कहा गया है कि, "महासभा सुरक्षा परिषद् से वार्षिक तथा विशेष प्रतिवेदनों को प्राप्त करेगी तथा उन पर विचार करेगी; इन प्रतिवेदनों में उन कदमों का विवरण होगा जिन्हें सुरक्षा परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के अनुरक्षण हेतु उठाये हो" ("The General Assembly shall receive and consider annual and special reports from the Security Council, these reports shall include an account of the measures that the Security Council has decided upon or taken to maintain international peace and security")। महासभा इन प्रतिवेदनों पर विचार-विमर्श कर सकती है तथा सदस्य-राज्यों एवं सुरक्षा परिषद् को संस्तुतियाँ कर सकती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (ECOSOC) को अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] निर्मन्त्रित करने, विशिष्ट अभिकरणों से समझौते सम्पन्न करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से सलाहकारी मत प्राप्त करने के लिये महासभा के अनुमोदन की आवश्यकता होती है। असामरिक महत्त्व के न्यस्त क्षेत्रों के लिये न्यासधारिता प्रणाली के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब कार्य महासभा में निहित हैं ...
प्रशासन की देखरेख के लिये न्याय परिषद् महासभा के निरीक्षण

है। इस प्रकार, महासभा को संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो प्रमुख अंगों—आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद्—पर स्पष्ट निरीक्षणात्मक शक्तियाँ प्राप्त हैं। महासभा सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति के लिये नियम-विनिमय का निर्माण करती है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों के कार्यकलापों में समन्वय लाने के लिये संस्तुतियाँ कर सकती है।

(३) वित्तीय कार्य

चार्टर के अनुच्छेद १७ (धारा १) में कहा गया है कि महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करेगी तथा उसका अनुमोदन करेगी। वस्तुतः वित्तीय कार्य के अन्तर्गत महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के खर्च को सदस्य-राज्यों के बीच संविभाजित करने तथा उसकी बजट सम्बन्धी व्यवस्थाओं के लिये उत्तरदायी है। यद्यपि चार्टर में इस आवंटन के सम्बन्ध में किसी मापदण्ड का उल्लेख नहीं है तथापि महासभा ने बजट में सदस्य-राज्यों के अनुदान को निश्चित करते समय उनके भुगतान करने की समर्थता को ध्यान में रखा है।

(४) निर्वाचनिक कार्य

(क) सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्य-राज्यों को प्रवेश प्रदान करती है,

(ख) महासभा सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर किसी ऐसे सदस्य-राज्य को, जिसके विरुद्ध रोधात्मक या प्रवर्तन कार्यवाई की जा रही हो, निलम्बित कर सकती है। किन्तु केवल सुरक्षा परिषद् ही उस निलम्बित सदस्य-राज्य की सदस्यता के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों के उपभोग को पुनः प्रतिष्ठित कर सकती है,

(ग) महासभा किसी भी सदस्य-राज्य को, जो बार-बार चार्टर के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर रहा हो, सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर निष्कासित कर सकती है,

(घ) महासभा सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्य-राज्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सब सदस्य-राज्यों तथा न्यास परिषद् के कुछ सदस्य-राज्यों का निर्वाचन करती है,

(च) महासभा सुरक्षा परिषद् के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में भाग लेती है, तथा,

(छ) महासभा सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासचिव की [illegible] करती है। सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासभा द्वारा नये सदस्य-र[illegible] कार्य निस्सन्देह संयुक्त राष्ट्रसंघ को नियंत्रित करने का [illegible] किन्तु, इस विषय में, महासभा राष्ट्रसंघ सभा की

स्थिति में है, क्योंकि राष्ट्रसंघ सभा, राष्ट्रसंघ परिषद् की संस्तुति के बिना ही, दो-तिहाई बहुमत से भी नये सदस्य-राज्यों के प्रवेश को स्वीकृति प्रदान करती थी।

(५) संविधायी कार्य

अनुच्छेद १०८ के अनुसार महासभा संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन के लिये संस्तुति कर सकती है जिसे सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो-तिहाई सदस्य-राज्यों द्वारा अनुसमर्थन मिलना आवश्यक है। इसी प्रकार, अनुच्छेद १०९ के अनुसार वर्तमान चार्टर का पुनर्वलोकन करने के लिये सदस्य-राज्यों का एक सामान्य सम्मेलन भी महासभा के दो-तिहाई बहुमत तथा सुरक्षा परिषद् के किन्हीं ९ सदस्य-राज्यों के बहुमत से बुलाया जा सकता है।

लघु सभा (Little Assembly)

अनुच्छेद २२ तथा अनुच्छेद २९ में ये प्रावधान हैं कि चार्टर में संशोधन के बिना ही महासभा तथा सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों को विस्तारित करने के लिये सहायक अंगों की स्थापना कर सकती हैं। अतः इस व्यवस्था का उपयोग न केवल महासभा की स्थायी समितियों की स्थापना के लिये बल्कि विशेष उद्देश्यों के लिये विविध तदर्थ समितियों अथवा आयोगों की स्थापना के लिये भी किया गया है। उदाहरणार्थ, निःशस्त्रीकरण आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग तथा फिलिस्तीन, कोरिया, कश्मीर और बाल्कन देशों में विवादों के निपटारे से सम्बन्धित आयोग।

निषेधाधिकार के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध को दूर करने के लिये 'लघु सभा' नामक एक सहायक अंग की स्थापना की गयी थी। 'अन्तरिम समिति' (Interim Committee) भी कहा जाता है। लघु सभा १९४७ में महासभा के अधिवेशनों के बीच कार्य करने, तथा, जब सुरक्षा परिषद् वीटो के प्रयोग के कारण कुछ मामलों में कार्रवाई न कर सके तो, उस कमी को पूरा करने के लिये स्थापित की गयी थी।

लघु सभा के तीन मुख्य कार्य थे—(क) जाँच-पड़ताल करना, (ख) जाँच-आयोग की नियुक्ति करना, तथा, (ग) महासभा की ओर से दूसरे कार्यों को सम्पन्न करना। सोवियत संघ ने इसकी कार्यवाही में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसके मत में सुरक्षा परिषद् के उत्तरदायित्व को कम करने का यह एक गैरकानूनी प्रयास था। इस प्रकार जिस उद्देश्य के लिये अन्तरिम समिति या लघु सभा की स्थापना की गयी, वह कभी भी पूरा नहीं हो सका।

लघु सभा का अधिकार-क्षेत्र सावधानी से उन विषयों तक सीमित किया गया था—जिन्हें महासभा स्पष्टरूप से उसके सुपुर्द करे। महत्त्वपूर्ण विवादों या परिस्थितियों को महासभा की कार्यसूची में शामिल किया जाता था। लघु सभा

राष्ट्रसंघ के किसी भी अंग के कार्यों में अनधिकार हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी लघु सभा को सुपुर्द किये गये कुछ मामलों में—United Nations Temporary Commission on Korea से परामर्श, सुरक्षा परिषद् में मतदान की समस्या तथा राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का संवर्धन-मुख्य थे।

१९५० तक अन्तरिम समिति या लघु सभा अस्थायी आधार पर बनी रही किन्तु सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी राज्यों के विरोध के कारण इसे समाप्त हो जाना पड़ा। इसकी अन्तिम बैठक १७ मार्च, १९५२ को हुई थी और तब से इसे अनिश्चित काल के लिये स्थगित कर दिया गया।[1]

शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव (Uniting for Peace Resolution)

महासभा की शक्तियों में उल्लेखनीय वृद्धि ३ नवम्बर, १९५० को "शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" पारित होने के बाद हुई है। इस प्रस्ताव को संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, फिलिपीन, टर्की, ग्रेटब्रिटेन तथा उरूगुए ने प्रस्तुत किया था। इस प्रस्ताव ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के क्षेत्र में महासभा की शक्तियों का प्रत्यक्ष तथा स्पष्ट उल्लेख किया है। इस प्रस्ताव के अस्तित्व में आने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण कोरिया का संकट (१९५०) था। इस प्रस्ताव में कहा गया है कि यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना सुरक्षा परिषद् का प्राथमिक उत्तरदायित्व है, लेकिन यदि निषेधाधिकार (वीटो) के प्रयोग के कारण सुरक्षा परिषद् अपने उत्तरदायित्व को पूरा करने में असफल रहती है, तो महासभा तत्काल ही ऐसे किसी भी मामले, जो शान्ति और व्यवस्था को खतरे में डालने वाला हो, पर विचार कर सकती है, सदस्य-राज्यों को सामूहिक कार्रवाई करने के लिये उचित सिफारिशें कर सकती है, तथा शान्ति-भंग की स्थिति में या आक्रमण होने पर, उसे रोकने के लिये आवश्यक होने पर सशस्त्र सेना के प्रयोग की भी सिफारिश कर सकती है।[2]

मुख्य प्रावधान

"शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" में ५ प्रमुख प्रावधान हैं :

(१) यदि सुरक्षा परिषद् शान्ति-भंग या आक्रमण की घटना में निषेधाधिकार (वीटो) के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध के कारण कार्रवाई करने में असमर्थ हो जाती है तो चौबीस घंटे के अन्दर महासभा का विशेष आपातकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है (सुरक्षा परिषद् के किन्हीं ७ सदस्य-राज्यों के मत से अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों के बहुमत की प्रार्थना पर),

---

1. *India and the United Nations*, p. 48.
२. "शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" को Acheson योजना भी कहा जाता है।

(२) इस प्रस्ताव द्वारा विश्व के किसी भी भाग में खतरनाक स्थितियों का अवलोकन करने तथा उन पर प्रतिवेदन देने के लिये एक "शान्ति प्रेक्षण आयोग" (Peace Observation Commission) की स्थापना की गयी,

(३) इस प्रस्ताव द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों से अनुरोध किया गया कि वे अपनी सशस्त्र सेनाओं में कुछ ऐसी टुकड़ियाँ रखें जिन्हें सुरक्षा परिषद् अथवा महासभा की माँग पर संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवाओं के लिये उपलब्ध किया जा सके,

(४) इस प्रस्ताव द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिये इन तथा दूसरे उपायों पर अध्ययन करने तथा उन पर प्रतिवेदन देने के लिये एक "सामूहिक कार्यवाई समिति (Collective Measures Committee) की स्थापना की गयी, तथा,

(५) इस प्रस्ताव द्वारा सभी सदस्य-राज्यों से अनुरोध किया गया कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति अपनी निष्ठा का पुनः प्रदर्शन करें, उसके निर्णयों का सम्मान करें, मानव अधिकारों के प्रति विश्वव्यापी सम्मान तथा उनके पालन के लिये; एवं आर्थिक स्थायित्व तथा सामाजिक प्रगति की प्राप्ति के लिये व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रयास करें।

सोवियत गुट के देशों ने इस प्रस्ताव के अधिकांश भागों का विरोध किया, उन्होंने केवल दूसरे तथा पाँचवें प्रावधानों का ही समर्थन किया। उनका यह दावा था कि इस प्रस्ताव के कुछ अंश पूर्णतया गैरकानूनी हैं। विशिन्सकी (Vyshinsky) ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद ११ तथा अनुच्छेद १२ महासभा की शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगाता है तथा इस बात पर बल दिया कि प्रस्तावित परिवर्तन केवल चार्टर में संशोधन के द्वारा ही उचित रीति से लाये जा सकते हैं। फिर भी, यह प्रस्ताव महासभा के भारी बहुमत के द्वारा स्वीकृत कर लिया गया। इस प्रस्ताव के पक्ष में ५२ मत तथा विपक्ष में ५ मत (सोवियत गुट) पड़े एवं २ सदस्य-राज्यों (अर्जेण्टाइना तथा भारत) ने मतदान में भाग नहीं लिया।

मूल्यांकन

अनेक आपत्तियों के होते हुए भी महासभा ने विभिन्न अवसरों पर "शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" का प्रयोग किया है तथा निस्सन्देह यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान का एक अभिन्न अंग बन गया है। जब-जब सुरक्षा परिषद् वीटो के प्रयोग के कारण गतिहीन कर दी गयी है, तब संकटपूर्ण स्थितियों का सामना करने के लिये इस प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा के विशेष आपातकालीन अधिवेशन बुलाये गये हैं। उदाहरणार्थ, १९५६ में स्वेज तथा हंगरी संकट, १९५८ में मध्यपूर्वी संकट, १९६० में कांगो संकट तथा १९६७ में पश्चिमी एशिया की स्थिति

सम्बन्ध में। दिसम्बर १९७१ मे भारत-पाक युद्ध के समय में जब सोवियत संघ ने संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रस्तुत युद्ध-विराम प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग कर दिया तो यह मामला इस प्रस्ताव के अन्तर्गत महासभा को सौंपा गया। इस प्रस्ताव के अन्तर्गत उत्तरदायित्वों की अपनी नवीन परिकल्पना के अनुसार ही महासभा ने साम्यवादी चीन को १९५१ में कोरिया संकट के सम्बन्ध में आक्रमक घोषित किया।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार महासभा द्वारा पारित प्रस्ताव बाध्यकारी नहीं है, (क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि सदस्य-राज्य इस प्रस्ताव पर कदम उठायें। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र चार्टर के ७वें अध्याय के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् जो भी निर्णय लेगी, वह बाध्यकारी होगा) फिर भी यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् की मशीनरी की तरह एक ऐसी समानान्तर मशीनरी बनाने की व्यवस्था करता है कि यदि सुरक्षा परिषद् में मार्ग अवरुद्ध हो जाये, तो सदस्य-राज्य स्वेच्छा से उस मशीनरी का निर्माण स्वयं कर सकते हैं। इस प्रकार "शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" महासभा की बढ़ती शक्ति का प्रतीक है।

अनेक अधिकारी विद्वानों द्वारा इस प्रस्ताव की वैधता पर आपत्ति उठायी गयी है। उनका यह तर्क है कि यदि महासभा सामूहिक कार्यवाई करने के लिये या सामूहिक कदम उठाने के लिये सदस्य-राज्यों का आह्वान करने लग जायेगी, तो उसका तात्पर्य बल प्रयोग करने के समान होगा, जो संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद २ में उल्लिखित उद्देश्यों से असंगत होगा। उनका यह भी तर्क है कि 'डम्बरटन ओक्स के प्रस्तावों' तथा 'सान फ्रांसिस्को सम्मेलन' दोनों की यह धारणा थी कि बड़ी शक्तियों का मतैक्य सामूहिक कार्यवाई करने के लिये आवश्यक होगा। यह प्रस्ताव चार्टर की आधारभूत मान्यता के ही विपरीत है। परन्तु यदि इस प्रस्ताव का प्राथमिक उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने में संयुक्त राष्ट्रसंघ को बल प्रदान करना है, और सुरक्षा परिषद् के निषेधाधिकार (Veto) के परिणामस्वरूप उत्पन्न निष्क्रियता के प्रभाव से संयुक्त राष्ट्रसंघ को कुछ राहत दिलाना है, तो इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यह प्रस्ताव संयुक्त राष्ट्र चार्टर के विपरीत नहीं है।

महासभा की सत्ता एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि के कारण

(१) चूँकि सुरक्षा परिषद् की सदस्यता सीमित है, अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ में नवीन राज्यों के प्रवेश का प्रभाव महासभा पर पड़ा, जहाँ प्रत्येक नये सदस्य-राज्य को भी बैठने तथा मत देने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त नवीन सदस्य-राज्यों ने महासभा का उपयोग अपने लाभ के लिये उसी प्रकार किया है, जिस प्रकार १६ वीं सदी में इंग्लैंड के शासक हेनरी अष्टम ने अपने राजकीय निर्णयों को लागू

(४) महासभा की शक्ति तथा प्रतिष्ठा में वृद्धि के कारणों पर प्रकाश डालते हुए गुडरिच तथा साइमन ने सही ही लिखा है कि "संयुक्त राष्ट्र महासभा आरम्भ से ही एक ऐसा मंच रही है जहाँ विभिन्न राज्य—अकेले या अन्य राज्यों के साथ मिलकर—अपने विवाद एवं अन्य विचार प्रस्तुत करते रहे हैं और ज्यों-ज्यों शीतयुद्ध में वृद्धि हुई और एशिया एवं अफ्रीका के देश अपनी राष्ट्रीय भावनाओं को अभिव्यक्त करने में मुखरित हुए, त्यों-त्यों इस मंच की प्रतिष्ठा बढ़ी है। सदस्य-राज्यों द्वारा इस महासभा को ही मंच बनाने के कई कारण थे: सुरक्षा परिषद् द्वारा प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करने में असमर्थ रहना, महासभा के कार्यों का व्यापक क्षेत्राधिकार, महासभा में अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के एक बड़े वर्ग के समर्थन की सम्भावना, तथा प्रचार-मंच के रूप में महासभा की सर्वाधिक उपादेयता। इस प्रकार सदस्य-राज्यों ने, अन्य तरीकों के साथ-साथ, महासभा के मंच का उपयोग एक पूरक युक्ति के रूप में भी किया।"[1]

(५) पिछले दो दशकों में विश्व के सामने जो महत्त्वपूर्ण समस्यायें आयी हैं, और जिनमें महासभा ने बेहिचक अपनी भूमिका निभायी है, उनका उल्लेख करना आवश्यक है। उदाहरण के लिये, कोरिया का संकट (१९५०), स्वेज संकट (१९५६), हंगरी का संकट (१९५६), कांगो का प्रश्न (१९६०) तथा रोडेशिया, अंगोला तथा मोज़ाम्बिक के औपनिवेशिक शासनों द्वारा उत्पन्न समस्यायें तथा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति, ऐसे मामले थे जिनके सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् कोई प्रगति नहीं कर सकी, परन्तु महासभा ने उनके समाधान के प्रयास में कोई हिचक नहीं दिखायी और कुछ मामलों में तो उसने इतने साहसपूर्ण कदम उठाये जो अब तक के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के इतिहास में अद्वितीय हैं, चाहे उसका परिणाम कुछ भी रहा हो। इसी प्रकार, यदि कोरिया की समस्या को लिया जाय तो पता लगेगा कि सुरक्षापरिषद् में तो वह मामला अवरुद्ध ही हो गया था, फिर भी महासभा ने अनेक आपत्तियों के होते हुए भी सुविख्यात "शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" (Uniting for Peace Resolution) भारी बहुमत से स्वीकृत कर लिया।

"शान्ति के लिये एकता प्रस्ताव" महासभा के अधिकारों में क्रमिक वृद्धि के इतिहास में एक ऐतिहासिक घटना है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का सबसे सशक्त अंग है। इस प्रस्ताव से एक महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त का निर्माण हुआ और इसका अनुसरण स्वेज संक[illegible] [illegible] की [illegible] भी किया गया।

1. Leland M. Goodrich and Anne P. Si[illegible] *Maintenance of International Peace and Sec*[illegible]

(६) यह भी स्मरण करने योग्य है कि महासभा की कानूनी (de jure) सर्वोच्चता को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने भी अपने सलाहकारी मत द्वारा मान्यता दी है और स्वीकार किया है। इस न्यायालय ने महासभा के प्रस्ताव के अनुसार सदस्य-राज्यों द्वारा स्वेज तथा कांगो में शान्ति-स्थापनार्थ सेना रखने सम्बन्धी कार्यवाई को कानून-सम्मत एवं उचित बताया था। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद १०, अनुच्छेद ११ तथा अनुच्छेद १४ के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दी गयी व्याख्या से यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना का प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् में निहित है, परन्तु सुरक्षा परिषद् अन्तिम रूप से उत्तरदायी नहीं है। 'प्राथमिक' शब्द में अवशिष्ट उत्तरदायित्व का भाव भी निहित है जो अनिवार्यतः महासभा के अधिकारक्षेत्र के अन्तर्गत आता है, क्योंकि यही एक ऐसी संस्था है जिसमें सभी सदस्य-राज्यों का प्रतिनिधित्व है।

(७) महासभा अपने अवशिष्ट अधिकारों का प्रयोग करने में पीछे नहीं रही है। १९५६ में स्वेज संकट के समय महासभा ने अनेक प्रस्ताव पारित किये, जिनके अन्तर्गत महासचिव को इस बात का अधिकार दिया गया कि वे सम्बन्धित क्षेत्र में शान्ति-स्थापनार्थ सेना (Peace-keeping force) की स्थापना करें। यहाँ यह स्मरण करने योग्य है कि नवम्बर १९५६ में महासभा की विशेष आपातकालीन बैठक बुलानी पड़ी थी, क्योंकि ब्रिटेन तथा फ्रांस ने सुरक्षा परिषद् में आंग्ल-फ्रांसिसी इज-रायल आक्रमण के प्रश्न पर वीटो का प्रयोग किया था और उससे गतिरोध पैदा हो गया था। इसी प्रकार कांगो के प्रश्न पर, यद्यपि सुरक्षा परिषद् ने कांगो सरकार की प्रार्थना पर आरम्भ में कुछ प्रस्ताव पारित किये जिससे उस राज्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना रखी जा सके, लेकिन बाद में महासभा ने भी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकार किये जो कांगो में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना (ONUC) को आगे भी बनाये रखने से सम्बन्धित थे।

(८) इसी प्रकार रोडेशिया (जिम्बाब्वे) तथा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका (नामिबिया) जैसे प्रश्नों पर भी महासभा ही कदम उठाने में आगे रही है। वस्तुतः यह कहना सही होगा कि औपनिवेशिक मामलों में महासभा ने ही नेतृत्व प्रदान किया है। नामिबिया के मामले में महासभा ने अपने प्रस्ताव दिनांक २७-१०-६६ द्वारा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर दक्षिण अफ्रीका का शासनादेश (Mandate) समाप्त कर दिया। महासभा ने बार-बार सभी सदस्य-राज्यों से कहा है कि वे दक्षिण अफ्रीका, पुर्तगाल जैसे राज्यो से तथा रोडेशिया के अवैध शासन के साथ कोई सम्बन्ध स्थापित न करें। यद्यपि रोडेशिया के विरुद्ध अनुशास्ति का आह्वान सुरक्षा परिषद् ने किया था, लेकिन यह कहना उचित होगा कि महासभा के प्रस्तावों द्वारा ही इस अवैध औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध भारी राजनीतिक

दबाव डाला जा सका। पश्चिम एशिया में अभी हाल में हुई घटनाओं के सम्बन्ध में महासभा ने कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये हैं। इनमें वह प्रस्ताव भी शामिल है जिसके द्वारा इजरायल से यह कहा गया कि वह ऐसी सभी कार्रवाईयाँ समाप्त कर दे जो उसने जेरूशलम को अपने राज्य में विलीन करने के उद्देश्य से की हो।

ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे यह संकेत मिलता है कि आज के अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में महासभा की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हो गयी है। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि सुरक्षा परिषद् को शान्ति-स्थापना के क्षेत्र में वैध रूप से स्थापित प्रमुखता प्राप्त है, तथापि जब तक शीतयुद्ध तीव्र बना रहेगा, तब तक महासभा ही केन्द्रीय भूमिका निभाती रहेगी। सुरक्षा परिषद् में निषेधाधिकार के दुरुपयोग ने आज अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान, जिसके लिये सुरक्षा परिषद् मुख्यतः उत्तरदायी है, के लिये सदस्य-राज्यों को सुरक्षा परिषद् की अपेक्षा महासभा की शरण लेने के लिये विवश कर दिया है।



१४

सुरक्षा परिषद्

(Security Council)

संगठन

सुरक्षा परिषद् निस्सन्देह संयुक्त राष्ट्रसंघ का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के पाँचवें अध्याय में अनुच्छेद २३ से अनुच्छेद ३२ तक सुरक्षा परिषद् के संगठन, कार्यों तथा मतदान-प्रणाली का वर्णन है। प्रारम्भ में सुरक्षा परिषद् में ११ सदस्य थे—५ स्थायी और ६ अस्थायी। १९६५ में चार्टर के अनुच्छेद २३ तथा अनुच्छेद २७ को संशोधित कर सुरक्षा परिषद् के सदस्यों की संख्या ११ से बढ़ाकर १५ कर दी गयी। इसी संशोधन के अनुसार सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय की स्वीकृति के लिये न्यूनतम आवश्यक मतों की संख्या ७ के बदले में ९ निश्चित कर दी गयी। इस समय सुरक्षा परिषद् के कुल १५ सदस्यों में ५ स्थायी तथा १० अस्थायी हैं। चार्टर में स्थायी सदस्यों का स्पष्ट उल्लेख राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के प्रावधान के समरूप है किन्तु प्रसंविदा के अधीन इस प्रकार की व्यवस्था अधिक नमनीय थी क्योंकि सभा के अनुमोदन से परिषद् नये स्थायी सदस्य बना सकती थी। पाँच स्थायी सदस्य हैं–संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस, ब्रिटेन तथा साम्यवादी चीन।

सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों का निर्वाचन महासभा द्वारा दो वर्ष के लिये होता है। अवधि की समाप्ति पर इसके अस्थायी सदस्य तुरन्त पुनर्निर्वाचित नहीं हो सकते हैं। सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्यों के निर्वाचन के सम्बन्ध में चार्टर में दो मापदण्डों का उल्लेख है :

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति में सदस्य-राज्यों का योगदान, तथा,

(२) उचित भौगोलिक वितरण।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के जो सदस्य-राज्य सुरक्षा परिषद् के सदस्य नहीं हैं, वे सुरक्षा परिषद् के विचार-विमर्श में बिना मतदान अधिकार के निम्नलिखित परिस्थितियों में भाग ले सकते हैं :

(१) यदि सुरक्षा परिषद् समझे कि जिस प्रश्न पर वह विचार कर रही है, उसमें उस सदस्य-राज्य के हित विशेष रूप से निहित हैं, तथा,

(२) यदि कोई सदस्य-राज्य किसी विवाद का एक पक्ष है, जिस पर सुरक्षा परिषद् विचार कर रही है, तो ऐसे सदस्य-राज्य को सुरक्षा परिषद् के विचार-विमर्श में भाग लेने के लिये आमन्त्रित किया जा सकता है।

सुरक्षा परिषद् बराबर सत्र में रहती है। इसके प्रत्येक सदस्य-राज्य के एक-एक प्रतिनिधि सब समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के मुख्यालय में अवश्य उपस्थित रहते हैं। सुरक्षा परिषद् की बैठक सामान्यतः १५ दिनों में कम-से-कम एक बार अवश्य होती है। यद्यपि इसके प्रत्येक सदस्य-राज्य को एक मत (वोट) का अधिकार है, तथापि इन मतों का समान मूल्य नहीं होता क्योंकि महत्त्वपूर्ण मामलों पर निर्णय के लिये आवश्यक है कि कम-से-कम ९ सदस्यों के बहुमत में ५ स्थायी सदस्यों का स्वीकारात्मक मत शामिल हो।

सुरक्षा परिषद् की समितियाँ

चूँकि सुरक्षा परिषद् एक छोटी संस्था है, इसलिये उसे अधिक समितियों की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी, सुरक्षा परिषद् के कार्यों में सहायता देने के लिए आवश्यकतानुसार निम्नलिखित समितियों की स्थापना की गयी है :

(१) सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) :

इसकी स्थापना चार्टर के अनुच्छेद ४७ के अनुसार सुरक्षा परिषद् के एक सहायक अंग के रूप में की गयी थी। यह समिति शान्ति बनाये रखने के लिये सुरक्षा परिषद् को सैनिक आवश्यकता, शस्त्रास्त्रों के विनियमन तथा निरस्त्रीकरण कहाँ तक सम्भव है, जैसे प्रश्नों पर परामर्श तथा सहायता देती है।

(२) निरस्त्रीकरण आयोग (Disarmament Commission) :

महासभा द्वारा १९५२ में सुरक्षा परिषद् के अधीन निरस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की गयी थी। इस आयोग ने पूर्वस्थापित परमाणविक ऊर्जा आयोग तथा रुढ़ आयुद्ध आयोग (Commission for Conventional Armaments) का स्थान ले लिया है। यह आयोग सुरक्षा परिषद् के ही अधीन कार्य करता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना के लिये योजनायें बनाता है।

(३) स्थायी समितियाँ (Standing Committees) :

इनमें विशेषज्ञों की समिति (The Committee of Experts) तथा नवीन सदस्य-राज्यों के प्रवेश सम्बन्धी समिति (The Committee on the Admission of New Members) मुख्य हैं।

(४) तदर्थ समितियाँ तथा आयोग (Ad Hoc Committees and Commissions) :

आवश्यकता पड़ने पर सामयिक तथा अस्थायी प्रश्नों पर विचार करने के लिये तदर्थ समितियों तथा आयोगों का गठन किया गया है। सुरक्षा परिषद् की तदर्थ समितियों तथा आयोगों में महत्त्वपूर्ण है—इण्डोनेशिया के प्रश्न पर सत्प्रयास समिति,

भारत तथा पाकिस्तान के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ आयोग, फिलिस्तीन के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध-विराम आयोग।

सुरक्षा परिषद् का सभापतित्व सदस्य-राज्यों में से अंग्रेजी वर्णक्रमानुसार प्रतिमाह बदलता रहता है।

सुरक्षा परिषद् के कार्य और शक्तियाँ

(Functions and Powers)

यदि महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ की संसद है तो सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यपालिका। चार्टर के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के क्षेत्र में प्राथमिक उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है। इस उत्तरदायित्व के अन्तर्गत अपने कर्तव्यों के पालन में, सुरक्षा परिषद् सभी सदस्य-राज्यों की ओर से कार्य करती है। अतः इस सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् को सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक अभिकर्ता माना जा सकता है। इसके कार्यों को मुख्यतया चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(१) विचारात्मक (Deliberative),

(२) प्रवर्तन (Enforcement),

(३) निर्वाचनिक (Elective), तथा,

(४) निरीक्षणात्मक (Supervisory)।

(१) विचारात्मक कार्य

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में यह प्रावधान है कि जब किसी विवाद से सम्बन्धित पक्ष अपना झगड़ा स्वयं निपटाने में असफल रहें और यदि सुरक्षा परिषद् यह देखे कि उस झगड़े के बने रहने से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिये संकट उत्पन्न हो सकता है, तब वह उन पक्षों से वार्ता (negotiation), जाँच (enquiry), मध्यस्थता (mediation), पंच-निर्णय (arbitration), संराधन (conciliation), न्यायिक समाधान (judicial settlement) या अन्य ऐसे ही शान्तिपूर्ण उपायों से विवादों को निपटाने के लिये कह सकती है। यदि विवाद से सम्बन्धित पक्ष शान्तिपूर्ण उपायों से अपने झगड़े का समाधान न कर सकें तो वे उस विषय को सुरक्षा परिषद् को सुपुर्द कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद् किसी विवाद या विषम स्थिति के समाधान के लिये उपयुक्त प्रक्रिया या समझौते की रीति अपनाने के लिये सिफारिश कर सकती है।

सुरक्षा परिषद् किसी विवाद अथवा किसी परिस्थिति की, जिसके परिणा... अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष या किसी अन्य विवाद के उठ खड़े होने की सम्भावना हो,

पड़ताल कर सकती है, ताकि वह निश्चित कर सके कि उस विवाद या परिस्थिति के जारी रहने से विश्वशान्ति पर खतरे की आशंका तो नहीं है।

विवाद से सम्बन्धित सभी पक्षों की ओर से प्रार्थना किये जाने पर सुरक्षा परिषद् झगड़े के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये पक्षों के सामने समझौते की शर्तों की सिफारिश कर सकती है।

चार्टर के अनुच्छेद ३९ में कहा गया है, "सुरक्षा परिषद् शान्ति के खतरे, शान्ति-भंग अथवा आक्रमण की घटना के अस्तित्व को निश्चित करेगी तथा वह सिफारिशें करेगी अथवा यह निर्णय करेगी कि अनुच्छेद ४१ तथा अनुच्छेद ४२ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा को कायम रखने अथवा उनकी पुनर्स्थापना के लिये कौन से कदम उठाये जायँ"। जब शान्तिपूर्ण समाधान के उपाय असफल हो जायँ तो चार्टर का यह प्रावधान वास्तविक प्रवर्तन कार्रवाई के लिये मार्गदर्शक बन जाता है।

चार्टर के अनुच्छेद २६ के अनुसार, सुरक्षा परिषद् को शस्त्रास्त्रों के विनियमन के लिये योजनायें तैयार करने का उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है।

(२) प्रवर्तन कार्य

यदि विवाद से सम्बन्धित पक्षों के बीच शान्तिपूर्ण समाधान की प्रक्रिया तथा सुरक्षा परिषद् की सिफारिशें—दोनों ही विवाद को निपटाने में असफल हो जायँ, तो सुरक्षा परिषद् यह निर्णय कर सकती है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने अथवा उनकी पुनर्स्थापना के लिये कौन से कदम उठाये जायँ। इसीलिये सुरक्षा परिषद् को प्रायः संयुक्त राष्ट्रसंघ का "प्रवर्तन अंग" (enforcement arm) कहा जाता है। इस सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् सबसे पहले उन उपायों का प्रयोग करती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग शामिल नहीं होता है। उदाहरण के लिये, आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतया या अंशतः समाप्त किया जा सकता है; रेल, समुद्र, डाक, तार, रेडियो तथा अन्य संचार-साधनों को भंग किया जा सकता है तथा राजनयिक सम्बन्ध-विच्छेद भी किया जा सकता है (अनुच्छेद ४१)। यदि यह अपर्याप्त हो तो सुरक्षा परिषद् जल, थल तथा वायु सेनाओं की सहायता से सैनिक कार्रवाई कर सकती है (अनुच्छेद ४२)। इस उत्तरदायित्व के पालन में सुरक्षा परिषद् द्वारा लिये गये निर्णय सभी सदस्य-राज्यों पर बन्धनकारी होते हैं।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों का यह दायित्व है कि वे सुरक्षा परिषद् की माँग पर, और यदि इस सम्बन्ध में कोई विशेष अनुबन्ध हों तो उन अनुबन्धों के आधार पर, अपनी सशस्त्र सेनायें तथा सुविधायें, जिनमें यातायात का मार्ग देना शामिल है, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना में योगदान करने हेतु प्रदान करे।

यह स्मरण करने योग्य है कि सुरक्षा परिषद् की प्रवर्तन शक्ति चार्टर के अनुच्छेद ५१ के अन्तर्गत व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार द्वारा सीमित है। यदि किसी सदस्य-राज्य पर सशस्त्र आक्रमण होता है, तो वह उस समय तक आत्मरक्षा के लिये सभी उपाय कर सकता है, जब तक कि सुरक्षा परिषद्–अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिये स्वयं कोई कार्रवाई न करे। आत्मरक्षा के लिये सदस्य-राज्य जो भी कार्रवाई करेंगे, उसकी सूचना तत्काल ही सुरक्षा परिषद् को दी जायेगी किन्तु इससे सुरक्षा परिषद् की सत्ता एवं उत्तरदायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

सुरक्षा परिषद् प्रवर्तन कार्रवाई के लिये प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों का भी उपयोग कर सकती है किन्तु प्रादेशिक अभिकरण सुरक्षा परिषद् के अनुमोदन के बिना किसी प्रकार की कार्रवाई नहीं कर सकते।

(३) निर्वाचनिक कार्य

(क) सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासभा द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों को प्रवेश प्राप्त होता है,

(ख) सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर ही महासभा किसी ऐसे सदस्य-राज्य, जिसके विरुद्ध रोधात्मक या प्रवर्तन कार्रवाई की जा रही हो, को निलम्बित कर सकती है। परन्तु केवल सुरक्षा परिषद् ही उस निलम्बित सदस्य-राज्य के अधिकारों तथा विशेषाधिकारों को पुनः प्रतिष्ठित कर सकती है,

(ग) सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर ही महासभा द्वारा किसी सदस्य-राज्य, जिसने चार्टर के नियमों का बार-बार उल्लंघन किया हो, को निष्कासित किया जा सकता है,

(घ) सुरक्षा परिषद् महासभा के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में भाग लेती है,

(च) महासचिव की नियुक्ति के लिये सुरक्षा परिषद् की संस्तुति आवश्यक है, तथा,

(छ) सुरक्षा परिषद् सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है।

(४) निरीक्षणात्मक कार्य

अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति के सम्बन्ध में चार्टर के अनुच्छेद ८३ में यह प्रावधान है कि सामरिक महत्त्व के क्षेत्रों से सम्बन्धित, तथा न्यासधारिता समझौतों की शर्तों के अनुमोदन से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्रसंघ के समस्त कार्यों को सुरक्षा परिषद् पूरा करेगी। वस्तुतः इन कार्यों को न्यास परिषद् सुरक्षा परिषद् के निरीक्षण में पूरा करती है।

उपसंहार

चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद् को जो शक्तियाँ प्रदान की गयी हैं, वे निश्चित रूप से आज तक की किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की शक्तियों से महत्तर हैं। इसका स्पष्टीकरण सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में अमरीकी प्रतिनिधि-मंडल के अध्यक्ष ने इस प्रकार किया था, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सुरक्षा परिषद् का कोई पूर्वोदाहरण नहीं है, यह परम्परागत संश्रय से भिन्न है तथा राष्ट्रसंघ परिषद् के असमान है" ("The Security Council is without precedent in international relations; it differs from the traditional alliance and is unlike the Council of the League of Nations.")।

"सुरक्षा परिषद् की शक्तियाँ इस प्रकार, वास्तविक अर्थ में, एक सर्वोच्च युद्धक-संगठन की शक्तियों के समान है" ("The Security Council's powers are thus equivalent, in substance, to those of a supreme war-making organisation.")।[1]

सुरक्षा परिषद् तथा निषेधाधिकार (Veto)

निषेधाधिकार क्या है

"निषेधाधिकार" (वीटो) एक प्रकार का निषेधात्मक मत है (यह स्मरण करने योग्य है कि "वीटो" (Veto) शब्द का संयुक्त राष्ट्र चार्टर में कहीं भी उल्लेख नहीं है)। चार्टर के अनुच्छेद २७ में सुरक्षा परिषद् की मतदान-प्रणाली का प्रावधान है जिसके अनुसार सुरक्षा परिषद् के प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक मत होता है। "प्रक्रिया-सम्बन्धी मामलों" (procedural matters) पर निर्णय सुरक्षा परिषद् के ९ सदस्य-राज्यों के स्वीकारात्मक मत से होता है, परन्तु अन्य समस्त विषयों अर्थात् महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख मामलों (nonprocedural matters) पर निर्णय के लिये ९ सदस्य-राज्यों के बहुमत मे ५ स्थायी सदस्य-राज्यों की सहमति का होना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद् मे विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान से सम्बन्धित मामलों पर, विवाद से सम्बन्धित पक्ष मतदान में भाग नहीं ले सकता है।

महत्त्वपूर्ण मामलो पर निर्णय के लिये ५ स्थायी सदस्य-राज्यों की सहमति की आवश्यकता महाशक्तियों की सर्वसम्मति के सिद्धान्त (principle of unanimity) पर आधारित है। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन मे ऐसा अनुभव किया गया कि स्थायी सदस्य-राज्यों के बीच मतैक्य के अभाव के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ टूट कर बिखर सकता है और इस विश्व संगठन की वही दशा हो सकती है जो राष्ट्रसंघ की

1. quoted in H. G. Nicholas, *The United Nations as a Political Institution*, p. 63.

हुई थी। विशेष रूप से, यह विश्वास व्यक्त किया गया था कि एक या अधिक महाशक्तियों के विरोध के कारण विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना के निमित्त बलप्रयोग के लिये सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। और न बड़े राज्यों की सरकारों से किसी ऐसे समझौते में भाग लेने की आशा की जा सकती है जिसके द्वारा उनकी सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग उनकी सहमति के बिना किया जा सके।

रोधात्मक या प्रवर्तन कार्यवाई करने के लिये सुरक्षा परिषद् के ५ स्थायी सदस्य-राज्यों की सर्वसम्मति एक पूर्वापेक्षा है जिसका समर्थन व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। यह सर्वविदित है कि आधुनिक विश्व-युद्ध करने के लिये प्रमुख औद्योगिक देशों को साधनों पर एकाधिकार प्राप्त है। यदि उनमें पर्याप्त मात्रा में सहयोग विद्यमान है तो बड़े पैमाने पर युद्ध का होना कठिन है। यदि उनमें मतभेद इस कदर तक है कि वे एक दूसरे से लड़ाई करने को तैयार हैं तो इसका स्पष्ट परिणाम तृतीय विश्व-युद्ध होगा। यदि सुरक्षा परिषद् को चार्टर द्वारा प्रदत्त अपने कार्यों को सम्पन्न करना है, तो स्थायी सदस्य-राज्यों के बीच सहयोग का होना अत्यन्त आवश्यक है। चूँकि सुरक्षा परिषद् के निर्णय एक मतदान प्रक्रिया द्वारा लिये जाते हैं, अतः किसी प्रस्ताव पर मतदान का परिणाम यह प्रदर्शित करता है कि उनमें आवश्यक सहमति है या नहीं। यदि सभी सदस्य-राज्य एक ही प्रकार से मत दें, तो यह प्रकट करता है कि वे उस प्रस्ताव के अन्तर्गत लिये गये निर्णयों से सहमत हैं। यदि कुछ सदस्य-राज्य किसी प्रस्ताव के समर्थन में तथा कुछ सदस्य-राज्य उस प्रस्ताव के विरोध में मत दें तो यह स्पष्ट करता है कि वे असहमत हैं तथा इसलिये वे उस प्रस्तावित कार्यवाई में सहयोग देने को तत्पर नहीं हैं। यदि चार स्थायी सदस्य-राज्य किसी प्रस्ताव के पक्ष में तथा एक स्थायी सदस्य-राज्य उस प्रस्ताव के विपक्ष में मत दें, तो वह प्रस्ताव अवरुद्ध हो जाता है अथवा विफल कर दिया जाता है। इसे ही "निषेधाधिकार" या "वीटो" कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, स्थायी सदस्य-राज्यों के बीच ऐसी स्थिति में मतैक्य का अभाव है। इस प्रकार पाँच महाशक्तियों (Big Five)-संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ तथा चीन–में से कोई भी प्रक्रिया-सम्बन्धी मामलों को छोड़कर सुरक्षा परिषद् के किसी भी प्रस्ताव को एकतरफा (unilaterally) रद्द कर सकता है।

दोहरा निषेधाधिकार (Double Veto)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रक्रिया-सम्बन्धी तथा महत्त्वपूर्ण [illegible] के लिये कोई प्रावधान नहीं है और न ही उन्हें परिभाषित करने का [illegible]

गया है।[1] वस्तुतः इस कठिनाई ने दोहरे निषेधाधिकार की समस्या को जन्म दिया है। सबसे पहले सुरक्षा परिषद् का कोई स्थायी सदस्य-राज्य निषेधाधिकार का प्रयोग कर सुरक्षा परिषद् में किसी प्रस्ताव को प्रक्रिया-सम्बन्धी बनने से रोक देता है, और बाद में पुनः निषेधाधिकार का प्रयोग कर उस प्रस्ताव को विफल कर देता है। इसे ही "दोहरा निषेधाधिकार" कहते हैं।

इसके अतिरिक्त, सुरक्षा परिषद् ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया है कि किसी बड़े राज्य की अनुपस्थिति मतदान में तटस्थ रहने (Abstention) के समान है और इसलिये उसे निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं माना जा सकता। सुरक्षा परिषद् ने कोरिया के संकट (जून १९५०) का सामना करने में इस दृष्टिकोण का पूरी शक्ति से समर्थन किया और यद्यपि सोवियत संघ ने इसका विरोध किया, तथापि सुरक्षा परिषद् अपने दृष्टिकोण पर अटल रही। सोवियत संघ की अनुपस्थिति के कारण ही सुरक्षा परिषद् उत्तरी कोरिया के आक्रमण के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने के लिये आवश्यक निर्णय ले सकी।

निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग

यद्यपि यह सत्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में सोवियत संघ ने ही सबसे अधिक वीटो का प्रयोग किया है, तथापि संयुक्त राज्य अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने भी अनेक अवसरों पर वीटो का प्रयोग कर सुरक्षा परिषद् में गतिरोध उत्पन्न किया है। ११ अगस्त, १९७५ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर संयुक्त राष्ट्रसंघ में उत्तरी तथा दक्षिणी वियतनाम के प्रवेश को अवरुद्ध कर दिया। २३ जून, १९७६ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया जिसके द्वारा अंगोला को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश मिलना था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने १६ नवम्बर, १९७६ को सुरक्षा परिषद् में पुनः अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर संयुक्त वियतनाम को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने से रोक दिया। २७ जनवरी, १९७६ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने सुरक्षा परिषद् में वीटो का प्रयोग कर फिलिस्तीन सम्बन्धी उस प्रस्ताव को पारित नहीं होने दिया जिसमें सुरक्षा परिषद् ने फिलिस्तीन में एक स्वाधीन राष्ट्र की स्थापना तथा इजरायल को उन सभी क्षेत्रों, जिन पर उसने १९६७

---

1. यह मान लिया गया है कि प्रक्रिया-सम्बन्धी विषयों में सुरक्षा परिषद् की बैठक के स्थान और समय का निर्धारण, कार्यसूची की स्वीकृति, आन्तरिक संगठन और क्रियाविधि नियमों का निर्माण, सहायक अंगों की स्थापना आदि शामिल हैं। 'रोधात्मक या प्रवर्तन कार्रवाई करना, संस्तुतियाँ करना स्पष्ट रूप से स्वभाव के अनुरूप महत्वपूर्ण हैं

के युद्ध में कब्जा कर लिया था, से हट जाने का समर्थन किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका ने २६ मार्च १९७६ को सुरक्षा परिषद् के उस प्रस्ताव पर वीटो का प्रयोग कर विफल कर दिया था जिसमें जेरुशलम में इजरायल की नीतियों पर खेद प्रकट किया गया था।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का बहुमत हो गया है और वे संयुक्त राज्य अमेरिका के इशारों पर चलने को तैयार नहीं होते। अतएव संयुक्त राज्य अमेरिका भी अब बात-बात में अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर बैठता है जो उसे पसन्द नहीं होते।

३० अक्टूबर, १९७४ को तीन पश्चिमी राष्ट्रों—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में पहली बार तिहरे निषेधाधिकार (triple veto) का प्रयोग कर उस प्रस्ताव को रद्द कर दिया जिसमें संयुक्त राष्ट्रसंघ से दक्षिण अफ्रीका के निष्कासन की माँग की गयी थी। ७ जून, १९७५ को संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा परिषद् में दूसरी बार तिहरे निषेधाधिकार का प्रयोग कर उस प्रस्ताव को विफल कर दिया जिसमें दक्षिण अफ्रीका को शस्त्र-आपूर्ति पर रोक लगायी गयी थी। २० अक्टूबर, १९७६ को विकासशील देशों के दक्षिण अफ्रीका को आर्थिक सहायता बन्द करने के प्रस्ताव पर संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने तीसरी बार तिहरे निषेधाधिकार का प्रयोग किया।

इसी प्रकार चीन ने अपने वीटो का प्रयोग कर संयुक्त राष्ट्रसंघ में बंगला देश के प्रवेश को अवरुद्ध कर दिया था।

निषेधाधिकार के विपक्ष में तर्क

(१) निषेधाधिकार के विरुद्ध प्रथम आपत्ति तो यही है कि यह सभी सदस्य-राज्यों की "प्रभुसत्ताक समानता" के सिद्धान्त का अतिक्रमण करता है। यह सुरक्षा परिषद् को दुर्बल बना देता है क्योंकि उसे अपने कार्यों को पूरा करने के लिये आवश्यक निर्णय लेने में कठिनाई होती है। लघु राज्यों ने इन्हीं आधारों पर सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में वीटो का विरोध किया था। महासभा के प्रत्येक अधिवेशन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के लघु सदस्य-राज्यों ने वीटो की आलोचना की है तथा वीटो के प्रयोग को सीमित करने अथवा उसे निकाल देने के लिये बहुत से प्रस्ताव पेश किये हैं।

(२) निषेधाधिकार के व्यापक प्रयोग की आलोचना करते हुए सिलोन के प्रतिनिधि ने महासभा में ठीक ही कहा था, "निषेधाधिकार एक दानव है...... यह संयुक्त राष्ट्रसंघ में समस्त कार्यवाहियों में बाधा डालता है...... इस कारण से यह समस्त मानवजाति के भाग्य को खतरे में डाल देता है......

("The 'veto' is a Frankenstein......It prevents all practical results in the United Nations,.........it therefore endangers the fate of all mankind......")। उसने आगे कहा,—"हम इस कटु-सत्य को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने वर्तमान रूप में मानव-जाति को युद्ध की महाविपत्ति से रक्षा करने में असमर्थ है" ("Why do we not admit the plain fact that the United Nations as now constructed is incapable of freeing mankind from the scourge of war.")।[1]

(३) निषेधाधिकार ने चार्टर में स्थापित सामूहिक सुरक्षा-पद्धति को ठप कर दिया है तथा इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे कार्यों को पूरा करने में बाधा डाला है। वस्तुतः इसने गुटों के निर्माण को बढ़ावा दिया है तथा इसके कारण अनेक प्रादेशिक सुरक्षा अभिकरणों यथा नाटो, सीटो, सेन्टो आदि का गठन हुआ है।

(४) निषेधाधिकार के कारण ही रोडेशिया में इयान स्मिथ तथा दक्षिण अफ्रीका में जान वोरस्टर की अल्पसंख्यक गोरी सरकारें अभी तक बनी हुई हैं। वस्तुतः निषेधाधिकार ने इन अल्पसंख्यक गोरी सरकारों को संरक्षण प्रदान किया है।

(५) निषेधाधिकार के दुरुपयोग के कारण यह सम्भव है कि किसी स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य को कई वर्षों तक संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश न मिल सके। यह सम्भव है कि सुरक्षा परिषद् का कोई स्थायी सदस्य-राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी ऐसे सदस्य-राज्य, जो चार्टर के नियमों का बारम्बार उल्लंघन कर रहा हो, को निलम्बित और निष्कासित होने से अपने निषेधाधिकार का दुरुपयोग कर रोक दे। यह भी सम्भव है कि कोई स्थायी सदस्य-राज्य अपने निषेधाधिकार के प्रयोग का भय दिखाकर चार्टर में आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण संशोधन न होने दे। आज भी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश न मिलने के कारण कुछ राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश प्राप्त नहीं हो सका है।

(६) निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने में तथा विश्वशान्ति की स्थापना में करीब-करीब अशक्त और पंगु हो गयी है। शीत-युद्ध के दुर्भाग्यपूर्ण वातावरण में कुछ महाशक्तियाँ अपने निषेधाधिकार का दुरुपयोग कर सुरक्षा परिषद् में गतिरोध पैदा करना प्रतिष्ठा का प्रतीक मानती हैं। न्यूजीलैण्ड के प्रतिनिधि ने महासभा में यह दृढ़ता से कहा था, "सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में पाँच महाशक्तियों ने निषेधाधिकार पर जोर दिया,.........शेष राज्यों पर यह बलपूर्वक लाद दिया गया। चार्टर से निषेधाधिकार की शादी बन्दूक की नोक पर की

1. quoted in L. Larry Leonard, *International Organisation*, p. 206.

गयी शादी के समान थी। यदि इस विषय को सम्मेलन में प्रतिनिधियों के निर्बाध और स्वच्छन्द मत पर छोड़ दिया जाता, तो यह निर्विवाद रूप से विफल कर दिया गया होता" ("the veto power was insisted upon by the five Great Powers at San Francisco,······it was forced upon the remainder. The marriage of the veto to the Charter was a shot-gun wedding. If this matter had been left to the free and untrammelled vote of the delegates at the Conference, it would unquestionably have been defeated.")।[1] अन्त में, फिलिपीन के प्रतिनिधि के शब्दों में, "हमारे सामने एक विकल्प था। या तो हम चार्टर को वीटो सहित स्वीकार कर सकते थे या फिर हमें चार्टर ही प्राप्त नहीं होता। इसका परिणाम यह हुआ कि हमें वीटो सहित चार्टर को स्वीकार करना पड़ा।"

निषेधाधिकार के पक्ष में तर्क

(१) कुछ अधिकारी विद्वानों के अनुसार चूँकि सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य-राज्यों को शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के क्षेत्र में प्राथमिक उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है, इस कारण से किसी भी स्थायी सदस्य-राज्य को सुरक्षा परिषद् के मत द्वारा ऐसी कार्यवाई का अनुगमन करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता है जिससे वह स्वयं असहमत है। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन की यह मान्यता थी कि संयुक्त राष्ट्रसंघ महाशक्तियों के बीच सहमति और एकता के अभाव में कभी भी सफल नहीं हो सकता है।

(२) निषेधाधिकार अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान में भी सहायक हुआ है। सुरक्षा परिषद् में जब कश्मीर के प्रश्न पर ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान का समर्थन किया तो सोवियत संघ ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर इस स्थिति को और खराब होने से बचा लिया।

(३) निषेधाधिकार को समाप्त कर देने से ही महाशक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न इससे किसी समस्या का हल निकाला जा सकता है। इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ में भारत के भूतपूर्व स्थायी प्रतिनिधि श्री समर सेन ने कहा है कि हमें संयुक्त राष्ट्रसंघ में स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना करनी चाहिये ताकि निषेधाधिकार का प्रयोग केवल रचनात्मक कार्यों के लिये किया जा सके और न कि विनाशक उद्देश्यों के लिये।

(४) फिलिप सी० जेसुप (Philip C. Jessup) ने New York Times Magazine (२३ अक्टूबर, १९४९) में लिखा है कि, "निषेधाधिकार एक सुरक्षा-

1. quoted in L. Larry Leonard, *International Organisation*, pp. 202-203.

वाल्व है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ को राजनीतिक क्षेत्र में ऐसी वचनबद्धताओं का भार अपने ऊपर लेने से रोकता है जिनको पूरा करने की इस समय उसमें शक्ति नहीं है" ("the veto is......the safety-valve that prevents the United Nations from undertaking commitments in the political field which it presently lacks the power to fulfill.") । प्रो० इनिस क्लाउड ने (Inis Claude, *Swords into Plowshares : The Problems and Progress of International Organisation*) भी निषेधाधिकार को एक सुरक्षा-वाल्व (safety-valve) माना है ।

उपसंहार

संयुक्त राष्ट्रसंघ की वास्तविक समस्या अपने सदस्य-राज्यों के बीच, और विशेष रूप से महाशक्तियों के बीच यथेष्ट मात्रा में सहयोग का विकास है । जब तक सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य-राज्यों के बीच तनाव और द्वन्द्व को दूर नहीं किया जाता, तब तक वीटो की समस्या का कोई भी हल पर्याप्त नहीं माना जा सकता ।[1]

---

1. Vandenbosch and Hogan, *The United Nations*, p. 150

१५

आर्थिक और सामाजिक परिषद्

(Economic and Social Council)

संगठन

आर्थिक और सामाजिक परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ के छः प्रधान अंगों में से एक है जो महासभा के प्राधिकार के अधीन अपने कार्यों को सम्पादित करती है। इसका संक्षिप्त नाम ECOSOC है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत आर्थिक, सामाजिक तथा मानवतावादी विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास के लिये आर्थिक और सामाजिक परिषद् को विशिष्ट उत्तरदायित्व प्रदान किये गये हैं तथा इन विषयों पर यह परिषद् महासभा को वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। यह स्मरण करने योग्य है कि राष्ट्रसंघ के अधीन इस प्रकार के कार्य को पूरा करने का उत्तरदायित्व राजनीतिक अंगों (सभा तथा परिषद्) में निहित था। फलतः आर्थिक और सामाजिक कार्यकलापों को न केवल एक गौण स्थान प्राप्त था बल्कि वे राजनीतिक विचारों से अत्यधिक प्रभावित भी होते रहते थे।[1]

निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये आर्थिक और सामाजिक परिषद् की स्थापना मुख्य समन्वयी अभिकरण (coordinating agency) के रूप में की गयी है :—

(अ) *उच्च जीवन-स्तर, पूर्ण रोजगार, तथा आर्थिक और सामाजिक प्रगति एवं* विकास की अवस्थायें;

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य और तत्सम्बन्धी समस्याओं का समाधान तथा अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शिक्षा-सम्बन्धी सहयोग; एवं

(स) जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव किये बिना मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं के लिये सम्मान-भाव की अभिवृद्धि तथा सर्वत्र उनका पालन।

मूल व्यवस्था के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद् में १८ सदस्य होते थे परन्तु १९६५ में चार्टर में संशोधन कर इसके लिये २७ सदस्यों की व्यवस्था की गयी। पुनः महासभा के १९७१ के प्रस्ताव के अनुसार संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ६१ को संशोधित करके परिषद् के सदस्यों की संख्या ५४ कर दी गयी है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सदस्यों का निर्वाचन महासभा द्वारा [illegible]

1. The Economic and Social Council is provided for in Article 61 [illegible] Charter of the United Nations.

वर्ष की अवधि के लिये होता है। अवधि पूरी होने पर किसी भी सदस्य को पुनः निर्वाचित किया जा सकता है (अनुच्छेद ६१)। सुरक्षा परिषद् की भाँति इस परिषद् में स्थायी सदस्यों की व्यवस्था नहीं है किन्तु पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था के कारण विश्व की महाशक्तियाँ तथा मुख्य औद्योगिक राष्ट्र बारम्बार निर्वाचित होकर एक प्रकार से व्यवहार में इसके स्थायी सदस्य हो गये हैं। इसके अतिरिक्त, यह भी प्रयास किया जाता है कि विश्व की विभिन्न अर्थ-व्यवस्थाओं तथा विविध हितों को इस परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त हो।

महासभा की तरह इस परिषद् में सभी सदस्यों की समान स्थिति है। प्रत्येक सदस्य-राष्ट्र को इस परिषद् में एक प्रतिनिधि भेजने तथा एक मत (वोट) का अधिकार है। साधारणतः, वर्ष में दो बार परिषद् का अधिवेशन होता है तथा साधारण बहुमत द्वारा कोई भी प्रस्ताव पारित होता है। यह परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा किये जानेवाले आर्थिक और सामाजिक कार्यों के लिये महासभा के समक्ष उत्तरदायी होती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने अपने कार्यों को सम्पन्न करने के लिये अनेक सहायक अभिकरणों तथा आयोगों की स्थापना की है जो इस प्रकार हैं:—

क्षेत्रीय आर्थिक आयोग :—(१) यूरोप के लिये आर्थिक आयोग (ECE); (२) एशिया तथा सुदूर पूर्व के लिये आर्थिक आयोग (ECAFE); (३) लैटिन अमरीका के लिये आर्थिक आयोग (ECLA) तथा (४) अफ्रिका के लिये आर्थिक आयोग (ECA)।

कार्यात्मक आयोग :—(१) सांख्यिकी आयोग; (२) जनसंख्या अयोग; (३) परिवहन तथा संचार आयोग; (४) सामाजिक आयोग; (५) स्त्रियों की स्थिति सम्बन्धी आयोग; (६) मूर्च्छाकारी औषध-आयोग; (७) मानव अधिकार आयोग—तथा भेदभाव के निवारण एवं अल्पसंख्यकों की सुरक्षा सम्बन्धी उप-आयोग; तथा (८) अन्तर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग। इन आयोगों के अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिषद् स्थायी समितियों, अस्थायी समितियों तथा विशेषज्ञ-समितियों के माध्यम से भी अपना कार्य करती है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् के कार्य और शक्तियाँ

(Functions and Powers of ECOSOC)

यदि सुरक्षा परिषद् का उद्देश्य विश्व को भय (fear) से मुक्त करना है तो आर्थिक और सामाजिक परिषद् का लक्ष्य इस विश्व को अभाव, दरिद्रता, अज्ञानता तथा रोग से छुटकारा दिलाना है।

वानडेनबोच तथा होगन (Vandenbosch and Hogan) ने आर्थिक और सामाजिक परिषद् के निम्नलिखित कार्यों और शक्तियों पर प्रकाश डाला है[1] :—

(१) **अध्ययन तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करना (studies and reports)** :— आर्थिक और सामाजिक परिषद् का यह कार्य चार्टर के अनुच्छेद ६२ द्वारा प्राधिकृत है। इस व्यवस्था के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा-सम्बन्धी, स्वास्थ्य एवं तत्सम्बन्धी मामलों का अध्ययन कर सकती है तथा उन पर प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकती है। यह आश्चर्य की बात है कि सम्पूर्ण विश्व की आर्थिक तथा सामाजिक अवस्थाओं के बारे में प्रामाणिक तथ्यों की बहुत कमी है। विश्व के कई देशों में न तो सही जनगणना हुई है और न तो उनकी उत्पादन क्षमता, संसाधन तथा सामाजिक जीवन के बारे कोई विश्वसनीय जानकारी है। इस दृष्टि से इस परिषद् द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रामाणिक तथ्यों का एकत्रीकरण और अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने समय-समय पर विश्व-शरणार्थी समस्या, विश्व-स्तर पर गृह की कमी, युद्ध से ध्वस्त क्षेत्रों के पुनर्निर्माण तथा महिलाओं की आर्थिक स्थिति जैसी अनेकानेक समस्याओं के सम्बन्ध में अध्ययन किया है।

जटिल मानवीय तथा सामाजिक समस्याओं के समाधान में प्रामाणिक तथ्यों का निरूपण कितना महत्वपूर्ण हो सकता है यह इस एक उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा। द्वितीय महायुद्ध में लाखों व्यक्ति लापता हुए थे। इन लापता व्यक्तियों सम्बन्धी अनेक व्यावहारिक समस्यायें थीं; यथा उनकी सम्पत्ति, उत्तराधिकार के प्रश्न कैसे निपटाये जायें, पीछे बचे हुए पति या पत्नी यदि पुनर्विवाह करना चाहें, जीवन-बीमा के भुगतान आदि—सभी इस बात पर निर्भर करते थे कि वे केवल लापता हैं या मृत घोषित कर दिये जायें। इस विकट समस्या का सम्बन्ध विश्व के अधिकांश देशों से था। इन लापता व्यक्तियों को कानूनी रूप से मृत घोषित करने के लिये एक सर्वमान्य मानक (common standard) की अत्यन्त आवश्यकता थी, और सर्वमान्य मानक स्थिर करने से पूर्व तत्सम्बन्धी प्रामाणिक तथ्यों की जानकारी अनिवार्य थी। आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा तैयार "लापता व्यक्तियों की मृत्यु सम्बन्धी घोषणा का प्रारूप" (The Draft Declaration on the Death of Missing Persons) ने इस समस्या के निराकरण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में इस प्रकार के प्रारूपों का अत्यन्त महत्व है तथापि कई तकनीकी

1. *The United Nations*, pp. 155-158.

तथा राजनीतिक कारणों से इस परिषद् को इन तथ्यों के संग्रह में महान् कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् के तत्त्वावधान में तैयार किये गये अध्ययन और प्रतिवेदन अनेकानेक तरह से बहुत उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(२) **विचार-विमर्श तथा संस्तुतियाँ** (discussion and recommendations):—चार्टर के अनुच्छेद ६२ के पैरा १ में यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद् महासभा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों तथा विशिष्ट अभिकरणों को किन्हीं विषयों (आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि) पर सिफारिशें कर सकती है। इसी प्रकार यह परिषद् मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान बढ़ाने एवं उनके पालन के लिये सिफारिशें कर सकती है। यह स्मरण करने योग्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के इस अंग को ऐसे निर्णय लेने का अधिकार नहीं है जो सदस्य-राज्यों अथवा दूसरे अंगों के लिये बन्धनकारी हो सके। इसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लेने के आधार पर ही इसके प्रभाव का मापन किया जा सकता है। वस्तुतः यह परिषद् मनाने-समझाने की रीति ही काम में ला सकती है, बलप्रयोग नहीं।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले विषयों पर महासभा में प्रस्तुत करने के लिये अभिसमयों का प्रारूप (draft conventions) तैयार कर सकती है। इसके अतिरिक्त अपने अधिकार-क्षेत्र में आनेवाले विषयों पर, संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार, आर्थिक और सामाजिक परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकती है। परिषद् ने प्रारंभ से ही कुछ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन महासभा के आदेश पर[1] तथा कुछ अपनी स्वयं के पहल पर बुलाया है।[2] सामान्य समस्याओं पर इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में आर्थिक और सामाजिक परिषद् द्वारा विचार-विमर्श अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है।

(३) **समन्वय या तालमेल** (coordination):—आर्थिक और सामाजिक परिषद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य समन्वय है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों से सम्बन्धित है। चार्टर के अनुच्छेद ५७ के अनुसार, "अन्तर-सरकारी अनुबन्ध द्वारा स्थापित, अपनी आधारभूत प्रपत्रों में परिभाषित, तथा आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा तत्सम्बन्धी क्षेत्रों में व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय

1. For example, the Conference on Freedom of Information, Geneva, 1948
2. For example, the International Health Conference, New York, 1946, World Statistical Congress, Washington, 1947, United Nations Conference on Trade and Employment, Havana, 1947.

उत्तरदायित्व रखने वाले विविध विशिष्ट अभिकरणों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध किया जायेगा......" (the various specialised agencies, established by intergovernmental agreement and having wide international responsibilities, as defined in their basic instruments, in economic, social, cultural, educational, health, and related fields, shall be brought into relationship with the United Nations.........") । आर्थिक और सामाजिक परिषद् विशिष्ट अभिकरणों से समझौते कर सकती है तथा इसने कई अवसरों पर विशिष्ट अभिकरणों से समझौते सम्पन्न किये हैं, यथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO), संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति सम्बन्धी संगठन (UNESCO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO), विश्व-डाक-संघ ((UPU), पुनर्निर्माण और विकास का अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD), अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF) आदि । यह परिषद् इन विशिष्ट अभिकरणों को परामर्श देकर तथा सिफारिशें करके उनके कार्यकलापों में तालमेल रख सकती है । परिषद् विशिष्ट अभिकरणों से नियमित तथा विशेष प्रतिवेदन प्राप्त करने के लिये कदम उठा सकती है तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों एवं विशिष्ट अभिकरणों के अनुरोध पर अपनी सेवायें प्रदान कर सकती है । इसके अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिषद् गैरसरकारी संगठनों (nongovernmental organisations) से सीधे बातचीत कर सकती है ।[1]

निष्कर्ष

आर्थिक और सामाजिक परिषद् की एक निरर्थक संस्था के रूप में काफी आलोचना की गयी है, क्योंकि यह महासभा के अधीनस्थ है, इसलिये यह महासभा के कार्यों को संपूरण करने की अपेक्षा उनकी पुनरावृत्ति करती है । इसे कभी-कभी किसी गाड़ी का पाँचवाँ पहिया (*the fifth wheel on the wagon*) कहा जाता है ।

---

1. Article 71 of the Charter states that "the Economic and Social Council may make suitable arrangements for consultation with non-governmental organisations which are concerned with matters within its competence." Among the non-governmental organisations include the International Chamber of Commerce, the International Federation of Agricultural Producers, the International Confederation of Free Trade Unions, the International cooperative Alliance, the International Organisation of Employers many others.

न्यास परिषद्

(Trusteeship Council)

संगठन

न्यास-परिषद् वह अंग है जिसके माध्यम से संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यासधारिता कार्यों को सम्पन्न किया जाता है तथा जो चार्टर के अनुच्छेद ८७ के अनुसार महासभा के प्राधिकार के अधीन कार्य करती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक प्रधान अंग के रूप में, न्यास-परिषद् राष्ट्रसंघ के स्थायी प्रादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह परिषद् सामरिक महत्व के न्यस्त प्रदेशों (strategic trust territories) के प्रशासन के निरीक्षण में सुरक्षा परिषद् के एक सहायक अंग के रूप में तथा असामरिक महत्त्व के न्यस्त क्षेत्रों के प्रशासन की देखरेख में महासभा के सहायक अंग के रूप में कार्य करती है।

न्यास-परिषद् का गठन राष्ट्रसंघ के स्थायी प्रादेश आयोग से बिलकुल ही भिन्न है। परिषद् का गठन सदस्य-राज्यों से मिलकर होता है जबकि प्रादेश आयोग के सदस्य विशेषज्ञ (experts) होते थे जिनकी नियुक्ति राष्ट्रसंघ परिषद् करती थी और जो अपनी सरकारों के प्रतिनिधि नहीं होते थे। निस्सन्देह अधिक मात्रा में इसी भिन्नता के कारण ही न्यास परिषद् को प्रादेश आयोग की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली माना जाता है। किन्तु इसके साथ ही परिषद् की प्रकृति राजनीतिक भी है। यद्यपि परिषद् के विचार-विमर्श में न्यस्त प्रदेशों के निवासियों के हितों को सर्वप्रमुखता दी जानी चाहिये किन्तु व्यवहार में सदैव ऐसा नहीं हुआ है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों की तरह परिषद् का प्रयोग कभी-कभी सिद्धान्तवादी प्रचार का वाक्पीठ (a forum for ideological propaganda) के रूप में किया गया है। यद्यपि चार्टर में परिषद् के लिये स्वतंत्र विशेषज्ञों की व्यवस्था नहीं है, फिर भी यह आशा की जाती है कि सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि औपनिवेशिक समस्याओं के विशेषज्ञ होंगे, क्योंकि चार्टर के अनुच्छेद ८६ में यह प्रावधान है कि प्रत्येक सदस्य-राज्य परिषद् के लिये "एक विशेष रूप से योग्य व्यक्ति" को प्रतिनिधि बनाकर भेजेगा ("Each member of the Trusteeship Council shall designate one specially qualified person to represent it therein.")।

अन्य परिषदों (सुरक्षा परिषद् तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद्) के विपरीत, न्यास-परिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं है। वस्तुतः इसके सदस्यों की संख्या तथा इसका गठन समझौतों (agreements) तथा इन समझौतों के पक्षों (parties) पर निर्भर करता है। संक्षेप में, न्यास-परिषद् के सदस्यों को तीन वर्गों में रखा जा सकता है :—

(१) वे सभी सदस्य जो न्यस्त क्षेत्रों पर प्रशासन करते हों (all members administering trust territories);

(२) सुरक्षा परिषद् के वे स्थायी सदस्य, जो न्यस्त प्रदेशों का प्रशासन नहीं करते (such of the permanent members of the Security Council as are not administering trust territories); तथा

(३) महासभा द्वारा तीन वर्षों के लिये निर्वाचित वे सदस्य जो, न्यस्त प्रदेशों पर प्रशासन करने वाले और प्रशासन न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिये, आवश्यक हों (a number of members elected for three year terms by the General Assembly as may be necessary to equalise the number of members who administer and those who do not administer trust territories)।

न्यास-परिषद् के प्रत्येक सदस्य को एक वोट देने का अधिकार होता है। यद्यपि सुरक्षा परिषद् के सभी स्थायी सदस्य न्यास-परिषद् के भी स्थायी सदस्य होते हैं, किन्तु उन्हें यहाँ 'वीटो' प्राप्त नहीं है। परिषद् में निर्णय उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत से होता है।

न्यास-परिषद् की बैठक वर्ष में दो बार होती है (अधिकतर फरवरी और जुलाई में)। किन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसकी विशेष बैठकें (सुरक्षा परिषद्, महासभा या आर्थिक और सामाजिक परिषद् के अनुरोध पर) भी होती हैं। परिषद् के अधिकारियों में एक अध्यक्ष (President) तथा एक उपाध्यक्ष (Vice President) होते हैं जिनका चुनाव परिषद् के सदस्यों के प्रतिनिधियों में से होता है। अनेक वर्षों तक इस परिषद् के वर्ष में दो सत्र होते थे किन्तु विगत कुछ वर्षों से इस परिषद् का केवल एक ही सत्र हो रहा है। न्यास-परिषद् ने १९४६ में अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

जिन न्यस्त प्रदेशों से न्यास-परिषद् का सम्बन्ध रहा है, उनकी संख्या ११ है जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

प्रदेश	प्रशासी प्राधिकारी	पूर्व स्थिति
केमेरून्स	ग्रेटब्रिटेन	लीग मैनडेट (B)
टोगोलैण्ड	ग्रेटब्रिटेन	लीग मैनडेट (B)
टैंगानिका	ग्रेटब्रिटेन	लीग मैनडेट (B)
केमेरून्स	फ्रांस	लीग मैनडेट (B)
टोगोलैण्ड	फ्रांस	लीग मैनडेट (B)
रूआण्डी-उरुण्डी	वेल्जियम	लीग मैनडेट (B)
नौरू	ऑस्ट्रेलिया	लीग मैनडेट (C)
न्यू गायना	ऑस्ट्रेलिया	लीग मैनडेट (C)
पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड	लीग मैनडेट (C)
प्रशान्त द्वीप	संयुक्त राज्य अमेरिका	लीग मैनडेट (C)
सोमालीलैण्ड	इटली	इटली का उपनिवेश

सोमालीलैण्ड को छोड़कर उपर्युक्त सभी क्षेत्र राष्ट्रसंघ के अधीन प्रादेशाधीन प्रदेश थे। दक्षिण अफ्रीका, जिसने राष्ट्रसंघ के अधीन एक प्रादेशप्राप्त राज्य के रूप में कार्य किया था, ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका को संयुक्त राष्ट्रसंघ न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत रखने से अस्वीकार कर दिया। महासभा ने कई बार दक्षिण अफ्रीका से इस प्रदेश को न्यासधारिता पद्धति के अधीन रखने के लिये अनुरोध किया किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इसकी सदैव ही अवहेलना की है। वैसे दक्षिण अफ्रीका के इस व्यवहार की वैधता या अवैधता के सम्बन्ध में काफी विवाद हुआ है। महासभा ने १९४६, १९४७ तथा १९४८ में दक्षिण अफ्रीका से इसके लिये न्यासधारिता समझौता करने की प्रार्थना की और अन्त में महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा दक्षिण अफ्रीका के अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्यों के प्रश्न पर सलाहकारी मत देने के लिये अनुरोध किया। ११ जुलाई १९५० को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना सलाहकारी मत देते हुए स्पष्ट किया कि : (१) महासभा इस प्रदेश के प्रशासन के सम्बन्ध में निरीक्षणात्मक कार्यों के प्रयोग के लिये, जिसे पहले राष्ट्रसंघ ने प्रयोग किया था, विधितः योग्यता प्राप्त है तथा दक्षिण अफ्रीका का इसे महासभा के नियंत्रण तथा पर्यवेक्षण में रखने एवं उन्हीं वार्षिक प्रतिवेदनों तथा याचिकाओं को प्रस्तुत करने का, जिन्हें वह राष्ट्रसंघ को प्रस्तुत करती थी, कर्तव्य है, तथा (२) चार्टर की व्यवस्थायें इस प्रदेश को न्यासधारिता पद्धति के अधीन रखने के लिये दक्षिण अफ्रीका पर कानूनी बाध्यता (legal obligation) नहीं लगाती हैं।[1]

1. *"International Status of South-West Africa"*, Advisory Opinion, July 11, 1950, I. C. J. Reports, 1950, p. 19.

न्यास परिषद् की शक्तियाँ

(Powers of the Trusteeship Council)

न्यास-परिषद् की शक्तियाँ तीन प्रकार की हैं। चार्टर के अनुच्छेद ८७ तथा ८८ द्वारा इन शक्तियों पर प्रकाश डाला गया है। ये निम्न हैं :—

(१) प्रशासी प्राधिकारी द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार करना (considering reports submitted by the administering authority);

(२) याचिकाओं को स्वीकार करना तथा उनका परीक्षण करना (accepting and examining petitions); तथा

(३) न्यस्त प्रदेशों की परिस्थितियों की जाँच करने के लिये शिष्टमण्डल भेजना (sending missions to investigate conditions in the trust territories)।

अब हम न्यास-परिषद् की प्रत्येक शक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन कर सकते हैं :

(१) प्रत्येक प्रशासी प्राधिकारी को अपने अधीन न्यस्त प्रदेशों के प्रशासन के सम्बन्ध में एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करना पड़ता है। इस प्रतिवेदन की तैयारी में प्रशासी प्राधिकारी को अपने प्रशासन के अधीन न्यस्त प्रदेशों के निवासियों के आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और शिक्षासम्बन्धी प्रगति पर न्यास परिषद् द्वारा निर्मित प्रश्नमाला (questionnaire)[1] का अनुसरण करना पड़ता है। *विशिष्ट अभिकरणों को इन वार्षिक प्रतिवेदनों का अध्ययन करने तथा सुझाव* देने के लिये आमंत्रित किया जाता है। जब परिषद् वार्षिक प्रतिवेदन का परीक्षण करती है तो प्रशासी प्राधिकारी के एक विशेष प्रतिनिधि को बुलाया जाता है ताकि वह इसका मौखिक स्पष्टीकरण तथा बारीक प्रश्नों का उत्तर दे सके। इस परीक्षण तथा सामान्य विमर्श के बाद परिषद् अपने प्रतिवेदन का प्रारूप तैयार करती है जो असामरिक महत्व के न्यस्त प्रदेशों और क्षेत्रों के सम्बन्ध में महासभा को दी जाने वाली वार्षिक प्रतिवेदन में तथा सामरिक महत्व के न्यस्त क्षेत्रों के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद् को दी जाने वाली वार्षिक प्रतिवेदन में सम्मिलित कर ली जाती है। न्यस्त प्रदेशों की परिस्थितियों पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त प्रत्येक प्रतिवेदन में परिषद् के निष्कर्ष तथा संस्तुतियाँ तथा सदस्यों के व्यक्तिगत विचार भी होते हैं।

(२) न्यास-परिषद् "याचिकाओं को स्वीकार कर प्रशासी प्राधिकारी के साथ परामर्श करते हुए उनका परीक्षण करने" के लिये भी चार्टर द्वारा प्राधिकृत है। परिषद् के क्रियाविधि नियमों के अनुसार याचिकाओं को, एक सामान्य नियम के रूप में, लिखित रूप में ही प्रस्तुत किया जा सकता है, यद्यपि कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हें मौखिक रूप में भी दिया जा सकता है।

1. इस प्रश्नमाला में लगभग २५० प्रश्न होते हैं।

परिषद् के समक्ष प्रस्तुत याचिकाओं में कई प्रकार के विषय रहते हैं जिनमें भूमि सम्बन्धी स्वामित्व, सम्पत्ति सम्बन्धी दावा, नागरिक और मानव अधिकारों का न मिलना, जातिभेद, अपर्याप्त शिक्षा-सम्बन्धी सेवायें तथा स्थानीय प्रशासन में मूल निवासियों द्वारा अधिक से अधिक सहभागिता के लिये अपीलें मुख्य हैं।[1]

(३) अन्त में, न्यास परिषद् प्रशासी प्राधिकारी के साथ जैसा निश्चित हुआ हो, न्यस्त प्रदेशों में समय-समय पर भ्रमण का प्रबन्ध कर सकती है। इस प्रकार की शक्ति स्थायी प्रादेश आयोग को राष्ट्रसंघ परिषद् में औपनिवेशिक शक्तियों के विरोध के कारण कभी भी प्राप्त नहीं हुआ था। वस्तुतः न्यास परिषद् ने न्यस्त प्रदेशों के प्रशासन के गुण का मूल्याकन करने तथा वहाँ की समस्याओं एवं परिस्थितियों के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष सूचना प्राप्त करने के लिये इस शक्ति का नियमित और प्रभावपूर्ण प्रयोग किया है।

समय-समय पर भ्रमण करने वाले मिशनों (missions) ने विविध न्यस्त प्रदेशों के प्रशासन के निरीक्षण में न्यास-परिषद् के कार्य में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, यद्यपि उनके संगठन तथा कार्य करने के तरीकों में सुधार की आवश्यकता रही है। इस सम्बन्ध में महासभा ने १९५० में एक प्रस्ताव पारित कर उनके संगठन तथा कार्य-पद्धतियों में सुधार के लिये कई सुझाव दिये थे। महासभा का मत था कि यदि मिशन एक बार में कम से कम प्रदेशों का भ्रमण करें तथा प्रत्येक प्रदेश में अधिक से अधिक समय व्यतीत करें तो उनका कार्य अधिक प्रभावकारी हो सकता है।[2]

मूल्यांकन

औपनिवेशिक प्रदेशों को राजनीतिक स्वतंत्रता दिलाने में तथा ऐसे महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा करने के होते हुए भी न्यास-परिषद् आलोचना से मुक्त नहीं है।

1. Many of the petitioners present personal grievances. For instance, Mr. H. O. Kallaghe, of Sumbawanga-Ulike in Tanganyika, claimed the return of a dowry from his wife He was forced to divorce her, he said, "without any specific reason." See *The United Nations* by Amry Vandenbosch and Willard N. Hogan, p. 174.
2. The purpose underlying the Trusteeship Council is revealed in the following statement by Dr. Ralph Bunche, "The Trusteeship Council is designed to be a more important and effective organ than the Permanent Mandates Commission of the League.. .... It should prove better equipped than was the Mandates Commission to deal with the political problems which constitute so large a portion of the problems of the trust territories The prestige and authority of the Trusteeship Council should certainly be greater than that enjoyed by the Mandates Commission, and its recommendations should carry correspondingly more weight."

वास्तव में न्यास-परिषद् को, जैसा कि प्रो० लियोनर्ड (Prof. Leonard) ने कहा है, संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों की तरह विश्व-संकट तथा अत्यधिक तनाव की अवस्था में अपना कार्य करना पड़ा है। न्यास-परिषद् के विचार-विमर्शों में विश्व की वैचारिक विषमताओं तथा राजनीतिक मतभेदों का बोलबाला रहा है। सदस्य-राज्यों के हित, जो आवश्यक रूप से न्यासधारिता मामलों से सम्बन्धित नहीं होते और प्रायः पूर्व-पश्चिम संघर्ष से बँधे होने के कारण, कभी-कभी परिषद् में लिये गये निर्णयों को प्रभावित करते हैं। उदाहरणार्थ, न्यासधारिता मशीनरी की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस और उनके साथी राष्ट्रों ने अपने राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति, एक दूसरे के प्रति घृणात्मक प्रचार और औपनिवेशिक क्षेत्रों में अशान्ति फैलाने के लिये परिषद् का प्रयोग एक मंच के रूप में किया है।[1]

जो कुछ भी हो, न्यास-परिषद् के अनवरत गम्भीर प्रयासों, बड़े राज्यों के सहयोग तथा विश्व की बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप एक या दो को छोड़कर सभी न्यस्त प्रदेश आज स्वाधीन कर दिये गये हैं और अब वह समय दूर नहीं जबकि न्यासधारिता पद्धति को ही समाप्त करना पड़े, क्योंकि तब इसके लिये कोई भी कार्य शेष नहीं रह जायेगा।



1 L. Larry Leonard, *International Organisation*, p. 499.

१७

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

(International Court of Justice)

संगठन

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रधान न्यायिक अंग (principal judicial organ of the United Nations) है। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की जिस संविधि (Statute) को अपनाया गया, वह स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (PCIJ) की संविधि के सदृश है। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने राष्ट्रसंघ के समय में विश्व-न्यायालय (World Court) के रूप में कार्य किया था। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि संयुक्त राष्ट्र चार्टर का एक अभिन्न अंग है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर का अनुच्छेद ९२ यह स्पष्ट करता है कि नवीन संविधि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि पर आधारित है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का गठन १५ न्यायाधीशों के द्वारा होता है जो ९ वर्षों की अवधि के लिये महासभा तथा सुरक्षा परिषद् के स्वतंत्र मतदान द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। न्यायालय के न्यायाधीशों को सदस्य (members) कहा जाता है। न्यायाधीशों का चुनाव योग्यता के आधार पर ही किया जाता है, राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं। ९ वर्षों की अवधि समाप्त होने पर भी न्यायाधीश पुनर्निर्वाचन के योग्य समझे जाते हैं। जब तक न्यायाधीश कार्यभार ग्रहण करते हैं, तब तक उन्हें किसी अन्य व्यवसाय को अपनाने का अधिकार नहीं है। न्यायालय तीन वर्षों के लिये अपने सभापति एवं उप-सभापति का चुनाव करता है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में किसी विवाद पर निर्णय उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत के आधार पर होता है तथा ९ सदस्यों की उपस्थिति से गणपूर्ति (Quorum) पूरा होता है। न्यायालय के सभापति को निर्णायक मत (casting vote) देने का अधिकार होता है। इसका मुख्यालय हेग (Hague) नगर (नीदरलैण्ड्स) में है किन्तु इसकी बैठक सुविधानुसार अन्यत्र भी हो सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के चुनाव में दो बातें महत्वपूर्ण हैं :

(१) सर्वप्रथम, संविधि के अनुच्छेद २ के अनुसार, "न्यायालय का गठन उच्च नैतिक चरित्र के व्यक्तियों में से निर्वाचित, अपनी राष्ट्रीयता के आधार पर नहीं, स्वतंत्र न्यायाधीशों के एक मण्डल द्वारा होगा, जो अपने देशों में सर्वोच्च न्यायिक पदों पर नियुक्ति के लिये अर्हतायें प्राप्त करते हों अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि में ख्यातिप्राप्त

विधिवेत्ता हों।" (The Court shall be composed of a body of independent judges, elected regardless of their nationality from among persons of high moral character, who possess the qualifications required in their respective countries for appointment to the highest judicial offices, or are jurisconsults of recognised competence in international law."[1])।

(२) दूसरे, यह व्यवस्था की जाती है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में विश्व की मुख्य कानूनी व्यवस्थाओं (principal legal systems) का प्रतिनिधित्व हो तथा उसमें एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिये जा सकते।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों के निर्वाचन में सुरक्षा परिषद् के स्थायी तथा अस्थायी सदस्यों के बीच किसी प्रकार का विभेद नहीं किया जाता है और इसलिये 'वीटो' के लागू होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

चार्टर के अनुच्छेद ९३ के अनुसार, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्य स्वतः (ipso facto) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के पक्ष बन जाते हैं ("All Members of the United Nations are ipso facto parties to the Statute of the International Court of Justice")। इसके अतिरिक्त, सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर और महासभा द्वारा स्वीकृत शर्तों के अनुसार वे देश भी अपने मामले अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में प्रस्तुत कर सकते हैं जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं हैं। स्विट्ज़रलैण्ड संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं है किन्तु वह १९४८ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि का पक्ष बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय राजनीतिक विवादों पर नहीं बल्कि कानूनी विवादों पर विचार करता है। जो देश इसकी संविधि को मान चुके हैं, वे अपना कोई भी कानूनी विवाद इसके सम्मुख प्रस्तुत कर सकते हैं। सुरक्षा परिषद् भी किसी कानूनी झगड़े को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष ला सकती है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि न्यायाधीशों का चुनाव न तो अपने देशों के प्रतिनिधि के रूप में होता है और न वे उनके निदेश पर कार्य करते हैं। वस्तुतः न्यायाधीश अन्तर्राष्ट्रीय न्यायपालिका के पदाधिकारी होते हैं और इसलिये उन्हें

---

1 The candidates who receive an absolute majority of votes in both the General Assembly and the Security Council are considered as elected. An "absolute majority" means more than 50 per cent of the total number of members, while other decisions in the General Assembly are taken by either a simple majority or a two-thirds majority of those present and voting. In the Security Council, an absolute majority would be 8 and all other decisions require at least [illegible] affirmative votes.

राजनयिक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ (diplomatic privileges and immunities) प्राप्त रहती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का सर्वप्रथम चुनाव फरवरी १९४६ को हुआ था। भारतीय राष्ट्रपति के भूतपूर्व सेक्रेटरी, मुख्य निर्वाचन आयुक्त तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग के सदस्य डॉ० नागेन्द्र सिंह (Dr. Nagendra Singh) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश निर्वाचित किये गये हैं। डॉ० नागेन्द्र सिंह १९७२ में संयुक्त राष्ट्र महासभा के २७ वें वार्षिक अधिवेशन में न्यायालय के न्यायाधीश निर्वाचित किये गये।[1]

निर्णयों को लागू करने के उपाय
(Enforcement of Decisions)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपने निर्णयों को लागू किये जाने के लिये मुख्यतः दो बातों पर निर्भर करना पड़ता है। प्रथम, चार्टर के अधीन संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य-राज्य का यह दायित्व है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की प्रतिष्ठा तथा नैतिक बल बनाये रखने के लिये उसके निर्णयों को माने। जब एक बार कोई विवाद या झगड़ा न्यायिक निपटारा के लिये प्रस्तुत कर दिया जाता है तो उसके सम्बन्ध में दिये गये निर्णय को हारने वाले पक्ष को भी स्वीकार करना पड़ता है। यह पूर्वधारणा स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनुभव से उत्प्रेरित है जिसने कई कानूनी विवादों पर विचार किया तथा जिसके निर्णयों की अवज्ञा करने की प्रवृत्ति का विकास न हो सका।

द्वितीय, यदि विवाद से सम्बन्धित कोई पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय से उत्पन्न दायित्वों को पूरा नहीं करता तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है जो इस सम्बन्ध में संस्तुतियाँ कर सकती है या यह निर्णय कर सकती है कि कौन-सी कार्यवाई की जाय। यह प्राधिकरण अनुमानतः सुरक्षा परिषद् की प्रवर्तन शक्तियों (enforcement powers) के अन्तर्गत आता है और उन कार्यवाईयों से सम्बन्धित है जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की पुनःस्थापन के लिये आवश्यक हों। वस्तुतः चार्टर के निर्माताओं का कभी भी यह उद्देश्य नहीं था कि सुरक्षा परिषद् इस विश्व-न्यायालय के लिये शेरिफ (sheriff) का कार्य करे बल्कि इसके मूल में यह

1. डॉ० नागेन्द्र सिंह फरवरी १९७५ में तीन वर्षों के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के उप-सभापति निर्वाचित किये गये। वह सर्वप्रथम भारतीय हैं जिन्हें इस पद पर निर्वाचित किया गया। यूरूग्वे (Uruguay) के श्री आरेचागा (Arechaga) न्यायालय के सभापति निर्वाचित किये गये।

भावना है कि सुरक्षा परिषद् विश्वशान्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय की अवहेलना से उत्पन्न संकट का सामना कर सके।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार

(Jurisdiction of International Court of Justice)

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान न्यायिक अंग के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के उत्तरदायित्व दो प्रकार के हैं :—

(१) अपने समक्ष प्रस्तुत विवादों पर निर्णय (फैसला) देना, तथा

(२) कानूनी प्रश्नों पर सलाहकारी मत प्रदान करना।

संविधि के अनुच्छेद ३६ के अनुसार न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत निम्न प्रकार के मामले आते हैं :—

(१) वे सब विवाद जो पक्षों द्वारा प्रस्तुत हों,

(२) वे सब मामले जिनका संयुक्त राष्ट्र चार्टर में विशेष रूप से उल्लेख हो, अथवा

(३) वे सब मामले जिनका प्रचलित सन्धियों तथा उपसन्धियों में विशेष रूप से उल्लेख हो।

(१) **अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Compulsory Jurisdiction)** :—संविधि के अनुच्छेद ३६ के भाग २ में, जिसे "वैकल्पिक धारा" (Optional Clause) भी कहा जाता है, यह व्यवस्था है कि कोई भी राज्य किसी भी समय यह घोषणा कर सकता है कि यदि अन्य राज्यों ने भी ऐसा ही किया हो तो वह निम्नलिखित चार बातों से सम्बन्धित सभी कानूनी विवादों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को अपने लिये स्वतः अनिवार्य (ipso facto compulsory) मानता है :—

(क) किसी सन्धि की व्याख्या,

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का कोई भी प्रश्न,

(ग) किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके प्रमाणित हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का अतिक्रमण समझा जाय,

(घ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व के भंग होने की दशा में दिलाई जाने वाली क्षतिपूर्ति की मात्रा और उसका रूप।

"वैकल्पिक धारा" के अन्तर्गत राज्य बिना किसी शर्त के या शर्तों के साथ तथा एक निश्चित अवधि के लिये घोषणायें कर सकते हैं। १९५९ तक "वैकल्पिक

---

1. Sheriff—(१) ब्रिटेन की काउन्टी या शायर का प्रमुख अधिकारी जो व्यवस्था रखने, न्याय करने और निर्वाचनों की देख-रेख करने आदि का काम करता है; (२) (अमरीकी प्रयोग) अपनी काउन्टी में शान्ति व्यवस्था बनाये ... लिये चुना हुआ व्यक्ति।

धारा" के अनुसार न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार करते हुए ३९ राज्यों ने घोषणायें की थीं लेकिन १९६३ तक यह संख्या केवल ३६ थी। अधिकांश राज्यों ने पारस्परिकता (reciprocity) की शर्त रखी है, अर्थात् वे न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को अमुक विवाद में उस समय तक स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं होंगे जब तक कि दूसरा पक्ष भी उसे स्वीकार न करे। जहाँ तक अवधि का प्रश्न है, अधिकांश घोषणायें ५ या १० वर्षों के लिये या समाप्ति की सूचना तक के लिये की गयी हैं।

वस्तुतः राज्यों ने बारम्बार "वैकल्पिक धारा" को रक्षणों (reservations) के साथ स्वीकार किया है। उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका ने ३ रक्षणों के अधीन न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार किया है :—

(क) यदि कोई मामला किसी अन्य न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत हो तो उस पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार नहीं लागू होगा,

(ख) यदि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार किसी विवाद को अपना घरेलू अधिकार-क्षेत्र का मामला समझे तो उस पर न्यायालय का क्षेत्राधिकार नहीं लागू होगा, तथा

(ग) जो सन्धियाँ दो से अधिक राज्यों के बीच में की गयी हों, उनके सम्बन्ध में उत्पन्न हुए विवाद को उस समय तक इस न्यायालय के समक्ष फैसले के लिये प्रस्तुत नहीं किया जायेगा, जब तक सन्धि के सभी पक्ष उस विवाद को इस न्यायालय में विचारार्थ उपस्थित करने के लिये सहमत न हो जायँ।

फ्रांस, मेक्सिको, पाकिस्तान आदि कई देशों ने ऐसे ही रक्षणों के साथ न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार किया है। इस प्रकार की शर्तों तथा रक्षणों ने व्यवहार में न्यायालय के क्षेत्राधिकार को संकुचित और सीमित कर दिया है। एच० जी० निकोलास (H. G. Nicholas) का मत है कि निस्सन्देह ऐसे रक्षणों ने विश्व-न्यायालय को उसी प्रकार पंगु कर दिया है जिस प्रकार उन्होंने उसके पूर्ववर्ती स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को दुर्बल बना दिया था।[1]

परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार

(Advisory Jurisdiction)

अपने समक्ष प्रस्तुत विवादों पर निर्णय देने के अतिरिक्त, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय महासभा तथा सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर कानूनी प्रश्नों पर सलाहकारी मत (advisory opinion) दे सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग तथा विशिष्ट अभिकरण भी, महासभा की अनुमति से, अपने कार्यकलाप के सीमा-क्षेत्र से सम्बद्ध कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय से सलाहकारी मत देने के लिये अनुरोध

1. H. G. Nicholas, *The United Nations as a Political Institution*, p. 144.

कर सकते हैं।[1] संयुक्त राज्य अमेरिका का राष्ट्रपति कानूनी परामर्श के लिये एटार्नी-जनरल (Attorney-General) पर निर्भर करता है तथा कांग्रेस (Congress) अपने कानूनी स्टाफ पर। न तो कार्यपालिका और न ही व्यवस्थापिका सर्वोच्च न्यायालय से कभी किसी कानूनी प्रश्न पर सलाहकारी मत माँगती हैं। भारत में भी यदि राष्ट्रपति किसी कानूनी प्रश्न पर सलाहकारी मत माँगे तो सर्वोच्च न्यायालय को उसे देने की शक्ति प्राप्त है किन्तु राष्ट्रपति के लिये सर्वोच्च न्यायालय के सलाहकारी मत को मानने की बाध्यता नहीं है।

यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सलाहकारी मतों की बड़ी प्रतिष्ठा तथा नैतिक प्रभाव होता है, फिर भी महासभा तथा सुरक्षा परिषद् उन्हें स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं हैं। भारत तथा संयुक्त राज्य अमेरिका में जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय को संविधान की व्याख्या करने की शक्ति प्राप्त है, उस भाव में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय चार्टर की व्याख्या के लिये अन्तिम प्राधिकारी नहीं है।

वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के समान सांविधानिक निर्णायक (constitutional umpire) का रूप नहीं दिया जा सकता है। किन्तु न्यायालय ने कुछ राज्यों, जिन्होंने चार्टर की व्याख्या करने में न्यायालय की सक्षमता को नहीं माना है, के विरोध के होते हुए भी समय-समय पर इस भूमिका का निर्वाह किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने जिन कानूनी प्रश्नों पर सलाहकारी मत प्रदान किया है, उन में Reparation for Injuries Suffered in the Service of the United Nations पर १९४९ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के बारे में दिया गया सलाहकारी मत अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के विद्यार्थियों के लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।[2] सितम्बर १९४८ में काउन्ट बर्नाडोट (Count Bernadotte), जो फिलिस्तीन में संयुक्त राष्ट्रसंघ मध्यस्थ (United Nations mediator) के रूप में कार्यरत थे, की हत्या ने एक महत्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न कर दिया कि क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने किसी अभिकर्त्ता (agent) को आघात या चोट लगने पर किसी राज्य के विरुद्ध क्षतिपूर्ति का दावा कर सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने सर्वसम्मति से सकारात्मक उत्तर दिया और कहा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ एक अन्तर्राष्ट्रीय कानूनी व्यक्तित्व रखता है। इसलिये उसे मुकदमा चलाने और क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार है। न्यायालय के ही शब्दों में : "न्यायालय के मत में, (संयुक्त राष्ट्र) संघ की स्थापना उन कार्यों और अधिकारों के प्रयोग तथा उपभोग करने के लिये, और (वह)

1. Article [illegible].

2. The Permanent Court of International Justice gave 27 advisory opinions.

वास्तव में (उन कार्यों और अधिकारों का) प्रयोग तथा उपभोग कर रहा है, की गयी थी जिनकी व्याख्या अधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व की प्राप्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्रवाई करने की समर्थता के आधार पर ही की जा सकती है। वर्तमान समय में यह सर्वोच्च अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है और यदि इसे अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व से वंचित किया गया तो यह अपने संस्थापकों के उद्देश्यों को कार्यान्वित नहीं कर सकता। यह स्वीकार किया जाना चाहिये कि इसके सदस्यों ने, कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के साथ ही, इसे निश्चित कार्यों को सौंपकर, उन कार्यों के प्रभावकारी ढंग से पूरा किये जाने के लिये इसे सक्षमता प्रदान किया है" ("In the opinion of the Court, the Organisation was intended to exercise and enjoy, and is in fact exercising and enjoying functions and rights which can only be explained on the basis of the possession of a large measure of international personality and the capacity to operate upon an international plane. It is at present the supreme type of international organisation, and it could not carry out the intentions of its founders if it was deviod of internationalpersonality. It must be acknowledged that its Members, by entrusting certain functions to it, with the attendant duties and responsibilities, have clothed it with the competence required to enable those functions to be effectively discharged.")[1] इसके अतिरिक्त, जिन अन्य मामलों पर सलाहकारी मत देने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से अनुरोध किया गया, वे इस प्रकार हैं :—(१) संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के लिये एक राज्य के प्रवेश की शर्तें (१९४८); (२) संयुक्त राष्ट्रसंघ में नये सदस्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में महासभा की क्षमता (१९५०); (३) दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तथा प्रादेशप्राप्त राज्य के रूप में दक्षिण अफ्रीका के दायित्व (१९५०); (४) बल्गेरिया, हंगरी तथा रूमानिया के साथ की गयी शान्ति-सन्धियाँ (१९४९); (५) जन-संहार उपसन्धि (Genocide Convention) के रक्षण (reservations) १९५१; (६) संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रशासनिक न्यायाधिकरण द्वारा मुआवजे सम्बन्धी फैसले के प्रभाव (Effect of Awards of Compensation made by the United Nations Administrative Tribunal) १९५४;
(७) चार्टर के अनुच्छेद १७ (२) के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्र आपातिक सेना (United Nations Emergency Force) तथा कांगो में संयुक्त राष्ट्र कार्रवाई (ONUC) के व्यय को बाँटने में महासभा का कानूनी प्राधिकार (१९६२); तथा (८) पश्चिमी

1. *Advisory Opinion*, I. C. J. Reports, 1949, p. 179.

सहारा या स्पानी सहारा (Spanish Sahara) की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति (१९७५)।[1] यह ध्यान देने योग्य है कि राष्ट्रसंघ में सभी सलाहकारी मतों के लिये परिषद् ने अनुरोध किया था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ में महासभा ने ही सलाहकारी मतों के लिये अनुरोध किया है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा कराने में सलाहकारी मत निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ के लिये उपयोगी थे।[2]

अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने फैसलों तथा सलाहकारी मतों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास में भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। न्यायाधीश मानले ओ० हडसन (Manley O. Hudson) के अनुसार, "the volumes of its jurisprudence constitute a notable contribution to the development of international law."

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा महत्त्वपूर्ण विवाद

अनेक महत्त्वपूर्ण विवादों के समाधान में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की सेवाओं का उल्लेख किया जा सकता है। उदाहरणार्थ :

(१) कारफू चैनल विवाद (१९४९);

(२) कोलम्बिया तथा पेरू के बीच पेरू के प्रसिद्ध राजनीतिक नेता विक्टर रौल हाया डि ला टोर (Victor Raul Haya de la Torre) के प्रत्यर्पण सम्बन्धी विवाद (१९५१);

(३) एंग्लो-इरानी तेल विवाद (१९५२);

(४) एंग्लो-नारवेजियन मछलीगाह विवाद (१९५१),

(५) मोरक्को विवाद (फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मोरक्को में अमरीकी नागरिकों के अधिकारों के सम्बन्ध में, १९५२);

(६) भारत-पुर्तगाल विवाद (भारतीय प्रदेश में से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार के सम्बन्ध में) आदि।

मूल्यांकन

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय आज राज्यों के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण तथा गुटों के कारण एक शक्तिशाली संस्था नहीं बन सकी है, किन्तु उसकी उपयोगिता तो

1. See *United Nations Weekly Newsletter*, October 24, 1975.
2. In the case of the Security Council and the General Assembly requests for advisory opinions are to be on "any legal question." Although the phrase in the Charter is more restrictive than that of Article 14 of the Covenant, it constitutes no real restriction, since any question can be treated on its legal merits.

स्वयंसिद्ध है। यह सत्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को कई सीमाओं में रहकर काम करना पड़ता है। फिर भी, सर फ्रांसिस वालार्ट की निम्नलिखित टिप्पणी में इस न्यायायलय का जो मूल्यांकन हुआ है, वह सभी को मान्य हो सकता है :

"ऐसी कई विस्तृत बातें हैं जिनके बारे में सुधार की गुंजायश है, लेकिन तथ्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय बीसवीं शताब्दी की महत्तम उपलब्धियों में से एक है। विभिन्न राष्ट्र इस संस्था से उतनी सीमा तक ही लाभ प्राप्त करेंगे जितनी सीमा तक वे इसका समर्थन करते हैं, लेकिन भविष्य में यदि शान्ति बनाये रखनी है, तो उन राष्ट्रों के पास इसे समर्थन देने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं है। शान्ति के लिए कानून जरूरी है, और कानून के लिये न्यायालय की आवश्यकता होती है।"



१८

सचिवालय तथा महासचिव

(Secretariat and the Secretary-General)

सचिवालय का संगठन

सचिवालय संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व प्रदान करता है। इसका प्रधान 'महासचिव' (सेक्रेटरी-जेनरल) होता है जिसकी सहायता के लिये एक विशाल कर्मचारी-वर्ग है। महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार महासचिव सचिवालय के कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। नियुक्ति करते समय न्यायोचित भौगोलिक विभाजन का भी ध्यान रखा जाता है। कर्मचारियों की भर्ती करते समय तथा सेवाओं की शर्तें निर्धारित करने में यह ध्यान रखा जाता है कि कार्यकुशलता, योग्यता तथा सत्यनिष्ठा का उच्चतम स्तर कायम रह सके।

नियुक्ति हो जाने पर सचिवालय के प्रत्येक कर्मचारी को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि वह दायित्वों के अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा तथा अपने कर्तव्यों के पालन में किसी सरकार अथवा बाह्य सत्ता से निर्देश प्राप्त नहीं करेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक सदस्य-राज्य का यह दायित्व है कि वह सचिवालय के कर्मचारियों पर प्रभाव डालने का प्रयत्न न करे।

इस समय सचिवालय ८ मुख्य विभागों में बँटा हुआ है :

(१) सुरक्षा परिषद् के मामलों का विभाग,
(२) आर्थिक मामलों का विभाग,
(३) सामाजिक मामलों का विभाग,
(४) न्यासधारिता तथा अस्वशासित क्षेत्रों में सूचना-सम्बन्धी विभाग,
(५) जन-सूचना-विभाग,
(६) सम्मेलन तथा सामान्य सेवा विभाग,
(७) प्रशासकीय तथा वित्तीय सेवा विभाग, तथा,
(८) कानूनी विभाग।

महासचिव (Secretary-General)

नियुक्ति

महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ का "प्रमुख प्रशासनिक अधिकारी" (Chief Administrative Officer) है (अनुच्छेद ९७)। उसकी नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर महासभा द्वारा होती है। महासभा अपने समक्ष प्रस्तुत

किसी नाम को अस्वीकार कर सकती है। किन्तु इस स्थिति में वह अपने स्वयं की रुचि से किसी व्यक्ति को महासचिव नियुक्त नहीं कर सकती बल्कि उसे समय तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है जब तक कि सुरक्षा परिषद् दूसरी संस्तुति न कर दे। महासचिव की नियुक्ति गुप्त मतदान द्वारा होती है।

सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास-परिषद् के सदस्यों के निर्वाचन के लिये महासभा का दो-तिहाई बहुमत आवश्यक है किन्तु महासचिव के पद पर नियुक्ति के लिये महासभा में उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्य-राज्यों के साधारण बहुमत की आवश्यकता होती है। सुरक्षा परिषद् की संस्तुति के लिये ९ सदस्य-राज्यों के बहुमत में ५ स्थायी सदस्य-राज्यों की सर्वसम्मति आवश्यक है। इस प्रकार व्यवहार में महासचिव की नियुक्ति निषेधाधिकार (वीटो) से बँधा हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि चीन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ तथा ब्रिटेन उस व्यक्ति के लिये अपनी सहमति प्रदान करें जिसे इस पद पर नियुक्त किया जाना है। यह आशा की जाती है कि प्रत्येक महासचिव अपेक्षाकृत किसी लघु देश से लिया जायेगा तथा किसी भी महाशक्ति के प्रभाव में अत्यधिक नहीं होगा अथवा किसी महाशक्ति की नीतियों से घनिष्ठ रूप से संयुक्त नहीं होगा।

कार्यकाल

महासचिव का कार्यकाल चार्टर में उल्लिखित नहीं है। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में यह विचार किया गया था कि महासचिव का कार्यकाल तीन वर्ष का होना चाहिये किन्तु यह प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया गया जब यह प्रतीत हुआ कि सुरक्षा परिषद् की संस्तुति पर वीटो का प्रयोग हो सकता है। जनवरी १९४६ में महासभा ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण निर्णय लिया :

(१) महासचिव का कार्यकाल ऐसा हो जिससे ख्यातिलब्ध तथा उच्च योग्यता के व्यक्ति इस पद को स्वीकार कर सकें,

(२) प्रथम महासचिव की नियुक्ति ५ वर्ष के लिये होनी चाहिये किन्तु उसकी पुनर्नियुक्ति भी हो सकती है,

(३) यह वांछनीय है कि कोई भी सदस्य-राज्य किसी सेवानिवृत्त महासचिव को सरकारी पद प्रदान न करे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रथम महासचिव नॉर्वे के ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) थे जिनकी नियुक्ति इस पद पर १ फरवरी, १९४६ को हुई थी और उन्होंने १९५२ में अपना त्यागपत्र दे दिया। द्वितीय महासचिव स्वीडन के डाग हैमरशोल्ड

(Dag Hammarskjold) हुए जिनकी नियुक्ति ७ अप्रैल, १९५३ को हुई थी और उन्होंने सितम्बर १९६१ तक कार्य किया। १८ सितम्बर, १९६१ को अफ्रीका में एक वायुयान दुर्घटना में डाग हैमरशोल्ड की मृत्यु हो जाने पर बर्मा के ऊ थान्त (U Thant) को कार्यकारी महासचिव नियुक्त किया गया तथा बाद में ३० नवम्बर, १९६२ को उन्हें १९६६ तक के लिये महासचिव नियुक्त कर लिया गया। ऊ थान्त ३१ दिसम्बर, १९७१ तक इस पद पर कार्य करते रहे। १ जनवरी, १९७२ को ऑस्ट्रिया के डॉ० कुर्त वाल्डहाइम (Dr. Kurt Waldheim) ने चतुर्थ महासचिव के रूप में अपना कार्यभार ग्रहण किया। १ जनवरी, १९७७ से डॉ० कुर्त वाल्डहाइम पुनः संयुक्त राष्ट्रसंघ के पाँचवें महासचिव के रूप में कार्य कर रहे हैं।

महासचिव के कार्य

महासचिव के कार्यों को मुख्यतया निम्नलिखित चार शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :

(१) प्रशासनिक तथा सेवा (Administrative and Service),
(२) राजनीतिक (Political),
(३) प्रतिनिधानात्मक (Representational), तथा,
(४) समन्वयी (Coordinating) ।

(१) प्रशासनिक तथा सेवा कार्य

इसके अन्तर्गत महासचिव द्वारा सम्पन्न वे समस्त कार्य शामिल हैं, जो उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ के संचालन के लिये आवश्यक जटिल तथा विविध कार्यकलापों को सुसंगठित तथा निर्देशित करने के निमित्त करने पड़ते हैं। केवल अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को छोड़कर संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी प्रमुख अंगों के कर्मचारी-वर्ग सचिवालय के ही अंग होते हैं। एक अन्तर्राष्ट्रीय सचिवालय के विविध कार्यों में लिपिकों, अनुवादकों, द्वारपालों तथा सन्तरियों की भरती, परिवहन सेवाओं तथा अल्पाहार-गृह की व्यवस्था, स्थान, आपूर्ति, साज-सामान की व्यवस्था, सूचनाओं का संकलन तथा प्रतिवेदनों की तैयारी, रिकार्डों को रखने की व्यवस्था तथा प्रलेखों का वितरण आदि शामिल हैं।

महासभा द्वारा पारित अनेक प्रस्तावों के आधार पर महासचिव को कुछ विशेष उत्तरदायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है। उदाहरण के लिये, महासचिव यह जानने के लिये सदस्य-राज्यों की सरकारों से सम्पर्क बनाये रखता है कि उन्होंने महासभा की संस्तुतियों को व्यावहारिक रूप देने में कौन से कदम उठाये हैं अथवा किसी मामले पर विचार करने के लिये वह सूचनायें प्राप्त कर सकता है।

महासचिव के प्रशासकीय तथा सेवा कार्य में महत्वपूर्ण वित्तीय उत्तरदायित्व भी शामिल हैं। महासभा के अधिकार तथा निर्देशन में महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ का बजट तैयार करता है, निधियों का आवंटन करता है, व्यय को नियंत्रित करता है, सदस्य-राज्यों से उनके अंशदानों को एकत्र करता है, तथा वह समस्त निधि का अभिरक्षक होता है।

चार्टर के अनुच्छेद १०२ के अनुसार महासचिव को एक विशिष्ट प्रशासकीय उत्तरदायित्व प्रदान किया गया है, जिसके अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों द्वारा किये गये अन्तर्राष्ट्रीय समझौते और सन्धियों को सचिवालय में पंजीकृत कराना पड़ता है।

(२) राजनीतिक कार्य

चार्टर का अनुच्छेद ९९ महासचिव की राजनीतिक शक्ति का प्रमुख स्रोत है, जिसमें कहा गया है, "महासचिव सुरक्षा परिषद् के ध्यान में कोई भी ऐसा मामला ला सकता है, जो उसके मत में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये संकट उत्पन्न करे" ("The Secretary-General may bring to the attention of the Security Council any matter which in his opinion may threaten the maintenance of international peace and security.")।

महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ की गतिविधियों के सम्बन्ध में महासभा को एक वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। इस प्रतिवेदन को प्रतिवर्ष महासभा के नियमित अधिवेशन के प्रारम्भ होने के पहले प्रस्तुत किया जाता है तथा यह वादविवादों एवं नीति-वक्तव्यों के लिये एक आधार का कार्य करता है। इस प्रतिवेदन में अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर महासचिव के व्यक्तिगत दृष्टिकोण, मत और संस्तुतियाँ होती हैं। यह प्रतिवेदन संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपलब्धियों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने के लिये एक अच्छा स्रोत होता है। इसके अतिरिक्त महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद् तथा न्यास परिषद् की कार्यसूची के लिये विषय (items) प्रस्तावित कर सकता है। महासचिव को अधिकार है कि वह महासभा के विचाराधीन किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में उसे किसी भी समय मौखिक या लिखित वक्तव्य दे सकता है।

(३) प्रतिनिधानात्मक कार्य

महासचिव का प्रतिनिधानात्मक कार्य इस सत्य को प्रदर्शित करता है कि वह एकमात्र व्यक्ति है जो सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रत्येक अंग के कार्यों और उत्तरदायित्वों का एक विशिष्ट क्षेत्र होता

है। प्रतिनिधि-मंडल, स्वभावतः अपने देशों के लिये बोलते हैं। महासचिव केवल एक है तथा यह सम्पूर्ण संगठन से सम्बद्ध होता है। महासचिव दूसरे अभिकरणों तथा सरकारों से वार्ता करते समय संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक अवसरों पर महासभा ने महासचिव को दूसरे राज्यों से समझौते सम्पन्न करने के लिये शक्ति प्रदान की है, जैसा कि मुख्यालय समझौता (headquarters agreement) के सम्बन्ध में।

चार्टर के प्रावधान (अनुच्छेद ९८) के अनुसार महासचिव अपने पद की हैसियत से महासभा, तथा तीन परिषदों (सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास-परिषद्) की बैठकों में कार्य करता है। इसके अतिरिक्त इन अंगों की सेवा करने वाले कर्मचारी-वर्ग सचिवालय के ही एक अंग होते हैं, अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार महासचिव को संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यकलापों में एक महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। वस्तुतः महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रवक्ता (spo kesman) है।

(४) समन्वयी कार्य

महासचिव के कार्यों में चीवर तथा हेवीलैण्ड ने एक अन्य कार्य का उल्लेख किया है और वह है समन्वय सम्बन्धी कार्य। विशिष्ट अभिकरणों तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों के बीच महासचिव समन्वय या तालमेल बनाये रखता है। यद्यपि चार्टर में इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं है, तथापि यह महासचिव के प्रधान कार्यों में से एक है।[1]

महासचिव के पद का महत्त्व

निस्सन्देह राष्ट्रसंघ के महासचिव के पद की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव का पद अधिक शक्तिशाली है। इसके दो मुख्य कारण हैं :

(१) राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की अपेक्षा चार्टर ने इस पद को अधिक महत्त्वपूर्ण शक्तियों और कार्यों से विभूषित किया है, और,

(२) महासचिव के पद का महत्त्व बहुत कुछ इस पद के धारक के व्यक्तित्व पर निर्भर करता है। राष्ट्रसंघ के महासचिव सर एरिक ड्रमण्ड (Sir Eric Drummond) ने तेरह वर्ष तक इस पद पर कार्य करते हुए भी इस संगठन को नेतृत्व और निर्देशन प्रदान नहीं किया। इसके विपरीत ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) ने चार्टर द्वारा प्रदत्त इस पद की शक्तियों का प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया और संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक अधिक शक्तिशाली नेतृत्व प्रदान किया।

1. Cheever and Haviland, *Organising for Peace : International Organisation in World Affairs*, p. 375.

एल० एम० गुडरिच ने उन कारणों पर प्रकाश डाला है जिनके आधार पर महासचिव का पद भविष्य में महत्त्वपूर्ण बना रहेगा और यदि उनका विवेक और समझदारी से प्रयोग किया गया तो वे महासचिव की भूमिका के निरन्तर संवर्धन में सहायक हो सकते हैं :

(१) महासचिव एकमात्र प्रधान अभिनेता है जो अनवरत रूप से संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व कर सकता है। सुरक्षा परिषद् का सभापति प्रतिमाह बदलता है। महासभा का सभापति प्रतिवर्ष बदलता है और, इसके अतिरिक्त, जब तक महासभा का अधिवेशन न हो, तब तक वह साधारणतः मुख्यालय में नहीं होता है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् तथा न्यास-परिषद् महासभा के सहायक अंगों के रूप में कार्य करती हैं।

(२) सम्भवतः महासभा के सभापति को छोड़कर और यह अपवाद केवल अंशतः तर्कसंगत है, महासचिव एकमात्र सर्वोच्च पदाधिकारी है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी हितों और गतिविधियों का प्रतिनिधित्व करता है। अतः महासचिव एक ऐसी स्थिति में है कि वह विश्व के समक्ष संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रतिनिधित्व कर सकता है।

(३) अन्त में, महासचिव के पास एक प्रशिक्षित एवं कार्यकुशल कर्मचारी-वर्ग होता है। सदस्य-राज्यों की सरकारें और उनके प्रतिनिधि परामर्श और पथप्रदर्शन के लिये महासचिव पर विश्वास रखना लाभदायक और सुविधाजनक समझते हैं, और उनकी नीतियाँ और क्रियाकलाप उसी रूप में प्रभावित होते हैं।[1]

उपसंहार

यह स्मरण करने योग्य है कि आज की जटिल अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में महासचिव की भूमिका का अधिकाधिक विस्तार हुआ है। इस सम्बन्ध में भूतपूर्व महासचिव ऊ थान्त का यह कथन सही प्रतीत होता है, "सचिवालय तथा उसके प्रमुख प्रशासनिक पदाधिकारी, महासचिव, की भूमिका में उन चुनौतियों के प्रत्युत्तर में वृद्धि हुई है, जिनका सामना संयुक्त राष्ट्रसंघ को करना पड़ा है। महासचिव का पद, विशेष रूप से विवादों की मध्यस्थता तथा समाधान तथा अनौपचारिक राजनय एवं विचारों के आदान-प्रदान के लिये एक उपयोगी स्थान माना गया है, जबकि दूसरे अवसरों पर महासचिव को, विशेषकर शान्ति-स्थापनार्थ कार्रवाईयों के सम्बन्ध में कार्यपालक कार्यों को सम्पन्न करना पड़ा है......" ("The role of the Secretariat, and of its Chief Administrative Officer, the Secretary-General, has also developed in response to the challenges

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, p. 142.

१९

राष्ट्रसंघ तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ : एक तुलना

(The League and the UN : A Comparison)

तुलनात्मक दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रसंघ का संशोधित, परिमार्जित तथा विकसित रूप माना जा सकता है। कुछ अधिकारी विद्वानों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को 'नवीन वेश में राष्ट्रसंघ' ही माना है। एल० एम० गुडरिच ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को "संशोधित लीग" (revised League) कहा है। फिर भी, इन दो संगठनों के बीच बुनियादी भिन्नतायें हैं। ये भिन्नतायें संक्षेप में इस प्रकार हैं :

(१) अन्तिम उद्देश्य अथवा लक्ष्य

संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य राष्ट्रसंघ के उद्देश्य के समान ही सौहार्द्रपूर्ण उपायों से पारस्परिक झगड़ों को तय करके विश्वशान्ति की प्राप्ति है। किन्तु संयुक्त राष्ट्र चार्टर राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की अपेक्षा अधिक विकसित है, इस दृष्टि से कि चार्टर के उद्देश्य अपेक्षाकृत अधिक व्यापक तथा विस्तृत हैं। जैसा कि चार्टर के प्राक्कथन को पढ़ने से प्रकट है, चार्टर संयुक्त राष्ट्रसंघ के लोगों के इस संकल्प का फल है कि आगामी मानव पीढ़ियों को युद्ध के अभिशाप से मुक्त किया जाय और आधारभूत मानव अधिकारों के प्रति संसार की निष्ठा को दुहराया जाय। राष्ट्रसंघ प्रसंविदा का प्राक्कथन बड़े राष्ट्र-पक्षों के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के संवर्धन हेतु तथा शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिये समझौता था। दोनों संगठनों के प्राक्कथनों की शब्दावली में जो अन्तर है, वह अत्यन्त स्पष्ट है। संयुक्त राष्ट्रसंघ युद्ध को रोकने का ही प्रयत्न नहीं करता है बल्कि युद्ध के कारणों को भी दूर करने का प्रयास करता है। इसलिये चार्टर में आर्थिक, सामाजिक तथा मानवतावादी विषयों पर अधिक बल दिया गया है।

(२) संगठन

राष्ट्रसंघ के केवल ३ प्रमुख अंग थे—सभा, परिषद् तथा सचिवालय, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ के ६ प्रमुख अंग हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद्, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, न्यास-परिषद्, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र चार्टर का एक अविभाज्य अंग है, यद्यपि दोनों न्यायालयों की संरचना और क्षेत्राधिकार में करीब-करीब समरूपता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंगों में संख्या की अधिकता

इस बात का प्रतिबिम्ब है कि चार्टर में सामाजिक, आर्थिक तथा मानवतावादी विषयों को अधिक महत्त्व दिया गया है।

(३) मतदान-प्रणाली

प्रसंविदा के अन्तर्गत सभा तथा परिषद् की किसी भी बैठक में निर्णय राष्ट्रसंघ के उपस्थित सभी सदस्यों की सहमति से लिये जाते थे। चार्टर के अन्तर्गत, महासभा में महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर निर्णय दो-तिहाई बहुमत से तथा दूसरे प्रश्नों पर साधारण बहुमत से लिये जाते हैं। सुरक्षा परिषद् में महत्त्वपूर्ण मामलों पर निर्णय ९ सदस्यों के बहुमत से लिये जाते हैं, जिसमें पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों की सहमति आवश्यक है।

(४) प्रादेशिक व्यवस्थायें तथा आत्मरक्षा का अधिकार

चार्टर ने शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना के क्षेत्र में प्रादेशिक व्यवस्थाओं को भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इस विषय में चार्टर का अनुच्छेद ५१ स्पष्ट है, जिसमें कहा गया है कि प्रत्येक सदस्य-राज्य को इस बात का अधिकार है कि यदि उसके विरुद्ध कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह उसके प्रतिरोध में अपनी आत्मरक्षा के लिये बलप्रयोग कर सकता है। आत्मरक्षा के इस अधिकार का प्रयोग सदस्य-राज्यों द्वारा व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से किया जा सकता है। प्रसंविदा के अनुच्छेद २१ में कहा गया था कि, "इस प्रसंविदा की किसी भी बात का किन्हीं ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों जैसे पंच-निर्णय सन्धियों (treaties of arbitration) अथवा मुनरो सिद्धान्त के समान प्रादेशिक समझौतों (regional understandings) की वैधता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा जो कि शान्ति रखने के लिये किये गये हों।" कुछ लैटिन अमरीकी देशों ने इस अनेकार्थक अनुच्छेद के स्पष्टीकरण की माँग की थी, किन्तु उन्हें बहुत सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं हो सका। वस्तुतः इस प्रावधान को कार्यान्वित करने का कोई प्रयास ही नहीं किया गया।

(५) सदस्यता से अलग होना (Withdrawal)

प्रसंविदा के अन्तर्गत सदस्य-राज्य स्वेच्छा से दो वर्ष की सूचना (नोटिस) देकर राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग हो सकते थे। चार्टर में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग होने का कोई प्रावधान नहीं है। यद्यपि सान फ्रांसिस्को सम्मेलन की सम्मत व्याख्या के आधार पर यह अधिकार विद्यमान है, तथापि प्रत्येक सदस्य-राज्य के "सर्वोच्च कर्तव्य" पर बल दिया गया है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपना सहयोग प्रदान करता रहे। इन्डोनेशिया १९६५ में संयुक्त

राष्ट्रसंघ की सदस्यता से अलग हो गया था। सदस्यता से अलग होने वाला यह प्रथम राष्ट्र था।'

(६) घरेलू क्षेत्राधिकार

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में "घरेलू क्षेत्राधिकार" की स्पष्ट व्याख्या नहीं की गयी है। इसका फल यह होता है कि अनेक राष्ट्र अपने विवादों को घरेलू क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत बताकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप का विरोध करते हैं। राष्ट्रसंघ की स्थिति भी इस सम्बन्ध में ठीक नहीं थी किन्तु उसकी परिषद् को यह शक्ति प्राप्त थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अनुसार इस बात का निर्णय ले सके कि अमुक विषय किसी राज्य के पूर्णतः घरेलू क्षेत्राधिकार में है या नहीं।

(७) संशोधन

जहाँ तक संशोधन का प्रश्न है, प्रसंविदा में संशोधन के लिये राष्ट्रसंघ परिषद् के सभी सदस्यों तथा सभा के सदस्यों के बहुमत द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होना आवश्यक था। इस प्रकार परिषद् के न केवल स्थायी सदस्य बल्कि प्रत्येक सदस्य प्रसंविदा में संशोधन के विरुद्ध अपने निषेधात्मक मत का प्रयोग कर उसे अस्वीकार कर सकता था। चार्टर में संशोधन के लिये महासभा का दो-तिहाई बहुमत तथा सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों की सर्वसम्मति आवश्यक है। अतः सुरक्षा परिषद् के केवल स्थायी सदस्य-राज्य ही चार्टर में संशोधन के विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकते हैं। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ की मतदान-प्रणाली राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक नमनीय है।

(८) सार्वभौमिकता

राष्ट्रसंघ की अपेक्षा संयुक्त राष्ट्रसंघ सार्वभौमिक या विश्वव्यापी स्वरूप प्राप्त करने में अधिक सफल हुआ है। सभी बड़े राज्य राष्ट्रसंघ के सदस्य नहीं थे। संयुक्त राज्य अमेरिका राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका। जब सोवियत संघ को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया गया, उसके पहले ही जर्मनी तथा जापान उससे अलग हो गये थे। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता को महाशक्तियों (संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, सोवियत संघ तथा चीन) ने आरम्भ से ही स्वीकार किया है, और उन्हें सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य-राज्यों के रूप में स्थान प्राप्त है।

(९) राष्ट्रसंघ प्रसंविदा वर्साई की संधि का परिणाम था, किन्तु चार्टर का सम्बन्ध किसी शान्ति-सन्धि से नहीं है। चार्टर प्रसंविदा की अपेक्षा एक अधिक लम्बा प्रलेख है। प्रसंविदा में २६ अनुच्छेद थे, जबकि चार्टर में १११ अनुच्छेद हैं।

(१०) राष्ट्रसंघ प्रसंविदा ने सभा और परिषद् के कार्यों को स्पष्ट रूप से विभाजित नहीं किया था। चार्टर में महासभा और सुरक्षा परिषद् के कार्यों के बीच एक स्पष्ट विभाजन रेखा खींच दी गयी है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना का प्राथमिक उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् को प्राप्त है जबकि महासभा का कार्य वादविवाद, अध्ययन तथा सिफारिश तक ही सीमित है। सुरक्षा परिषद् राष्ट्रसंघ परिषद् से अधिक सशक्त है, क्योंकि इसकी बैठक प्रतिमाह होती है, जबकि १९२९ तक राष्ट्रसंघ परिषद् की प्रतिवर्ष ४ बैठकें तथा उसके बाद प्रतिवर्ष ३ बैठकें ही हुईं।

(११) शान्ति-स्थापना की दृष्टि से भी संयुक्त राष्ट्रसंघ राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। राष्ट्रसंघ आक्रमण की घटना होने पर ही कार्रवाई आरम्भ कर सकता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ शान्ति-भंग की आशंका से ही कार्रवाई प्रारम्भ कर सकता है। राष्ट्रसंघ शान्ति-भंग करने वाले राज्य के विरुद्ध केवल आर्थिक अनुशास्तियों का ही प्रयोग कर सकता था, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ आवश्यक होने पर सैनिक कार्रवाईयाँ भी कर सकता है।

(१२) प्रसंविदा की अपेक्षा चार्टर में पराधीन लोगों के सम्बन्ध में अधिक व्यापक प्रावधान हैं। चार्टर में "अस्वशासी क्षेत्रों के विषय में घोषणा" इन क्षेत्रों पर प्रशासन करने वाले सभी सदस्य-राज्यों पर बाध्यकारी है। इसके अन्तर्गत प्रशासन करने वाले सदस्य-राज्यों का कर्त्तव्य है कि वे इन क्षेत्रों के निवासियों की आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक कल्याण को आगे बढ़ावें तथा उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र स्वशासन के योग्य बना दें। संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यासधारिता पद्धति कुछ अंश तक राष्ट्रसंघ की प्रादेश पद्धति का ही पुनरारम्भ है, किन्तु उससे काफी भिन्न भी है। स्थायी प्रादेश आयोग की अपेक्षा न्यास-परिषद् को बहुत अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

अन्त में, प्रो० इगलटन (Eagleton) के शब्दों में कहा जा सकता है, "यद्यपि दोनों व्यवस्थाओं की संरचना और सामान्य रूप-रंग में समरूपता है, तथापि उनके बीच जो मौलिक भिन्नतायें हैं, उन्हें देखने पर स्पष्ट होता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ विचार और स्वभाव में राष्ट्रसंघ से पूर्णतया भिन्न है।"[1]

---

1. "although there is a resemblance between the two systems in structure and general appearance, fundamental differences show, when added up, that the United Nations is quite different in concept and character" from the League.

२०

विशिष्ट अभिकरण

(Specialised Agencies)

अर्थ एवं परिभाषा

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में काम करने के लिये अनेकानेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें हैं जो इस समय संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों के रूप में सम्पूर्ण विश्व को अपनी बहुमूल्य सेवायें प्रदान कर रही हैं। "विशिष्ट अभिकरण" (Specialised Agencies) वे संस्थायें हैं जिनकी स्थापना अन्तर-सरकारी अनुबन्ध (intergovernmental agreement) के अनुसार की गयी है तथा जिन पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा तत्सम्बद्ध क्षेत्रों में व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्व हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के "विशिष्ट अभिकरणों" की परिभाषा इस प्रकार की गयी है :—

"स्वायत्त संगठन जिनकी उत्पत्ति कई राज्यों के मध्य हुए विशेष समझौतों के फलस्वरूप होती है, जिनका स्वरूप (अलग पहचान) प्रत्येक अभिकरण के अनुसार भिन्न होता है। उनका अपना संविधान, अपना बजट, अपने नीति-निर्धारक तथा प्रशासकीय निकाय होते हैं और प्रत्येक अभिकरण की अपनी सदस्यता होती है" ("autonomous organisations, owing their existence to particular agreements among a number of states whose identity differs from agency to agency. They have their own constitutions, their own budgets, their own policymaking and administrative bodies, and each agency has membership of its own.") ।

इन "विशिष्ट अभिकरणों" के कार्यकलापों तथा गतिविधियों में समन्वय या तालमेल बनाये रखना आर्थिक और सामाजिक परिषद् (ECOSOC) का कार्य है। इन विशिष्ट अभिकरणों में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमसंगठन (ILO), खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO), विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति-सम्बन्धी संगठन (UNESCO) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय हैं। वस्तुतः इनमें से प्रत्येक अभिकरण का उद्देश्य अपने निश्चित कार्यों को सम्पादित करते हुए विश्वशान्ति और सुरक्षा की स्थापना में सहायक होना है।

निम्नलिखित संस्थायें आज संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों के रूप में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही हैं :—

(१) विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO), स्थापना :–१९४६, मुख्यालय :– जेनेवा

(२) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (ILO), स्थापना :—१९१९, मुख्यालय :– जेनेवा

(३) खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO), स्थापना :—१९४५, मुख्यालय :– रोम

(४) संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति-सम्बन्धी संगठन (UNESCO), स्थापना :—१९४५, मुख्यालय :—पेरिस

(५) पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (IBRD), स्थापना :—१९४४, मुख्यालय :—वाशिंगटन

(६) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC), स्थापना :—१९५७, मुख्यालय :– वाशिंगटन

(७) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA), स्थापना :—१९६०, मुख्यालय :– वाशिंगटन

(८) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF), स्थापना :—१९४४, मुख्यालय :— वाशिंगटन

(९) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (ICAO), स्थापना :— १९४७, मुख्यालय :—मौण्ट्रियल ।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ (ITU), स्थापना :—१९३४, मुख्यालय :—जेनेवा

(११) विश्व मौसम विज्ञान संघ (WMO), स्थापना :—१९५०, मुख्यालय :—जेनेवा

(१२) विश्व-डाक संघ (UPU), स्थापना :—१८७५, मुख्यालय :— बर्न

(१३) अन्तर-सरकारी समुद्री परामर्श संगठन (IMCO), स्थापना :— १९४८, मुख्यालय :—लंदन

(१४) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति अभिकरण (IAEA), स्थापना :—१९५७, मुख्यालय :—वियना

(१५) प्रशुल्क और व्यापार-सम्बन्धी सामान्य समझौता (GATT), स्थापना :—१९४७, मुख्यालय :—जेनेवा

इनमें से प्रत्येक विशिष्ट एजेन्सी के संगठन, उद्देश्य, कार्यों, उपलब्धियों तथा महत्व पर प्रकाश डालना आवश्यक है :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

(International Labour Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में सबसे प्राचीन और अत्यन्त महत्वपूर्ण एजेन्सी है जिसका कार्यक्षेत्र अन्य सभी अभिकरणों की अपेक्षा अधिक विस्तृत और विशाल है। इसका निर्माण शान्ति-संधियों के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने के उद्देश्य से हुआ था (इसकी स्थापना अप्रैल ११, १९१९ को वर्साई की सन्धि (Treaty of Versailles के अनुसार हुई थी)। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन राष्ट्रसंघ की एक शाखा के रूप में काम करता था। उसका संविधान राष्ट्रसंघ के संविधान जैसा बनाया गया था। उसके वार्षिक सम्मेलन (Annual Conference), शासी सभा (Governing Body) और कार्यालय क्रमशः राष्ट्रसंघ की सभा, परिषद और सचिवालय के समान थे। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य तथा संयुक्त राज्य अमरीका और ब्राजील शामिल थे। यह उल्लेखनीय है कि राष्ट्रसंघ का तो पतन हो गया किन्तु इस संगठन का अस्तित्व बना रहा जिसे १९४६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण के रूप में मान्यता प्राप्त हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ हुए समझौते के अनुसार इस संगठन ने विश्व में श्रम एवं सामाजिक कार्यों को करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लिया है।

उद्देश्य एवं कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का निर्माण इस विश्वास पर आधारित है कि विश्वशान्ति की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक और आर्थिक न्याय की आधारशिला पर ही सम्भव है। यह वह अभिकरण है जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के निर्माण हेतु सरकारों, मजदूरों तथा नियोक्ताओं के प्रतिनिधि सम्मिलित रूप से भाग लेते हैं। इस संगठन के कार्यों के सम्बन्ध में तीन महत्वपूर्ण बातें स्मरण करने योग्य हैं :—

(१) यह अभिकरण सरकारों को इस सम्बन्ध में परामर्श देता है कि वे मजदूरों की रक्षा करने वाले आधुनिकतम विधान किस प्रकार प्रतिष्ठित करें;

(२) अन्तर्राष्ट्रीय कार्य द्वारा मजदूरों की अवस्था और रहन-सहन के स्तर में सुधार करना तथा आर्थिक एवं सामाजिक सुदृढ़ता को प्रोन्नत करना इसका प्रमुख उद्देश्य है, और

(३) रोजगार-सम्बन्धी पर्यवेक्षण और आँकड़ों तथा औद्योगिक सुरक्षा और स्वास्थ्य का भी विकास यह संगठन करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का मुख्य कार्य श्रम के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतों (conventions) तथा संस्तुतियों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों

का निर्माण करना है। इस संगठन के सदस्य-राज्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपनी सरकारों से इन समझौतों का अनुसमर्थन (ratification) करवा उन्हें विधि का रूप दिलवाने का प्रयत्न करेंगे और समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय को इस बात की सूचना देंगे कि इनका पालन कहाँ तक हो रहा है। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य है कि श्रमिकों की स्थिति के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते (international conventions) किये गये हैं किन्तु उनमें से सभी का सामान्यतः अनुसमर्थन नहीं किया गया है।

प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८) के पश्चात् जितनी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें स्थापित हुई हैं, उनमें से यह एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो बिल्कुल अभी तक उसी रूप में स्थापित है। इसके संविधान में स्पष्ट रूप से इस बात का वर्णन किया गया था कि विश्वव्यापी शान्ति केवल उसी समय स्थापित हो सकती है जबकि यह सामाजिक न्याय (समानता) पर आधारित हो। फिलाडेल्फिया (Philadelphia) में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (१९४४) में इसने शान्ति के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट की थी। निम्नलिखित सिद्धान्तों की पुष्टि फिलाडेल्फिया की घोषणा (Declaration of Philadelphia) ने की थी :—

(१) श्रम कोई वस्तु (commodity) नहीं है,

(२) कहीं भी गरीबी का होना सब जगह की समृद्धि के लिये संकटमय है,

(३) स्थायी विकास के लिये विचार प्रकट करने की और संगठन बनाने की स्वतंत्रता आवश्यक है, और

(४) प्रत्येक राष्ट्र में निष्ठुरतापूर्वक गरीबी के विरुद्ध युद्ध करना आवश्यक है। फिलाडेल्फिया की घोषणा में यह भी वर्णन किया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का यह गम्भीर दायित्व है कि वह निम्नलिखित सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा प्राप्ति करे :—

(१) पूर्णरूप से नौकरी तथा जीवित रहने लायक मजदूरी,

(२) सामाजिक सुरक्षा का विस्तार,

(३) पर्याप्त भोजन, निवास-स्थान तथा सम्मान,

(४) सामूहिक रूप से सौदा (मोलभाव) करने का अधिकार,

(५) शिक्षा-सम्बन्धी तथा व्यावसायिक अवसरों की समानता, तथा

(६) पर्याप्त स्वास्थ्य तथा रक्षात्मक कार्य।

इन सभी उद्देश्यों तथा कार्यक्रमों का सार यही है कि विश्वशान्ति और श्रमिकों की स्थिति को प्रत्येक प्रकार से उन्नत बनाया जाय तथा उन्हें आर्थिक दासता और शोषण से मुक्ति मिले। जब श्रमिकों के आर्थिक सुख और समृद्धि का विस्तार होगा तो स्वभावतः विश्वव्यापी शान्ति और सुरक्षा की स्थापना में

सहयोग मिलेगा। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जिसमें श्रम के क्षेत्र में इन लक्ष्यों की पूर्ति सम्भव हो सके। १९४६ में हुए एक सम्मेलन में सदस्य-राज्यों ने इस प्रकार के समाज को परिभाषित करते हुए यह विश्वास प्रकट किया था कि "सभी मनुष्यों को जाति, धर्म या लिंग के भेदभाव के बिना अपना भौतिक कल्याण तथा आध्यात्मिक विकास ऐसी दशाओं में करने का अधिकार है जिसमें स्वतंत्रता एवं प्रतिष्ठा हो, आर्थिक सुरक्षा हो तथा अवसरों की समानता हो" ("all human beings, irrespective of race, creed or sex, have the right to pursue both their material well-being and their spiritual development in conditions of freedom and dignity, of economic security and equal opportunity............")।[1] उन्होंने यह घोषणा की थी कि इन अवस्थाओं की प्राप्ति सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों और प्रयासों का "केन्द्रीय लक्ष्य" (central aim) है। इस प्रकार, समाज में व्यक्ति के कल्याण को सभी सामाजिक संगठनों के प्रारम्भिक उद्देश्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के अंग :—इस संगठन का कार्य तीन प्रमुख अंगों द्वारा होता है :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference):-[1] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सर्वोच्च प्राधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन है जिसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य से सरकार के दो, मजदूरों के एक तथा नियोक्ताओं के एक प्रतिनिधि रहते हैं।

(२) शासी निकाय (Governing Body) :—यह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की कार्यपालिका परिषद् है जिसका निर्वाचन सम्मेलन द्वारा होता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office):— अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के सचिवालय को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (Bureau) के नाम से जाना जाता है। इसका एक महानिदेशक (Director-General) होता है जिसकी नियुक्ति शासी निकाय द्वारा होती है।

मुख्यालय :—जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड),

शाखा कार्यालय :—अल्जियर्स, बेरूत, काहिरा डकार, दारेस्सलाम, नई दिल्ली, बोन, ट्युनिस-एरीज, इस्ताम्बुल, लागोस, लुसाका, मेक्सिकोसिटी, मास्को, ओटावा, पेरिस, पोर्ट ऑफ स्पेन, रायोडिजेनेरो, रोम, टोकियो, सानजोसे, माउण्डे, और वाशिंगटन;

1. quoted in Vernon Van Dyke : *International Politics*, p. 433.

क्षेत्रीय कार्यालय :—अदिस अबाबा (अफ्रीका के लिये), बैंकाक (एशिया के लिये) और लीमा (दोनों अमेरिका के लिये)।

उपलब्धियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के क्षेत्र में इस संगठन की सफलतायें अवर्णनीय हैं। मजदूरों के शोषण, महिलाओं तथा दासों के व्यापार को समाप्त करने में इसने महत्वपूर्ण कार्य किया है। इस संस्था का सबसे बड़ा कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समझौतों और संस्तुतियों के रूप में अनेक प्रकार की श्रमिकों व श्रम-सम्बन्धी दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय मानदण्डों का निर्माण करना है। दूसरे शब्दों में यह संगठन यह प्रयत्न करता है कि प्रत्येक देश में, प्रत्येक समाज में, श्रमिकों के श्रम का मूल्य तथा महत्व समान हैं तथा सामाजिक जीवन में उनके स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता मिले। इन अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समझौतों एवं संस्तुतियों को सम्मिलित रूप से "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता" (International Labour Code) कहा जाता है जो विविध प्रश्नों से सम्बन्धित हैं, जैसे :—

(अ) नौकरी और बेकारी,
(ब) नौकरी की शर्तें,
(स) महिलाओं और बालकों की नौकरी,
(द) व्यावसायिक प्रशिक्षण,
(प) व्यावसायिक स्वास्थ्य और सुरक्षा,
(फ) सामाजिक सुरक्षा,
(व) औद्योगिक सम्बन्ध,
(भ) समुद्रीय श्रम,
(म) संगठन की स्वतंत्रता,
(ट) श्रमिक संघ (Trade Union) से सम्बद्ध अधिकार,
(ठ) आप्रवासन (immigration) आदि।

यह संगठन व्यापक रूप से सरकारों को तकनीकी सहायता प्रदान करती है और सामाजिक, औद्योगिक तथा श्रम-सम्बन्धी प्रश्नों पर सामयिक पत्रिकायें और प्रतिवेदन प्रकाशित करती है।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन सदस्य राज्यों के अनुरोध पर जाँच आयोग भेजती है, परामर्शगोष्ठियाँ आयोजित करती हैं, छात्रवृत्तियाँ देती हैं तथा व्यावसायिक शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना में इसने विशेष रुचि दिखायी है। बलपूर्वक लिये

1. इसके प्रकाशनों में *International Labour Review* तथा *Yearbook of Labour Statistics* उल्लेखनीय हैं।

गये कार्यों के सम्बन्ध में तथा संगठन की स्वतत्रंता की अवहेलना के बारे में यह जाँच-पड़ताल करती है। यह संगठन विश्व में श्रम-सम्बन्धी अवस्थाओं के बारे में ज्ञान और सूचना एकत्रित करती है। यह इस संगठन का बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि इससे सामाजिक कानून के संहिताकरण में सदस्य-राष्ट्रों को दूसरे देशों के अनुभवों से लाभान्वित होने में सहायता मिलती है। यह उल्लेखनीय है कि 'संयुक्त राष्ट्रसंघ विस्तारित प्राविधिक सहायता प्रोग्राम' (United Nations Expanded Technical Assistance Programme) श्रम-सम्बन्धी विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा अल्पविकसित देशों को सहायता प्रदान करती है।

निःसन्देह अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के प्रयासों के परिणामस्वरूप विश्व के सभी देशों में श्रमिक समस्याओं के प्रति एक चेतना पैदा हो गयी है और श्रमिकों की दशाओं को सुधारने के लिये कल्याणकारी विधियों का निर्माण हो रहा है। इसकी स्तुति में यह ठीक ही कहा गया है कि इसने सामाजिक न्याय को अनिश्चय की लहरों और प्रतिक्रियावाद के प्रभुत्व से बन्धन-मुक्त कर दिया है। यह सगठन आज एक विश्वव्यापी संस्था है जिसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों को "श्रम की विश्व संसद" (World Parliament of Labour) कहा जाता है। इस संगठन की सफलता उन सभी मनुष्यों की सफलता है जो अपनी शुभकामनाओं द्वारा मनुष्य मात्र का कल्याण करना चाहते हैं।

श्रमिकों के कल्याण हेतु प्रशंसनीय कार्य करने के बावजूद भी अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि सदस्य-राष्ट्रों के प्रति अपने व्यवहार में यह निष्पक्ष नहीं रहा है तथा इसने जरूरतमन्दों की अपेक्षा कम जरूरतमन्दों की अधिक सहायता की है। यह सगठन पश्चिमी देशों की ओर अधिक ध्यान देती है तथा एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों की ओर कम ध्यान देती है। दूसरे, लोगों का कहना है कि यह संगठन इतने अधिक समझौते और सिफारिशें तैयार करती है कि उन्हें स्वीकार करना अथवा उन सबको प्रभावशाली ढंग से व्यवहार में लाना आज की जटिल सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों में सम्भव नहीं है।

भारत तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

भारत आरम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का सदस्य रहा है। प्रमुख औद्योगिक महत्व का देश होने के नाते भारत को अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सगठन के शासी निकाय में स्थायी सदस्यता प्राप्त है।[1] भारत सरकार अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में सक्रिय रूप से भाग लेती रही है और इस उद्देश्य हेतु श्रम मंत्रालय ने एक विशेष सम्मेलन

1. विस्तृत जानकारी के लिये देखिये *India and the United Nations*, pp. 190-196.

विभाग (Conference Division) की स्थापना की है जिसके द्वारा भारत में त्रिदलीय सम्मेलनों और समितियों की व्यवस्था की जाती है। भारत वार्षिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलनों में त्रिदलीय प्रतिनिधि मंडलों, जिनमें सरकार, मजदूरों और नियोक्ताओं के प्रतिनिधि शामिल होते हैं, को भेजता है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा स्थापित ९ औद्योगिक समितियों में से पेट्रोलियम समिति को छोड़कर भारत सभी समितियों का सदस्य है। इस संगठन ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, श्रम-सम्बन्धी रिपोर्टों आदि के द्वारा श्रम समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर श्रमिकों एवं उनके संगठनों को मूल्यवान सूचना प्रदान की है। इस प्रकार इस देश में श्रमिक आन्दोलन पर ILO का बहुत प्रभाव पड़ा है। इस संगठन की सक्रिय सदस्यता एवं सहायता देश में सौहार्द्रपूर्ण श्रमिक-प्रबन्धक सम्बन्धों के विकास एवं स्थायित्व के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(२) संयुक्त राष्ट्र शिक्षा-विज्ञान तथा संस्कृति-सम्बन्धी संगठन

(United Nations Educational Scientific and Cultural Organisation)[1]

अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी सहयोग के महत्व को बहुत पहले से ही स्वीकार किया गया है। इस क्षेत्र में सबसे पहले प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१९१८) के बाद राष्ट्रसंघ से सम्बद्ध "बौद्धिक सहयोग की अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान" (International Institute of Intellectual Cooperation) की स्थापना पेरिस में हुई थी। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५५ ने भी इस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता को विशेष रूप से स्वीकार किया है। १९४५ के नवम्बर माह में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ जिसने यूनेस्को के संविधान की रचना की और जो संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक विशिष्ट अभिकरण हो गया है। यूनेस्को ने नवम्बर ४, १९४६ से अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

यूनेस्को विशेषज्ञों की एक संस्था है जिसका सम्बन्ध शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति के विकास में है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में दृढ़ता के साथ यह घोषणा की गयी है कि संसार के सभी लोगों को जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना मानव अधिकार एवं मौलिक स्वतंत्रताएँ प्राप्त होंगी, इसके प्रति तथा न्याय एवं विधि के शासन के प्रति विश्वनिवासियों में आदरभाव की वृद्धि करना भी इसका लक्ष्य है।

यूनेस्को के अंग :—यूनेस्को का गठन तीन प्रधान अंगों द्वारा होता है जो इस प्रकार है :

1. इसका संक्षिप्त नाम यूनेस्को (UNESCO) है।

(१) सामान्य सभा (General Conference) : यूनेस्को के कार्यसंचालन के लिये सभी सदस्य राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक सामान्य सभा होती है जिसकी बैठक प्रत्येक दूसरे वर्ष हुआ करती है। सामान्य सभा नीति निर्धारित करती है तथा कार्यक्रम (प्रोग्राम) एवं बजट को स्वीकृति प्रदान करती है।

(२) कार्यकारी मंडल (Executive Board) : सामान्य सभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित एक कार्यकारी मंडल का गठन होता है जिसकी बैठक वर्ष में दो बार होती है तथा यह अपने कार्यों के लिये सामान्य सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। सदस्य राष्ट्रों के राष्ट्रीय आयोगों (National Commissions) के द्वारा इसके कार्यक्रम सम्पन्न कराये जाते हैं। प्रारम्भ में मंडल में १८ सदस्य होते थे परन्तु यूनेस्को की सदस्यता में वृद्धि के फलस्वरूप समय-समय पर इसके संविधान में संशोधन कर मंडल की सदस्यता में वृद्धि की गयी है। उदाहरणार्थ, मंडल के सदस्यों की संख्या १९५२ में २०, १९५४ में २२, १९५६ में २४, १९६२ में ३० तथा १९६८ में ३४ थी। इस समय मंडल में ४५ सदस्य हैं।

कार्यकारी मंडल का कार्य सामान्य सभा द्वारा स्वीकृत कार्यक्रम को कार्यान्वित करना है। इसके अन्य कार्यों में सामान्य सभा के लिये कार्यसूची तैयार करना, नये सदस्यों के प्रवेश के लिये संस्तुतियाँ करना, दूसरे संगठनों से परामर्श करना तथा महानिदेशक के वार्षिक प्रतिवेदन को प्रस्तुत करना मुख्य हैं।

सचिवालय (Secretariat) : सचिवालय यूनेस्को का तीसरा अंग है जिसमें एक महानिदेशक (Director-General) तथा अन्य नियुक्त अधिकारी होते हैं। महानिदेशक, जिसे संविधान में इस संगठन का प्रमुख प्राधिकारी कहा गया है, कार्यकारी मंडल द्वारा मनोनीत किया जाता है और सामान्य सभा द्वारा ६ वर्ष की अवधि के लिये नियुक्त किया जाता है। यूनेस्को के प्रथम महानिदेशक डॉ० जूलियन हक्सले (Dr Julian Huxley) थे। इस समय यूनेस्को के महानिदेशक सेनेगल के अमादू महतारम्बो (Amadou Mahtar M' Bow) हैं। इनसे पूर्व फ्रांस के रेनी मेहू (Rene Maheu) इस पद को सुशोभित कर चुके हैं।[1]

यूनेस्को का मुख्यालय पेरिस (फ्रांस) में है।

यूनेस्को के उद्देश्य

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस संस्था की स्थापना महान आदर्शों की प्राप्ति के लिये हुई थी। "शान्ति की स्थापना मानव मस्तिष्क और चेतना में हो" यह एक प्रमुख आदर्श है जिसकी प्राप्ति शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक जागरण से ही हो

1. *The World in the Class Room*, published by the Indian National Commission for Unesco, Ministry of Education and Social Welfare, p 8

सकती है। यूनेस्को इसी लक्ष्य की ओर बढ रहा है। यूनेस्को के संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है, "चूँकि युद्ध मानव मस्तिष्क में जन्म लेते हैं, इसलिये मानव मस्तिष्क में ही शान्ति की सुरक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये।...... सरकारों की केवल राजनीतिक तथा आर्थिक समझौतों पर आधारित शान्ति एक शान्ति नहीं होगी जिसे विश्व की जनता का निर्विरोध, चिरस्थायी तथा वास्तविक समर्थन प्राप्त हो सके।.........यदि इसे असफल नहीं होना है, तो शान्ति की स्थापना मानव-जाति की बौद्धिक तथा नैतिक एकत्व पर होनी चाहिये" (Since wars begin in the minds of men, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed.........The wide diffusion of culture and the education of humanity for justice and liberty and peace are indispensable to the dignity of man and constitute a sacred duty which all nations must fulfil in a spirit of mutual assistance and concern.........A peace based exclusively upon the political and economic arrangements of governments would not be a peace which would secure the unanimous, lasting and sincere support of the peoples of the world......the peace must therefore be founded, if it is not to fail, upon the intellectual and moral solidarity of mankind")।

यूनेस्को के सामान्य उद्देश्य हैं, "राष्ट्रों के मध्य शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति द्वारा सहयोग की अभिवृद्धि करते हुए जाति, लिंग, भाषा या धर्म के भेदभाव के बिना संयुक्त राष्ट्र चार्टर मे निहित ससार की सभी जातियो के लोगों के लिये न्याय, विधि के शासन तथा मानव अधिकारो और मौलिक स्वतंत्रताओं के लिये विश्वव्यापी सम्मान बढ़ाकर शान्ति और सुरक्षा में योगदान देना है ("to contribute to peace and security by promoting collaboration among the nations through education, science and culture in order to further universal respect for justice, for the rule of law and for the human rights and fundamental freedoms which are affirmed for the peoples of the world, without distinction of race, sex, language or religion, by the Charter of the United Nations")[1]। यूनेस्को अपने उच्च आदर्शों और महान लक्ष्यो को पूरा करने के प्रयासों द्वारा विश्व के विविध राष्ट्रों के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की वृद्धि करता है। जिस शान्ति की

1. Extracts from the Unesco Constitution.

प्राप्ति यूनेस्को का लक्ष्य है, वह सेनाओं की शान्ति नहीं है, न आर्थिक समझौतों की शान्ति है बल्कि यह मस्तिष्क तथा हृदय की शान्ति है।[1]

इस संगठन का मुख्य उद्देश्य संसार में शिक्षा में सुधार करना, उसमें समानता लाना, वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मानव-जीवन के स्तर को उच्च करना तथा संसार के लोगों की सांस्कृतिक दशा में उन्नति करना और उनके बीच पारस्परिक सहयोग स्थापित करना है। यूनेस्को का यह भी उद्देश्य है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के विभेद जो लिंग, धर्म, जाति, रंग आदि के आधार पर चल रहे हैं, उन्हें समाप्त करके संसार में विश्वबन्धुत्व की भावना का संचार करे। कुल मिलाकर यूनेस्को 'एक विश्व' तथा शांति और सद्भाव के उच्चतम लक्ष्यों से प्रेरित है।

कार्य और उपलब्धियाँ

यूनेस्को ने शिक्षा, विज्ञान, साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्रों में विविध महत्वपूर्ण कार्यों को पूरा करते हुए विश्वशान्ति की स्थापना में जो योगदान किया है, वह स्मरणीय रहेगा। राजनीति ही सब कुछ नहीं, जीवन को शान्ति और प्रेरणा देने वाले शाश्वत तत्व हैं—साहित्य, शिक्षा, कला और संस्कृति। संयुक्त राष्ट्रसंघ का यूनेस्को इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य कर रहा है। इस संस्था ने जिन क्षेत्रों में सफलतायें प्राप्त की हैं, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं :—

(१) **शिक्षा के क्षेत्र में** :—शिक्षा का विस्तार और शिक्षा की उन्नति यूनेस्को का सर्वप्रथम कार्य है। इस प्रोग्राम में साक्षरता-प्रसार तथा बुनियादी शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन दिया गया है। निरक्षर जनता को न केवल साक्षर बनाने के प्रयास किये जाते हैं बल्कि उन्हें शारीरिक स्वास्थ्य, आहार-पोषण, गृह-विज्ञान, कृषि आदि की प्रारम्भिक शिक्षा भी दी जाती है। यूनेस्को का यह पवित्र लक्ष्य है कि सम्पूर्ण विश्व में सब लोगों के लिये निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था की जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति और प्राप्ति के लिये यूनेस्को विभिन्न देशों की शिक्षा-सम्बन्धी विशेष योजना को सहायता देता है।

यूनेस्को ने अपने सर्वेक्षण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला है कि विश्व के ९७ देशों और क्षेत्रों में निरक्षरता का दर ५० प्रतिशत से भी अधिक है तथा दूसरे २० देशों में ९५ प्रतिशत से भी अधिक जनता निरक्षर है। इस निरक्षरता के प्रतिशत को घटाने के लिये यूनेस्को ने कई कार्यक्रमों को चालू किया है। इस सम्बन्ध में पाइलट प्रोजेक्ट्स (pilot projects) उल्लेखनीय हैं जिसे यूनेस्को ने १९६५ में ८ चुने

1. यूनेस्को की सदस्य संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है। जब इस संस्था की स्थापना हुई तो केवल २० देश इसके सदस्य थे। अब इन देशों की संख्या १३१ है।

हुए देशों में जनसाक्षरता (mass literacy) हेतु आरम्भ किये। निरक्षरता तथा प्रौढ़ शिक्षा (adult education) पर यूनेस्को ने सम्मेलनों तथा शैक्षणिक मिशनों को गठित किया है। पाठ्य-पुस्तकों तथा अध्यापन-सामग्रियों के गुणात्मक स्तर के सुधार हेतु इसने सहयोग प्रदान किया है। अन्य समस्याओं में, जिन पर यूनेस्को ने अपना ध्यान स्थिर कर रखा है, अध्यापकों की भर्ती और प्रशिक्षण, उपयुक्त अध्यापन पद्धतियों का विकास तथा विद्यालय-भवनों की व्यवस्था है। निरक्षरता को समाप्त करने के लिये इसने १९६२ में World Campaign for Universal Literacy आरम्भ किया था। यूनेस्को के विश्व साक्षरता कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत में किसानों के लिये क्रियात्मक साक्षरता परियोजना प्रारम्भ की गयी है। यह परियोजना खाद्य एवं कृषि, शिक्षा एवं युवा-सेवा और सूचना तथा प्रसारण मंत्रालयों द्वारा चलाये जा रहे संयुक्त कार्यक्रम का अंग है। १९७०—७१ में लगभग ६० जिलों में यह परियोजना चालू थी। १९६३ में यूनेस्को ने पेरिस में इन्स्टिट्यूट ऑफ एजूकेशनल प्लानिंग (Institute for Educational Planning) की स्थापना की।

यूनेस्को ने शान्ति की नींव को सुदृढ़ करने के लिये सही आधार का चयन किया है—बालकों के कोमल मस्तिष्क का विकास। इस संगठन ने सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया है कि वे अपने यहाँ की पाठ्य-पुस्तकों से दूसरे देशों के प्रति पक्षपातपूर्ण सामग्री को निकाल दें तथा बालकों के मस्तिष्क को मिथ्या राष्ट्रीय अभियान, दूसरी जातियों के लोगों के प्रति घृणा तथा पक्षपात की मनोवृत्तियों से मुक्त रखने का प्रयत्न करें। सच तो यह है कि शिक्षा प्रसार द्वारा यूनेस्को ने विश्व-नागरिकता के मूलभूत तत्वों का प्रचार करके युद्ध-उत्पादक विचारों के विरुद्ध एक सफल अभियान आरम्भ कर रखा है।

(२) प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में :—प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को की भूमिका निश्चित रूप से सराहनीय है क्योंकि यूरुवे, चीन, भारत तथा मिस्र में इसने विज्ञान कार्यालयों की स्थापना की है जो विज्ञान के क्षेत्र में अधिक विकसित देशों तथा कम विकसित क्षेत्रों के बीच कड़ी का काम करती हैं। यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय वैज्ञानिक संघ परिषद् (International Council of Scientific Unions) को पर्याप्त अनुदान प्रदान किया है। अन्तर्राष्ट्रीय शोध कार्य की उन्नति हेतु यूनेस्को निरन्तर प्रयत्नशील है। उदाहरण के लिये इसने १९५३ में जेनेवा में European Nuclear Research Organisation की स्थापना की। १९६० में International Brain Research Organisation (IBRO) का निर्माण तथा १९६२ मे International Cell Research Organisation (ICRO) की स्थापना यूनेस्को के वैज्ञानिकों के प्रयासों का महत्वपूर्ण फल है। विश्व में जल

कमी को पूरा करने के लिये साधन खोजते हेतु यूनेस्को ने जनवरी १, १९६५ से 'इन्टरनेशनल हाइड्रोलाजिकल डिकेड' (International Hydrological Decade) प्रोग्राम आरम्भ किया। विश्व के जिन देशों में विज्ञान की शिक्षा प्रायः नगण्य सी है, उन देशों मे प्राथमिक स्तर पर इसे उन्नति करने हेतु यूनेस्को ने आवश्यक कदम उठाये हैं।

(३) **सामाजिक विज्ञान के क्षेत्र में** :—सामाजिक विज्ञानों के क्षेत्र में यूनेस्को समानरूप से क्रियाशील है। सामाजिक और धार्मिक समस्यायें, औद्योगीकरण, शहरीकरण तथा दूसरी समस्याये जो विभिन्न जातियों के लोगों तथा राष्ट्रों के मध्य सन्देह, अविश्वास तथा मिथ्याबोध को जन्म देती हैं, पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन यूनेस्को ने आयोजित किये हैं तथा सामाजिक विज्ञान संस्थान स्थापित करने के लिये अनेक देशों में विशेषज्ञ भेजे हैं और इस कार्य के लिये गैर-सरकारी संस्थाओं को भी सहायता दी है। यूनेस्को ने प्रयत्न किया है कि सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु सामाजिक विज्ञानों का प्रयोग किया जाना चाहिये। यूनेस्को ने अन्तर्राष्ट्रीय सौमनस्य (International understanding) पर प्रभाव डालने वाले मनोवैज्ञानिक तनावों का अध्ययन किया है तथा ऐसे अध्ययनों को प्रोत्साहन दिया है। नवम्बर ५, १९७३ को यूनेस्को द्वारा लेबनान में 'International Centre for Human Sciences and Development' की स्थापना की गयी।[1] इसी प्रकार, १९७४ में यूनेस्को ने मिस्र (काहिरा) में 'Centre for Social Science Research and Documentation in the Arab Region' की स्थापना में सहयोग प्रदान किया।[2]

प्रजातिवाद (Racialism) पर यूनेस्को द्वारा किये गये अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि एक जाति को दूसरी जाति से उच्च मानने का कोई सही वैज्ञानिक या न्यायोचित आधार नहीं हो सकता। यह प्रशंसनीय है कि जातीय पक्षपात एवं जातीय विभेद जैसी बुराइयों को दूर करने के लिये यूनेस्को ने अपने प्रयासों को मानव-मस्तिष्कों पर केन्द्रित कर रखा है। यह हर्ष का विषय है कि यूनेस्को मानव-मस्तिष्क में जातीय भेदों और युद्ध के विरुद्ध 'सुरक्षागढ़' निर्मित करना चाहता है। राजनीतिक स्तर पर जातीयता तथा युद्ध के विरुद्ध राज्यों और संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा कार्यवाई की जानी आवश्यक है किन्तु दुःख का विषय है कि यह कार्यवाई सफल न होने से प्रजातीयता की भावना न केवल जीवित है बल्कि दक्षिण अफ्रीका तथा रोडेशिया जैसे देशों में दीर्घायु हो रही है।

---

१. देखिये *United Nations Weekly Newsletter, November 16, 1973, p. 2.*

२. देखिये *United Nations Weekly Newsletter, November 8, 1974, p. 2.*

(४) सांस्कृतिक क्षेत्र में :—संस्कृति के क्षेत्र में तो यूनेस्को का कार्यक्षेत्र काफी बढ़ा है। बताया जाता है कि विश्व में सभी जगह यूनेस्को की सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण संस्कृति के सम्बन्ध में लोगों की परिभाषा ही बदल गयी है। छोटी जगहों पर भी सांस्कृतिक परम्परा की रक्षा के लिये यूनेस्को ने काफी काम किया है। इतना ही नहीं, इन छोटे स्थानों की सांस्कृतिक परम्पराओं से दुनिया को अवगत कराया गया। यूनेस्को का यह कार्य वास्तव में विश्व प्रेम और सद्भाव बढ़ाने में सहायक हुआ है। एशियाई-अफ्रीकी देशों में सांस्कृतिक दृष्टि से अमूल्य अवशेषों का जीर्णोद्धार यूनेस्को के प्रयत्नों से ही हुआ है। इस प्रकार के कार्यों से यूनेस्को की क्षमता में लोगों का विश्वास काफी बढ़ा है। नये देशों के यूनेस्को का सदस्य बनने के बाद इस संस्था ने अनुभव किया कि इन देशों की संस्कृति का पूरी तरह अध्ययन किया जाना चाहिये। इस कार्य में काफी समय लगा और अब भी यह कार्य जारी है। उद्देश्य है कि ये देश अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता कायम रखते हुए यूनेस्को की गतिविधियों में भाग लें। विकासशील देशों की सहायता करने तथा वहाँ विज्ञान और टेक्नोलॉजी का प्रचार करने का यही एक सही तरीका हो सकता था।

१९६७ से यूनेस्को ने सदस्यों को पर्यटन विकास के सम्बन्ध में ऐतिहासिक स्मारकों और स्थलों की रक्षा हेतु तकनीकी सहायता देना प्रारम्भ किया है। दिसम्बर १९६८ तक इस प्रकार की सहायता प्राप्ति के लिये ३१ देशों ने अनुरोध किया था।

(५) व्यक्ति-विनिमय के क्षेत्र में :—इस कार्यक्रम के अन्तर्गत यूनेस्को ने मानव समाज में बौद्धिक स्तर पर सद्भाव लाने का प्रयत्न किया है तथा दुनिया के वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों, दार्शनिकों, समाजशास्त्रियों तथा अर्थशास्त्रियों को विचारों के आदान-प्रदान के अनेक अवसर प्रदान किये हैं। यूनेस्को के इस कार्यक्रम को अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय सेवा (International Exchange Service) के नाम से जाना जाता है और इससे सम्बद्ध प्रकाशनों में Teachers for Africa, Hand-book on International Exchanges in Education, Science, Culture and Mass Communications आदि महत्वपूर्ण हैं।

(६) मानवाधिकार के क्षेत्र में—मानव अधिकारों का सम्मान और लोगों के न्याय प्राप्त करने के अधिकार की रक्षा यूनेस्को के आदर्शों में से एक है। जब एक मानव समाज में ये दोनों आदर्श एक मान्यता के रूप में स्वीकार नहीं किये जायेंगे तब तक इन्हें पूर्ण रूप से कार्यान्वित नहीं किया जा सकता। १९४६ से लेकर अब तक यूनेस्को ने प्रचार तथा सम्पर्क साधनों द्वारा इन दोनों प्रश्नों के पक्ष में लोकमत तैयार किया है। यह ठीक है कि यूनेस्को के लिये तत्काल ही यह ज

कठिन होता है कि मानव अधिकारों का उल्लंघन कहाँ हुआ है। लेकिन इस समस्या के प्रति जनता में एक संतुलित विचार उत्पन्न करना यूनेस्को का प्रमुख कार्य रहा है। दोनों समस्याओं का समाधान बहुत कुछ इस बात पर भी निर्भर करता है कि विश्व में सतुलित अर्थव्यवस्था कायम हो। यूनेस्को इसके लिये प्रयत्नशील रहा है। कहा जा सकता है कि कुछ देशों में मानव अधिकार उपलब्ध कराना बहुत कठिन है, लेकिन यूनेस्को के विचार में लोगों को इन अधिकारों के प्रति जागरूक तो बनाया ही जा सकता है। गरीबी और अज्ञान भी इन अधिकारों को लागू करने के रास्ते में एक प्रमुख कठिनाई रही है।

अन्य उपलब्धियाँ

१९५२ में स्वीकृत "सर्वदेशीय कॉपीराइट अभिसमय" (Universal Copyright Convention) यूनेस्को की एक प्रमुख सफलता मानी जाती है, क्योंकि यह लेखकों तथा कलाकारों के अधिकारों एवं हितों की रक्षा करता है। मानव अधिकारों के क्षेत्र में यूनेस्को १९४८ की "मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा" (Universal Declaration of Human Rights) के प्रसार हेतु सदैव सक्रिय रहा है। यूनेस्को के तत्वावधान में १९६८ में सांस्कृतिक अधिकारों को मानव अधिकारों के रूप में अध्ययन करने के लिये विशेषज्ञों की एक अन्तर्राष्ट्रीय बैठक आयोजित की गयी थी तथा १९६९-७० में संस्कृति-सम्बन्धी अधिकार के इस विषय पर उसी प्रकार के अध्ययन किये गये। यूनेस्को संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक परामर्शदाता के रूप में सदैव ही अपनी भूमिका निभाने के लिये उत्सुक रहा है तथा यह नियमित रूप से न्यास परिषद् को प्रशासी प्राधिकारियों द्वारा दिये गये प्रतिवेदनों पर टीका-टिप्पणी (Comments) प्रस्तुत करता है।

यूनेस्को ने आर्थिक और सामाजिक परिषद् के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण सर्वेक्षण तथा अध्ययन (surveys and studies) किये हैं जो इस प्रकार हैं :

(१) प्राकृतिक विज्ञानों में शोध की प्रमुख प्रवृत्तियाँ (main trends in research in the natural sciences);

(२) वैज्ञानिक प्रलेखन का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तथा उसका प्रसार (the international organisation of scientific documentation and its dissemination);

(३) अन्तर्राष्ट्रीय सौमनस्य के लिये युवजन की शिक्षा (education of youth for international understanding);

(४) सम्पूर्ण विश्व में निरक्षरता की अवस्था तथा उसके उन्मूलन के उपाय (the state of illiteracy throughout the world and ways of eradicating it);

(५) जनसम्पर्क माध्यम में विकासशील देशों की आवश्यकतायें (the needs of developing countries in the mass media);

(६) शिक्षा के लिये अन्तरिक्ष-संचार का प्रयोग (the use of space communication for education); तथा

(७) अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक सहयोग में निर्देशक सिद्धान्तों का अनुप्रयोग (guiding principles to be applied in international cultural cooperation) ।

भारत और यूनेस्को

शिक्षा क्षेत्र की गतिविधियों में यूनेस्को ने भारत के शिक्षा जगत् के लिये सभी स्तरों पर काफी सहायता दी है। निरक्षरता दूर करने में भारत को सबसे अधिक सहायता यूनेस्को से मिली है। भारत यूनेस्को के संस्थापक सदस्यों में से है, और इसके कार्यों में प्रारम्भ से ही भाग लेता रहा है। खाद्य एवं कृषि संगठन में भारत का योगदान यूनेस्को के कारण ही हुआ। आज इस संस्था के सहयोग से भारत को कृषि क्षेत्र में भी सहायता मिल रही है। कृषि क्षेत्र में शिक्षा और अनुसंधान के कार्य भारत में खाद्य एवं कृषि संगठन की सहायता से चलाये जा रहे हैं और इसमें बहुत कुछ यूनेस्को का हाथ है। विज्ञान, शिक्षा योजना कार्यों में भी भारत को यूनेस्को से काफी सहायता मिली है। विज्ञान कार्यक्रमों को लागू करने और उनमें समन्वय स्थापित करने के लिये यूनेस्को के प्रादेशिक केन्द्र कार्य कर रहे हैं। इनमें दक्षिण पूर्व एशिया के लिये एक केन्द्र का प्रधान कार्यालय दिल्ली में है। यूनेस्को द्वारा संचालित प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय कार्यक्रमों में भारत भाग लेता है। विज्ञान और टेक्नोलॉजी, सम्बन्धी दक्षिण और मध्य एशियाई यूनेस्को प्रादेशिक कार्यालय नयी दिल्ली में स्थित है। इस कार्यालय का निदेशक इन क्षेत्रों में यूनेस्को के कार्यक्रमों और गतिविधियों में समन्वय रखता है।

अक्टूबर-नवम्बर, १९७४ में पेरिस में आयोजित यूनेस्को की सामान्य सभा के १८ वें अधिवेशन में एक प्रस्ताव द्वारा यह दृढ़ता से कहा गया कि, "मानव अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं की रक्षा तथा समुन्नति और युद्ध, उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, प्रजातिवाद, प्रजाति-पार्थक्य तथा अत्याचार एवं भेदभाव के सभी दूसरे रूपों को उकसाने वाले तत्वों के विरुद्ध संघर्ष यूनेस्को का एक अनिवार्य कर्तव्य है" ("the defence and promotion of human rights and fundamental freedoms, and the struggles against incitement to war, colonialism, new-colonialism, racialism, apartheid and all other forms of opression and discrimunation are an essential duty for Unesco.") ।[1]

1. *The World in the Class Room*, published by the Indian National Commission for Unesco, Ministry of Education and Social Welfare, p 8.

अन्त में, यूनेस्को के कार्यकलापों तथा उद्देश्यों का मूल्यांकन करते हुए इसके महानिदेशक रेनी मेह्यू (Rene Meheu) के शब्दों में कहा जा सकता है :

"The essential element in Unesco's vocation and action is not Technical, but ethical. Unesco's objectives are essentially moral. They are not the advancement of education, science and culture; however eminent the instrinsic warranting for fostering them, all three are, in our Constitution's eyes, no more than avenues and media. Unesco's goal is the same as that of the entire United Nations system : peace.........Education, science and culture are the great disciplines for moulding and colouring the mind, and Unesco's mission, its ultimate raison d'etre, is to use them to implant in the inmost conciousness of individuals and peoples the predilections towards justice and tolerance which, in the last analysis, are the determinants between liberty or bondage, life or death."[1]

(३) विश्व स्वास्थ्य संगठन
(World Health Organisation)

यह निर्विवाद सत्य है कि स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता होती है। कीटाणु अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं का सम्मान नहीं करते और वे एक देश से दूसरे देश में पारपत्र (passport) या वीसा (visa) की स्वीकृति के बिना ही प्रवेश कर जाते हैं। वस्तुतः सान फ्रांसिसको सम्मेलन में स्वास्थ्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार-क्षेत्र का ही विषय माना गया था। राष्ट्रसंघ की स्वास्थ्य सेवाओं की सफलता तथा रोगों के विरुद्ध लड़ाई में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता के कारण ही आर्थिक और सामाजिक परिषद् (ECOSOC) ने अपने प्रथम अधिवेशन में एक प्राविधिक उपक्रम समिति (Technical Preparatory Committee) की नियुक्ति की जिसने स्वास्थ्य सेवाओं में रुचि रखने वाले सभी सदस्यों के एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सम्मेलन (International Health Conference) को आमंत्रित किया। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) का संविधान जुलाई २२, १९४६ को हस्ताक्षरित किया गया किन्तु राजनीतिक सन्देह तथा राष्ट्रीय ईर्ष्या ने इसके अनुसमर्थन में बाधा डाली। फलतः इस संगठन की

1. Extract from the speech of the Director-General of Unesco, Mr. Reno Maheu, 1966.

विधिवत् स्थापना अप्रैल ७, १९४८ को हो सकी। इसका मुख्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन के अंग

विश्व स्वास्थ्य संगठन के तीन प्रधान अंग हैं :

(१) विश्व स्वास्थ्य सभा (World Health Assembly) :—इस संगठन के संविधान के अनुसार इसके कार्य सम्पादन के लिये विश्व स्वास्थ्य सभा का गठन किया गया है जिसमें सभी सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित होते हैं तथा जिसकी बैठक नियमित रूप से प्रतिवर्ष हुआ करती है। सभा का मुख्य कार्य नीति निर्धारण तथा बजट को नियंत्रित करना है।

(२) कार्यकारिणी मंडल (Executive Board) :–कार्यकारिणी मंडल को इस संगठन की विशेषज्ञों की एक समिति कहा जा सकता है। इसके सदस्यों का निर्वाचन विश्व स्वास्थ्य सभा द्वारा होता है और जिसकी बैठक वर्ष में दो बार हुआ करती है।

(३) सचिवालय (Secretariat) :—सचिवालय विश्व स्वास्थ्य संगठन का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है जिसमें एक महानिदेशक (Director-General) और उसका कर्मचारी-वृन्द होता है। महानिदेशक विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रशासकीय एवं तकनीकी कार्यों की देखभाल करता है। महानिदेशक कार्यकारिणी मण्डल द्वारा मनोनीत होता है और विश्व स्वास्थ्य सभा द्वारा पाँच वर्ष के लिये नियुक्त किया जाता है।

इस समय विश्व स्वास्थ्य संगठन के डायरेक्टर–जनरल डेनमार्क के डॉ० हाफदन टी० मालेर (Dr. Halfdan T. Mahler) हैं। इनके पूर्व इस संगठन के महानिदेशक ब्राजील के डॉ० मार्कोलिनो गौम्स कैण्डा (Dr. M. G. Candau) थे जिन्होंने इस पद की हैसियत से इस संगठन को २० वर्षों तक अपनी सेवायें प्रदान कीं।

उद्देश्य एवं कार्य :–विश्व स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य है—"संसार की सभी जातियों के लोगों द्वारा स्वास्थ्य के यथासम्भव उच्चतम स्तर की प्राप्ति" ("The attainment by all peoples of the highest possible level of health")। और स्वास्थ्य (health), जैसा कि विश्व स्वास्थ्य संगठन के संविधान में इसकी परिभाषा की गयी है, "किसी रोग या दुर्बलता का अभाव नहीं है अपितु पूर्ण शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक कल्याण की अवस्था है" ("a state of complete physical, mental and social well-being and not merely the absence of disease or infirmity")। विश्व स्वास्थ्य संगठन का संविधान इस बात पर बल देता है कि, सभी लोगों

का स्वास्थ्य शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिये मूलाधार है और यह व्यक्तियों तथा राज्यों के सर्वाधिक सहयोग पर ही निर्भर करता है। "The health of all peoples is fundamental to the attainment of peace and security and is *dependent upon the fullest cooperation of individuals and states*"

विश्व स्वास्थ्य संगठन की सदस्यता सभी राज्यों के लिये खुली हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य इस संगठन के संविधान को स्वीकार कर इसमें सम्मिलित हो सकते हैं। १९६३ में १२४ देश विश्व स्वास्थ्य संगठन के सदस्य थे। आज विश्व के १४९ से भी अधिक देश इस संगठन के सदस्य हैं।[1]

कार्य एवं उपलब्धियाँ

संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में विश्व स्वास्थ्य संगठन अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य सेवाओं के क्षेत्र में केन्द्रीय निदेशक तथा समन्वयी प्राधिकारी (central directing and coordinating authority) है। इसके द्वारा सम्पादित कार्यों को मुख्यतयाः दो भागों में बाँटा जा सकता है : (अ) परामर्शदात्री तथा सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवायें (advisory and public health services) तथा (ब) प्राविधिक सेवायें (technical services)। इस संगठन ने मलेरिया (malaria), क्षयरोग (tuberculosis), शीतज्वर (influenza), शीतला (small-pox), कोढ़ (leprosy), कालाज्वर (typhus), रोहुआ (trachoma),[2] फाइलेरिया रोग (filariasis), मैथुन सम्बन्धी या यौन रोगों (venereal diseases), हैजा (cholera), बिलहार्जिया रोग (bilharziasis)[3] तथा अन्य संचारी रोगों के विरुद्ध लड़ाई में अनेक देशों को सहायता प्रदान की है। यह विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रयासों का ही परिणाम है कि आज मलेरिया का प्रकोप विश्व के अधिकांश देशों में नगण्य रह गया है तथा उन देशों में, जहाँ यह लोगों की मृत्यु का प्रधान कारण था, इसके प्रकोप में उत्तरोत्तर ह्रास हुआ है। आज मलेरिया उन्मूलन हेतु विश्व स्तर पर चलाया गया अभियान निःसन्देह किसी एक रोग के विरुद्ध किया जानेवाला सबसे बड़ा प्रयास है। यदि यह सफल रहा तो विश्व की आधी जनसंख्या को जीवन-

---

१. जून १९७५ के आँकड़े के अनुसार WHO के सदस्यराज्यों की संख्या १४९ थी।

२. आँख का एक रोग जिसमें पलकों के भीतरी हिस्से में दाने पड़ जाते हैं।

३. अनपढ़ृत के प्रदेशों (विशे० मिस्र) के निवासियों के रक्त एवं मूत्राशय में पाया जाने वाला परान्नयी कीड़े से उत्पन्न पुराना रोग।

अवस्थाओं को प्रभावित करेगा । १९६० में ३०० मलेरिया विशेषज्ञ ७३ विभिन्न देशों में कार्यरत थे। मानव कल्याण हेतु मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के क्षेत्र में वास्तव में एक महान चुनौती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने अनेक देशों को सार्वजनिक स्वास्थ्य प्रशासन, प्रसूतिका और शिशु स्वास्थ्य, सामाजिक और व्यावसायिक स्वास्थ्य, उपचार-सेवा, आहार-पोषण, वातावरण की सफाई, सार्वजनिक स्वास्थ्य शिक्षा और प्रशिक्षण, मानसिक स्वास्थ्य, दन्त स्वास्थ्य, सामुदायिक जल-आपूर्ति विकास, शारीरिक दृष्टिकोण से निर्बल बालकों तथा वयस्कों के पुनर्वास (rehabilitation) तथा चिकित्सा अनुसंधान (medical research) कार्यों के लिये सहायता प्रदान की है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने रोगों की रोकथाम और उनके नियंत्रण में भारत को अपनी अमूल्य सेवायें प्रदान की हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन के प्रतिवेदन के अनुसार १९७१ के अन्त में भारत में १ करोड़ ५१ हजार मलेरिया के रोगी थे। १९५३ में शुरू किये गये राष्ट्रीय मलेरिया-नियंत्रण कार्यक्रम को अप्रैल १, १९५८ में राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम (National Malaria Eradication Programme) में बदल दिया गया। इसे पूरा करने में विश्व स्वास्थ्य संगठन योगदान कर रहा है। इसी प्रकार, संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट-कोष तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन की सहायता से बँगलौर में स्थापित राष्ट्रीय क्षय-रोग संस्थान में राज्यों में जिला-क्षयरोग नियंत्रण कार्य लागू करने के लिये चिकित्सा-पदाधिकारियों एवं कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जाता है। तमिलनाडु के गिण्डी नामक स्थान में १९४८ में स्थापित बी० सी० जी० टीका-प्रयोगशाला विश्व का सबसे बड़ा टीका-उत्पादक केन्द्र है जो विश्व स्वास्थ्य संगठन एवं संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल संकट-कोष के सहयोग से कार्य करती है।[1]

विश्व स्वास्थ्य संगठन विभिन्न देशों के अधिकारियों तथा चिकित्सकों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और चिकित्सा-सम्बन्धी उच्च अध्ययन के लिये छात्रवृत्तियाँ प्रदान करता है जिसके अन्तर्गत वे अपने देश से दूसरे देश में जाकर अध्ययन करते हैं और वे उस अनुभव का प्रयोग अपने देश में आकर करते हैं। संगठन प्रतिदिन के प्रयोग में आने वाली औषधियों की शुद्धता के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय मानक (international standards) निश्चित करता है तथा सामयिक पत्रिकायें और प्रतिवेदन प्रकाशित करता है। कृषि उत्पादन तथा आर्थिक विकास से सम्बद्ध विशेष प्रकार के रोगों की रोकथाम के लिये आधुनिक यंत्रों एवं तरीकों को अपनाकर

1. देखिये भारतीय अब्दकोश (*Indian Year Book*), १९७३-७४, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद, पटना, पृ० ३४६, ३४७, ३५२.

सामान्यतः स्वास्थ्य की अवस्था में सुधार लाना इसकी प्राविधिक सेवा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन किसी सरकार के आग्रह पर ही उसके क्षेत्र में कार्य आरम्भ करता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने आर्थिक विकास हेतु प्राविधिक सहायता कार्यक्रम में विशेष अभिरुचि दिखायी है और उसकी यह मान्यता है कि विश्व अस्वस्थ लोगों के बल पर आर्थिक रूप से स्वस्थ नहीं हो सकता है। यदि सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिये पर्याप्त पग नहीं उठाये जाते तो आर्थिक विकास की गति कभी आगे नहीं बढ़ सकती। विश्व स्वास्थ्य संगठन की प्राविधिक सेवाओं में जैविक मानकीकरण (biological standardisation), अन्तर्राष्ट्रीय औषधकोश (international-pharmacopoeia), स्वास्थ्य सांख्यिकी (health statistics) और अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य-उपसन्धि का परिशोधन (revision of international sanitary conventions) मुख्यरूप से उल्लेखनीय हैं।[1]

१९४६ में महासभा ने निद्राकारी औषधियों के नियंत्रण से सम्बन्धित राष्ट्रसंघ के कार्यों और शक्तियों को ग्रहण करने का निश्चय किया। इस विषय को आर्थिक और सामाजिक परिषद् के सुपुर्द किया गया जिसने अपनी प्रथम बैठक में "कमीशन ऑन नारकोटिक ड्रग्स" (Commission on Narcotic Drugs) की स्थापना का निर्णय लिया। १९२५ तथा १९३१ में स्थापित Permanent Central Opium Board (PCOB) तथा Drug Supervisory Body (DSB) ने अपने कार्यों को जारी रखा है किन्तु अब उनकी Commission on Narcotic Drugs से इस प्रकार सम्बद्धता हो गयी है कि इन तीनों को वस्तुतः एक अंग मानना ही ठीक होगा।[2] यद्यपि ECOSOC और Commission on Narcotic Drugs इस क्षेत्र में मुख्य नीति-निर्धारक अंग हैं तथापि महासभा ने इस उत्तरदायित्व को विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा इसके Expert Committee on Drugs Liable to Produce Addiction को प्रदान किया है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन की सफलता किसी भी क्षेत्र में उन अवस्थाओं को उत्पन्न करना है जहाँ इसकी सेवाओं की फिर से आवश्यकता न पड़े। ज्योंही स्थानीय स्वास्थ्य सेवायें किसी स्थापित परियोजना को स्वतंत्रतापूर्वक पर्याप्तरूप से चालू रखने की स्थिति में हो जाती हैं, त्योंही विश्व स्वास्थ्य संगठन की सहायता समाप्त कर दी जाती है। स्थानीय स्वास्थ्य सेवाओं को सुदृढ़ करना विश्व स्वास्थ्य संगठन की सहायता के आधारभूत सिद्धान्तों में से है।

1. Vandenbosch and Hogan, *The United Nations*, p. 275.
2. देखिये Palmer and Perkins : *International Relations* p. 366.

यह उल्लेखनीय है कि कोई भी संगठन अपनी स्वयं की शक्ति से संसार के सभी मनुष्यों की स्वास्थ्य-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और विश्व स्वास्थ्य संगठन का यह ध्येय भी नहीं है। यह संगठन तो सब देशों को उस समय सहायता देता है, जब वे स्वयं भी एक-दूसरे की सहायता करें। यह संगठन बीमारियों को ही अन्त करने का प्रयत्न नहीं करता बल्कि उसका लक्ष्य सम्पूर्ण शारीरिक, मानसिक और सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहन देना है जिसके बिना विश्वकल्याण सम्भव नहीं है। अन्त में, विश्व स्वास्थ्य संगठन के भूतपूर्व महानिदेशक Dr. Brock Chisholm के शब्दों में : "विश्व स्वास्थ्य संगठन एक अधि-राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रशासन नहीं है। यह सार्वजनिक स्वास्थ्य के किसी भी क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्राधिकारियों के बदले में तथा उनके लिये कार्य नहीं कर सकता। इसकी एकमात्र भूमिका कुछ आवश्यक तत्वों को प्रदान करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सभी सम्भव साधनों का प्रयोग करना है जिनकी उन प्राधिकारियों को अपने लोगों के स्वास्थ्य में अभिवृद्धि करने के लिये आवश्यकता है। शेष प्रत्येक राष्ट्र द्वारा स्वयं किया जाना है" "WHO is not a supra-national health administration. It can not act in place of and for the national health authorities in any area of public health. Its only role is to use all possible means of international cooperation in order to provide certain essential elements which those authorities need to promote the health of their peoples. The rest is up to each individual nation itself.") ।

संक्षेप में, यह संसार के लोगों के स्वास्थ्य की उन्नति करने में और स्थानीय बीमारियों और महामारियों को समाप्त करने का प्रयत्न कर रहा है। करोड़ों रुपये की औषधियाँ यह संगठन संसार में मुफ्त बाँट देता है। इसके प्रयास से प्रतिशत आयु का स्तर प्रत्येक देश में बढ़ता जा रहा है। अनेक प्रकार की घातक बीमारियों का इस संगठन ने अन्त कर दिया है और आशा की जाती है कि निकट भविष्य में यह संगठन और अधिक उन्नति करेगा।

(४) पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

(International Bank for Reconstruction and Development)

पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, जिसे प्रायः विश्व बैं- (World Bank) के नाम से जाना जाता है, की स्थापना द्वितीय ... के समय १९४४ में ब्रेटन वुड्स सम्मेलन (Bretton Woods Conf

में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF) के साथ की गयी थी और इसने अपना कार्य जून, १९४६ से आरम्भ किया। इसका मुख्यालय भी वाशिंगटन में है। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य होने पर कोई भी देश इसका सदस्य हो सकता है। दिसम्बर ३१, १९४५ तक जो देश अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष के सदस्य बन गये थे, वे विश्व बैंक के मूल सदस्य मान लिये गये हैं। किसी भी देश को विश्व बैंक की सदस्यता के लिये दो शर्तों का पालन करना पड़ता है। प्रथम, उस देश का प्रार्थना-पत्र बैंक के सदस्यों के बहुमत द्वारा स्वीकार किया जाना चाहिये और द्वितीय, उस देश को मुद्राकोष का सदस्य होना चाहिये। यदि कोई देश मुद्राकोष की सदस्यता से त्यागपत्र दे देता है तो विश्व बैंक से भी उसकी सदस्यता समाप्त मान ली जाती है। सदस्यता का परित्याग लिखित सूचना के आधार पर किया जा सकता है, लेकिन त्यागपत्र से पूर्व सदस्य देश को बैंक के सारे दायित्वों का भुगतान कर देना चाहिये।

संगठन और सदस्यता :—विश्व बैंक की प्रबन्धव्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की प्रबन्धव्यवस्था से साम्य रखती है। बैंक की शक्तियाँ बोर्ड ऑफ गवर्नर्स में निहित होती हैं जिसमें सभी सदस्य देशों का समान प्रतिनिधित्व होता है। बोर्ड की बैठक वर्ष में एक बार होती है। बैंक के दिन-प्रतिदिन के कार्यों का संचालन कार्यपालक निदेशकों (Executive Directors) द्वारा सम्पन्न होता है जिनकी शक्तियाँ बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा हस्तांतरित की गयी होती हैं। बैंक का एक अध्यक्ष (प्रेसीडेन्ट) होता है जिसका चयन कार्यपालक निदेशकों द्वारा होता है तथा जिसके अधीन अन्तर्राष्ट्रीय-कर्मचारी-वृन्द होता है। विश्व बैंक के वर्तमान अध्यक्ष संयुक्त राज्य अमेरिका के राबर्ट मैकनमारा (Robert S. McNamara) हैं। प्रेसीडेन्ट कार्यपालक निदेशकों के बोर्ड (Board of Executive Directors) की बैठकों की अध्यक्षता करता है। यह बोर्ड ऑफ गवर्नर्स के निदेशन में काम करता है तथा अपने कार्यों के लिये उसके प्रति उत्तरदायी होता है। बैंक में एक मन्त्रणा-परिषद् (Advisory-Council) भी होती है जिसमें कम से कम ७ सदस्यों का होना आवश्यक है। ये सदस्य विविध आर्थिक विषयों के विशेषज्ञ होते हैं। बैंक में एक ऋणसमिति (Loan Committee) होती है जिसकी नियुक्ति बोर्ड ऑफ गवर्नर्स द्वारा होती है। किसी भी देश को ऋण देने के पूर्व विश्व बैंक इस ऋण समिति से परामर्श अवश्य लेता है। अभी तक परम्परागत रूप से सदस्य देशों के वित्तमंत्रियों (Finance Ministers) को ही बैंक का गवर्नर नियुक्त किया जाता है।

उद्देश्य :—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना का मुख्य लक्ष्य सदस्य देशों की भुगतान सम्बन्धी विषमताओं को दूर करना था जबकि विश्व बैंक की स्थापना

प्रायः इसीलिये की गयी ताकि युद्ध से विनष्ट आर्थिक अव्यवस्था को दूर किया जा सके तथा विकसित और अविकसित देशों को दीर्घकालीन ऋणों के रूप में सहायता दी जाय ताकि वे प्रगति और पुनर्निर्माण के पथ पर आगे बढ़ सकें। सदस्य राष्ट्रों तथा उनके अधिराज्यो के पुनर्निर्माण और विकास-कार्यों में सहायता देना तथा उत्पादन-कार्यों के लिये पूँजी की व्यवस्था करना विश्व बैंक का प्रमुख उद्देश्य है। जब किसी देश में उत्पादन-कार्य के लिये पूँजी उपलब्ध नहीं होती, तब अपने संचित कोष से यह बैंक कर्ज देता है। इसके द्वारा सदस्य राष्ट्रों, उनके राजनीतिक उपविभागों तथा उनके सीमाक्षेत्र के अन्तर्गत निजी व्यवसायों के लिये भी कर्ज दिया जाता है। यह बैंक केवल कर्ज का ही प्रबन्ध नहीं करता, बल्कि सदस्य राष्ट्रों की अभ्यर्थना पर आवश्यक कार्यों के लिये अपने प्रतिनिधि-मंडलों को भेजता है।

कार्यों का मूल्यांकन :—दिसम्बर ३१, १९६९ तक इस बैंक की स्वीकृत पूँजी २३ अरब, ६ करोड़, ६० लाख अमरीकी डालर थी। दिसम्बर ३०, १९६९ तक इसने ११२ देशों को १३ अरब, ११ करोड़, ५० लाख डालर (अमरीकी स्वर्णमुद्रा) कर्ज के रूप में दिये।

इस प्रकार विकासशील देशों को सहायता देने वालों में बड़े एवं समृद्ध राष्ट्रों के अतिरिक्त विश्व बैंक का भी, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक विशिष्ट संस्था है, प्रमुख स्थान है। परन्तु कई पाश्चात्य पर्यवेक्षकों के अनुसार विश्व बैंक के सहायता कार्यक्रमों के पीछे भी प्रायः दबाव होता है। प्रसिद्ध अंग्रेज पत्रकार एवं लेखिका टेरेसा हेयटर ने अपनी पुस्तक "आर्थिक सहायता या साम्राज्यवाद" में कहा है कि प्रायः तानाशाह अथवा फौजी शासक विश्व बैंक की सहायता के चहेते पात्र रहे हैं, जबकि ऐसे शासक सहायता राशि को विकासकार्यों के बजाय अपनी निजी स्थिति को मजबूत बनाने में खर्च कर देते हैं। दरअसल विश्व बैंक की पूँजी का अधिकांश भाग अमरीका से प्राप्त होता है तथा आज तक इसका अध्यक्ष कोई अमरीकी ही रहा है। ऐसी स्थिति में विश्व बैंक का झुकाव अमरीकी अर्थव्यवस्था एवं हितों की ओर होना आश्चर्य की बात नहीं है।

इसी सन्दर्भ में स्वयं भारत का एक अनुभव उल्लेखनीय है। १९६४-६५ में अमरीकी सरकार चाहती थी कि भारत रुपये का अवमूल्यन कर दे। दिसम्बर १९६५ में तत्कालीन विश्व बैंक के अध्यक्ष जार्ज वुड्स ने भी भारत पर दबाव डालना चाहा, जिसके फलस्वरूप तत्कालीन वित्तमंत्री कृष्णमाचारी से उनके सम्बन्ध बिगड़ गये।

विकासशील देशों की सहायता से संबद्ध एक और समस्या भी है—पुराने कर्जों की अदायगी। लगभग २५ साल पहले जब विकासशील देशों को सहायता

दिये जाने का सिलसिला शुरू हुआ तो प्रायः इन देशों ने सोचा था कि १०-१५ साल में इनकी आर्थिक स्थिति इतनी सुदृढ़ हो जायेगी कि ये अपने कर्जों को ब्याज-सहित सुविधापूर्वक उतार देंगे, परन्तु यह सपना आज तक पूरा नहीं हो सका। अतः आज जो नयी सहायता इन देशों को मिलती है उसका ५० से ८० प्रतिशत तक पुराना उधार चुकाने में निकल जाता है। उदाहरणतः संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक रिपोर्ट के अनुसार गत सात वर्षों में अनेक विकासशील देश (विशेषतः अर्जेंटीना, ब्राजील, जाम्बिया तथा मलयेशिया) उलटे समृद्ध देशों की 'सहायता' कर रहे हैं, क्योंकि १९६७ से ये देश सहायताकारी देशों से मिलने वाली मौजूदा सहायता-राशि से कहीं अधिक धन पुराने कर्जों की अदायगी पर व्यय करते रहे हैं। भारत पर भी यह बात लागू होती है। १९७१ में भारत को सोवियत रूस से ४२ करोड़ डालर की सहायता मिली परन्तु इसी वर्ष पुराने कर्जों की अदायगी में भारत ने रूस को ५२ करोड़ डालर की रकम लौटायी। जहाँ कहीं सहायता राशि का कुछ अंश विकासशील देशों के लाभार्थ बच जाता है वहाँ भी मुद्रास्फीति तथा बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण आर्थिक सहायता का लाभ वस्तुतः नगण्य हो गया है। यही कारण है कि लगातार सहायता पाते रहने के बावजूद अधिकतर विकासशील देश आर्थिक दृष्टि से और पिछड़ते जा रहे हैं[1]।

इन परिस्थितियों में यह जरूरी है कि विश्व बैंक जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थायें अपनी सहायता नीतियों पर पुनर्विचार करें तथा उनमें आवश्यक फेरबदल करें। विकासशील देशों को बड़े पैमाने पर ब्याज-रहित दीर्घकालिक ऋण पुराने कर्जों की अदायगी हेतु दिये जायें। पिछले कुछ वर्षों से विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्था—अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ—इस काम को कुछ हद तक अंजाम दे रही है। लेकिन इस संस्था को अपने सहायता-कोष की पूर्ति-हेतु हर तीसरे साल समृद्ध देशों का मुँह देखना पड़ता है। इस सिलसिले में काफी कठिनाइयाँ सामने आ रही हैं, क्योंकि इस संस्था के प्रति अमरीका का रवैया दिनोदिन कठोर होता जा रहा है। रूस इस संस्था का सदस्य नहीं है। कभी-कभी इस संस्था को अपने कोष की पूर्ति के लिये पुर्तगाल, दक्षिण अफ्रीका जैसे उपनिवेशवादी रंगभेद समर्थक देशों से मदद लेनी पड़ी है। विकासशील देश प्रायः इन तीन देशों की नीतियों के कटु आलोचक और विरोधी रहे हैं।

---

1. इन बातों की विस्तृत जानकारी के लिये देखिये : कादम्बिनी, दिसम्बर १९७४ में प्रकाशित डॉ० सुरेशचन्द्र गंगल द्वारा लिखित : "समृद्ध देशों द्वारा विकासशील देशों का शोषण", पृ० २३-२५.

(५) खाद्य एवं कृषि संगठन

(Food and Agriculture Organisation)

खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) की स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के ठीक आठ दिन पूर्व अर्थात् अक्टूबर १६, १९४५ को हुई थी। यह संगठन वस्तुतः मई १८ से जून ३, १९४३ में हाट स्प्रिंगस, वर्जिनिया (Hot Springs, Virginia) में हुए खाद्य एवं कृषि-सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघीय सम्मेलन (United Nations Conference on Food and Agriculture) का परिणाम है। इसने रोम में स्थित "इन्टरनेशनल इन्स्टिटयूट ऑफ ऐग्रिकॅल्चर" (International Institute of Agriculture) का स्थान ले लिया है और इसका मुख्यालय रोम में ही है।

संगठन

खाद्य एवं कृषि संगठन के कार्य संचालन के लिये सभी सदस्य-राज्यों के प्रतिनिधियों का एक "सम्मेलन" (Conference) होता है। यह सम्मेलन इस संगठन की नीति निर्धारित करता है। इसका कार्य अन्तर-राजकीय खाद्य-पदाधिकारियों को कृषि उत्पादन, उपभोग तथा वितरण में सहायता पहुँचाना है।

"परिषद्" (Council), जिसकी स्थापना सितम्बर १९४७ को हुई थी, इस संगठन का कार्यकारी निकाय है जिसके सदस्यों का निर्वाचन सम्मेलन (Conference) द्वारा होता है तथा जिसकी बैठक वर्ष में दो बार हुआ करती है। इस संगठन का एक महानिदेशक (Director-General) होता है जो सम्मेलन द्वारा नियुक्त किया जाता है। महानिदेशक संगठन के कार्य को निदेशित करने का पूर्ण प्राधिकार रखता है। इस समय खाद्य एवं कृषि संगठन के महानिदेशक लेबनान के भूतपूर्व कृषिमंत्री Edourd Saouma हैं। इनके पूर्व डॉ० ए० एच० बोयरमा (Dr. Addeke H. Boerma) इस पद पर कार्यरत थे।

इस संगठन के क्षेत्रीय कार्यालय वाशिंगटन, मेक्सिकोसिटी, राओडिजेनेरो, सैनटीआगो, काहिरा और बैंकाक में स्थित हैं।

उद्देश्य तथा उपलब्धियाँ

खाद्य एवं कृषि संगठन का उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करना, पोषण शक्ति बढ़ाना तथा खेत, जंगल और मीन क्षेत्रों से जो खाद्य एवं कृषि-सम्बन्धी वस्तुयें उत्पन्न होती हैं, उनके उत्पादन एवं वितरण में सुधार करना है। यह आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सबसे उत्तम संगठनों में से है। ग्रामीण क्षेत्रों के निवासियों की अवस्था में सुधार लाने के लिये यह संगठन इन कार्यों को पूरा करता है :

(१) भूमि की उत्पादन शक्ति तथा जलस्रोतों का विकास;
(२) कृषि उत्पादन के लिये स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की स्थापना;
(३) नये प्रकार के पौधों का संसारव्यापी विनिमय;
(४) सुधरे हुए कृषि यंत्रों तथा कृषि प्रणाली का प्रचार और प्रसार;
(५) पशुरोगों की रोकथाम;
(६) पौष्टिक खाद्यान्नों की व्यवस्था;
(७) भूमि-क्षरण पर नियंत्रण;
(८) सिंचाई अभियन्त्रण;
(९) संचित खाद्य सामग्री की रक्षा;
(१०) कृत्रिम खाद का उत्पादन; आदि।[1]

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट, जिनकी इस संगठन के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका रही है, ने नवम्बर १, १९४३ में कांग्रेस (Congress) को प्रेषित अपने संदेश में ठीक ही कहा था : "युद्ध के सफल संचालन में खाद्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि कोई शस्त्र। यह मुक्त-क्षेत्रों में पुनर्वास तथा सहायता एवं भावी शान्ति के स्वरूप-निर्माण में समान रूप से महत्वपूर्ण होगा" ("Food is as important as any other weapon in the successful prosecution of the war. It will be equally important in rehabilitation and relief in the liberated areas, and in the shaping of the peace that is to come."[2])। इसी प्रकार, १९४९ में Lord Boyd-Orr ने चेतावनी देते हुए यह स्पष्ट किया था कि, "विश्व की तीव्रगति से बढ़ती हुई जनसंख्या, उसके साथ ही मिट्टी की घटती हुई उर्वरा शक्ति ने विश्व दुर्भिक्ष को हमारी सभ्यता के लिये उतना ही बड़ा संकट बना दिया है जितना कि परमाणु बम" ("The rapidly increasing population of the world, together with the decreasing productivity of the soil, makes world famine as great a threat to our civilization

1. The purpose and scope of Food and Agriculture Organisation is indicated by these words in the preamble to its constitution: "The Nations accepting this constitution, being determined to promote the common welfare by furthering separate and collective action on their part for the purposes of: raising levels of nutrition and standards of living of the peoples under their respective jurisdictions, securing improvements in the efficiency of the production and distribution of all food and agricultural products, bettering the conditions of rural populations, and thus contributing towards an expanding world economy......"
2. quoted in Clyde Eagleton : *International Government*, p. 368.

as the atomic bomb."[1] । सच तो यह है कि विश्व के दो-तिहाई लोगों को पेट भर अन्न नहीं मिल पाता। यह अनुमान किया जाता है कि यदि संसार के लोगों को भूखमरी से बचाना है तो वास्तव में प्रचुर मात्रा में अन्न का उत्पादन किया जाना चाहिये। निःसन्देह इन उत्तरदायित्वों का निर्वहन संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा विशेषकर खाद्य एवं कृषि संगठन (FAO) को करने पड़ते हैं। युद्धोत्तर विश्व खाद्य संकट के समय इस संगठन ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। विशेषकर विश्व खाद्य परिषद् (World Food Council) तथा अन्तर्राष्ट्रीय आपात खाद्य समिति (International Emergency Food Committee) के माध्यम से इसने इस प्रकार के संकट की गम्भीरता की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया और राष्ट्रीय सरकारों तथा अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों द्वारा इस क्षेत्र में मिलकर काम करने की आवश्यकता पर बल दिया। इसने आवश्यक सांख्यिकीय (Statistical) तथा प्राविधिक सूचनायें प्रदान की हैं तथा कई देशों में विशेषज्ञों का मिशन भेजा है अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कराये हैं, तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों को अन्य तरीकों से सहायता प्रदान की है। इसने १९५० के विश्व कृषि विषयक जन-गणना (World Agricultural Census) का कार्य पूरा किया था तथा अन्तर्राष्ट्रीय गेहूं समझौता (International Wheat Agreement), जिसको अधिकांश गेहूं उत्पादक देशों ने सदस्यता स्वीकार कर ली है, के निर्माण में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका थी। इसने १९६० में बुभुक्षा-मुक्ति (Freedom From Hunger) अभियान चलाया जिसे विश्व के विभिन्न भागों में सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर कार्यान्वित किया जा रहा है। इस अभियान का ऐसा प्रभाव पड़ा कि संयुक्त राष्ट्र महासभा ने एक प्रस्ताव पारित कर भूख की समस्या पर विश्व का ध्यान आकृष्ट किया। फलतः संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा खाद्य एवं कृषि संगठन ने सम्मिलित रूप से "विश्व खाद्य कार्यक्रम" (World Food Programme) की स्थापना १९६२ में तीन मौलिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिये की :—

(अ) विकासशील देशों की सरकारों को खाद्य के रूप में सहायता देना,

(ब) विकासशील देशों की सरकारों को आर्थिक और सामाजिक विकास के लिये परियोजनाओं (Projects) को पूरा करने में सहायता देना, और

(स) प्राकृतिक या मानवकृत विपत्तियों से उत्पन्न आपातकालीन स्थितियों का सामना करने में सहायता देना।

1. Quoted in Cheever and Haviland : *Organising for Peace. International Organisation in World Affairs*, p. 231.

"विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) की स्थापना सर्वप्रथम तीन साल की अवधि के लिये एक प्रायोगिक स्तर पर की गयी किन्तु इसने विधिवत् जनवरी १, १९६३ से अपना कार्य आरम्भ किया। १९६५ के अंत में संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा खाद्य एवं कृषि संगठन ने यह निर्णय किया कि "विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) ने अपने अस्तित्व के तीन साल में जो सफलता प्राप्त की है, उसे दृष्टिगत रखते हुए इसकी स्थापना स्थायी तथा नियमित आधार पर आवश्यक है। "विश्व खाद्य कार्यक्रम" संयुक्त राष्ट्रसंघ के दूसरे अभिकरणों तथा विविध ऐच्छिक संगठनों के घनिष्ठ साहचर्य में कार्य करता है। मुद्रा, मशीनरी तथा प्राविधिक सहायता की तरह ही खाद्य या अन्न पूँजी निवेश (capital investment) का एक रूप है।

"विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) के कार्यों की देखभाल के लिये एक अन्तर-सरकारी समिति (Inter-governmental Committee) होती है। अन्तर-सरकारी समिति (IGC) की बैठकें वर्ष में दो बार अधिकतर खाद्य एवं कृषि संगठन के मुख्यालय रोम में होती हैं। इसका एक कार्यपालक निदेशक (Executive Director) होता है।

विश्व खाद्य कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत को १९७३ में १५ परियोजनाओं के लिये ११२ मिलियन डालर की सहायता प्राप्त हुई। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत सहायता प्राप्त परियोजनाओं में निम्न मुख्यरूप से उल्लेखनीय हैं :—

(१) राजस्थान नहर परियोजना (Rajasthan Canal Project) पर काम करने वाले श्रमिकों को खाद्य सहायता,

(२) मैसूर राज्य के चार जिलों में भू-संरक्षण (soil conservation),

(३) दुग्ध-विपणन तथा दुग्धशाला-विकास (milk marketing and dairy development),

(४) मैसूर राज्य में व्यक्तिगत शिक्षा-सम्बन्धी तथा समाज कल्याण संस्थाओं को खाद्य सहायता,

(५) महाराष्ट्र में वन-विकास (forest development),

(६) मैसूर राज्य में सड़क निर्माण तथा भूमि-विकास (land development),

(७) मैसूर राज्य में शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं में संभरण कार्यक्रम (feeding programme),

(८) महाराष्ट्र राज्य में शिक्षा-सम्बन्धी तथा समाज कल्याण संस्थाओं (social welfare-institutions) में संभरण कार्यक्रम,

(९) मुर्गी-पालन तथा विपणन केन्द्रों का विकास,

(१०) बिहार में सिंचाई कूप कार्यक्रम (irrigation wells programme) ।[1]

1. देखिये *United Nations Weekly Newsletter*, May 4, 1973.

FAO के प्रयासों के फलस्वरूप बैंकाक (थाइलैण्ड) में International Rice Commission (१९४९), बैंकाक में ही Indo-Pacific Fisheries Council (१९४८), जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में European Forestry and Forest Products Commission (१९४८) तथा राओडिजेनेरो (ब्राजील) में Latin American Forestry and Forest Products Commission (१९४९) जैसे एजेन्सियों की स्थापना हो सकी है। विश्व स्वास्थ्य संगठन कई परियोजनाओं पर FAO के साथ मिलकर काम करता है, उदाहरणार्थ मलेरिया उन्मूलन अभियान तथा संयुक्त आहार-पोषण प्रोग्राम। आज विश्व में FAO द्वारा ऐसे देशों को सहायता पहुँचायी जा रही है जो अकाल से ग्रस्त हैं।

अन्न की कमी के लिये पहले से चेतावनी देने की एक प्रणाली खाद्य एवं कृषि संगठन ने विकसित की है जो कि (मई १९६८ से ७८) विकासशील देशों में चल रही है। प्रत्येक महीने उनकी रिपोर्ट रोम स्थित खाद्य एवं कृषि सगठन के मुख्यालय में पहुँचती रहती है। वहाँ उनके आधार पर आगे का कार्यक्रम बनाकर सहायता-कार्य की योजना पहले से ही बना ली जाती है। प्रायः मौसम का पूर्वानुमान कर फसल की सम्भावना का अन्दाजा लगाया जाता है।[1]

यह कहने में अतिशयोक्ति न होगी कि एक भाव में खाद्य एवं कृषि संगठन तथा विश्व स्वास्थ्य संगठन—इन दो अभिकरणों के मध्य एक प्रतियोगिता दिखायी देती है। यदि विश्व स्वास्थ्य संगठन का उद्देश्य संसार की सभी जातियों के लोगों को स्वास्थ्य का यथासम्भव उच्चतम स्तर प्राप्त करना है तो खाद्य एवं कृषि संगठन का लक्ष्य लोगों को अधिक और अच्छा अन्न उत्पादन करने के लिये सहायता देना है। वस्तुतः इन दो संगठनों के उद्देश्यों में इतनी समानता है कि हम एक अभिकरण की कल्पना दूसरे के बिना नहीं कर सकते। यदि संसार के लोगों का स्वास्थ्य श्रेष्ठतर है तो वे कठोर परिश्रम कर सकते हैं तथा अधिक अन्न पैदा कर सकते हैं।

खाद्य समस्या से जूझ रहे देशों के अपने और खाद्य एवं कृषि संगठन के माध्यम से संयुक्त प्रयासों के बावजूद विश्व की खाद्य समस्या को अधिक संतोष जनक नहीं माना जा सकता है। जहाँ तक अन्न के संचित भंडार का प्रश्न है काफी पहले यह तय किया गया था कि विश्व खाद्य सुरक्षा के लिये ८ करोड़ टन अन्न का भंडार होना चाहिये किन्तु यह लक्ष्य अभी दिवास्वप्न ही बना हुआ है। जरूरत से अधिक अन्न उत्पादन करने वाले देशों का सक्रिय योगदान ही इस लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध हो सकता है।[2]

1. खाद्य एवं कृषि संगठन की भूमिका, अन्तर्राष्ट्रीय अन्नकोश आदि के सम्बन्ध में डॉ० ए० एच० बोर्मा, डॉ० नार्मन बोर्लोग आदि के विचारों को विस्तार में जानने के लिये देखिये: साप्ताहिक हिन्दुस्तान, जुलाई १४, १९७४, पृ० ७.
2. दिनमान, १४-२० नवम्बर, १९७६.

"विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) की स्थापना सर्वप्रथम तीन सा के लिये एक प्रायोगिक स्तर पर की गयी किन्तु इसने विधिवत् जनवर से अपना कार्य आरम्भ किया। १९६५ के अंत में संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा स संगठन ने यह निर्णय किया कि "विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) ने के तीन साल में जो सफलता प्राप्त की है, उसे दृष्टिगत रखते हुए इ स्थायी तथा नियमित आधार पर आवश्यक है। "विश्व खाद्य का राष्ट्रसंघ के दूसरे अभिकरणों तथा विविध ऐच्छिक संगठनों के घ कार्य करता है। मुद्रा, मशीनरी तथा प्राविधिक सहायता की तर अन्न पूँजी निवेश (capital investment) का एक रूप है।

"विश्व खाद्य कार्यक्रम" (WFP) के कार्यों की देखभा अन्तर-सरकारी समिति (Inter-governmental Committee) सरकारी समिति (IGC) की बैठकें वर्ष में दो बार अधिक संगठन के मुख्यालय रोम में होती हैं। इसका एक कार्यपालक tive Director) होता है।

विश्व खाद्य कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत को १९७३ में लिये ११२ मिलियन डालर की सहायता प्राप्त हुई। इस सहायता प्राप्त परियोजनाओं में निम्न मुख्यरूप से उल्लेखनीय

(१) राजस्थान नहर परियोजना (Rajasthan C काम करने वाले श्रमिकों को खाद्य सहायता,

(२) मैसूर राज्य के चार जिलों में भू-संरक्षण (soil

(३) दुग्ध-विपणन तथा दुग्धशाला-विकास (milk development),

(४) मैसूर राज्य में व्यक्तिगत शिक्षा-सम्बन्धी तथ को खाद्य सहायता,

(५) महाराष्ट्र में वन-विकास (forest develo

(६) मैसूर राज्य में सड़क निर्माण तथा भूमि-

(७) मैसूर राज्य में शिक्षा सम्बन्धी संस्थाओं programme),

(८) महाराष्ट्र राज्य में शिक्षा-सम्बन्धी त (social welfare-institutions) में स

(९) मुरगी-पालन तथा विपणन केन्द्रों का विका

(१०) बिहार में सिंचाई कूप कार्यक्रम (irri mme)।[1]

1. देखिये *United Nations Weekly Newsletter, May 4, 197.*

गयी तथा विशेष अवस्थाओं के अन्तर्गत १५ अन्य राष्ट्र भी इसमें सम्मिलित थे। यह एक बहुभुजी समझौता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये आचार-संहिता प्रस्तुत करता, प्रशुल्क में कमी करने तथा स्थिरता लाने के साधन जुटाता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्धी समस्याओं पर नियमित विचार-विमर्श का अवसर प्रदान करता है। इस समझौते में सम्मिलित राष्ट्रों का अधिवेशन साल में दो बार होता है।

१९५८ के बाद से इस संस्था की ओर से विकासशील देशों की निर्यात-आय को बढ़ाने तथा निर्यात की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। १९६४ में विकासशील देशों को निर्यात-बाजार तथा क्रय-विक्रय-सम्बन्धी विशेष सूचनायें देने, निर्यात-वृद्धि की प्रविधि विकसित करने में सहायता देने तथा इस कार्य में लगने वाले व्यक्ति-वृन्द को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-केन्द्र की स्थापना की गयी। १९६७ से इस केन्द्र का संचालन प्रशुल्क और व्यापार-सम्बन्धी सामान्य समझौता तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ व्यापार तथा विकास-सम्मेलन (United Nations Conference on Trade and Development) द्वारा संयुक्त रूप से हो रहा है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्विट्ज़रलैण्ड) है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण

(International Atomic Energy Agency)

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण की स्थापना जुलाई १९५७ में हुई थी। संसार में अणुशक्ति का प्रयोग शान्ति, सुरक्षा एवं निर्माण की दिशा में करना इसका प्रमुख उद्देश्य है।[1] यह संस्था अणुशक्ति के ऐसे प्रयोगों को प्रोत्साहन नहीं देती, जिनसे युद्ध की सम्भावना तथा विध्वंस की आशंका हो। यह सदस्य राष्ट्रों को आणविक शक्ति के विकास एवं कृषि, स्वास्थ्य तथा अन्य निर्माणात्मक कार्यों में उसके उपयोग के सम्बन्ध में परामर्श और प्राविधिक सहायता देती है। आस्ट्रिया और मोनाको में इसकी प्रयोगशालायें हैं। १९६४ में ट्रिस्टे में सैद्धान्तिक भौतिकी के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना की गयी। अभिकरण की सुरक्षात्मक प्रणाली का प्रयोग ३० देशों के ७० आणविक रिएक्टरों में किया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण (IAEA) के कार्य संचालन के लिये एक सामान्य सम्मेलन (General Conference) होता है। इसके अतिरिक्त प्रशासन परिषद् (Board of Governors) तथा महानिदेशक के अधीन कर्मचारी-वृन्द की व्यवस्था है। इसकी प्रशासन परिषद् में २५ सदस्य होते हैं। इसका मुख्यालय वियना (आस्ट्रिया) है।

1. IAEA की स्थापना के लिये न्यूयार्क में अक्टूबर २६, १९५६ को एक सम्मेलन हुआ था।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष

(International Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष की स्थापना दिसम्बर २७, १९४५ को हुई थी, जबकि ब्रिटेन वुड्स संविदापत्र के अनुसार, इसके कोष का ८० प्रतिशत भाग विभिन्न राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जमा कर दिया था। दिसम्बर ३१, १९६० को स्वर्ण एवं ११५ सदस्य राष्ट्रों की मुद्राओं में प्राप्त कोटे की कुल राशि २१ अरब,३४ करोड़, ७० लाख डालर थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को पारस्परिक सहयोग के आधार पर सुदृढ एवं विस्तृत करना, अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की कृत्रिम बनावट को शीघ्र हटाना, न्यून अवधि के विनिमय की सुविधा देना, अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय को सुदृढ़ करना, सदस्य राष्ट्रों के बीच की भुगतान की बहुपार्श्व-प्रणालियों की स्थापना करना आदि इसके उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष वैदेशिक मुद्रा या सोने की बिक्री सदस्यों के बीच करता है, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सहायता मिलती है। विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों को आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में परामर्श भी देता है। यह लागत के मामले में मुद्रास्फीति को रोकता है तथा आयात पर होने वाले नियंत्रण में कमी लाने की सिफारिश करता है। इसके अतिरिक्त, यह वैदेशिक विनिमय के साधन सभी सदस्यों के लिये सुलभ करता है। अभ्यर्थना पर यह किसी भी सदस्य-राष्ट्र के पास उसकी आर्थिक एवं मुद्रा-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये विशेषज्ञों को भेजता है।

इसके २० कार्यपालक निदेशकों में ५ ऐसे होते हैं, जो सबसे अधिक राशि प्रदान करने वाले राष्ट्रों द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। शेष १५ उन सदस्य-राष्ट्रों द्वारा चुने जाते हैं, जिनका प्रतिनिधित्व नियुक्त निदेशकों द्वारा नहीं होता है। इसका एक प्रबन्ध निदेशक (Managing Director) और एक उप-प्रबन्ध निदेशक होता है। इसका मुख्यालय वाशिंगटन है।

(७) प्रशुल्क और व्यापार-सम्बन्धी सामान्य समझौता

(General Agreement on Tariffs and Trade)

१९४६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्धी दिक्कतें दूर करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-अधिकार-पत्र का मसविदा तैयार करने के लिये एक उपसमिति गठित की। १९४७ में उपसमिति के सदस्य-राष्ट्रों ने प्रशुल्क और व्यापार के सम्बन्ध में एक सामान्य समझौता (जेनरल एग्रीमेन्ट ऑन टैरिफ एण्ड ट्रेड) तैयार किया जो १९४८ की पहली जनवरी से व्यवहार में लाया जाने लगा। प्रारम्भ में २३ राष्ट्रों ने इस समझौते को स्वीकार किया था। १९७० की जनवरी में इसे स्वीकार करने वाले राष्ट्रों की संख्या ७६ हो

गयी तथा विशेष अवस्थाओं के अन्तर्गत १९ अन्य राष्ट्र भी इसमें सम्मिलित थे। यह एक बहुभुजी समझौता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये आचार-संहिता प्रस्तुत करता, प्रशुल्क में कमी करने तथा स्थिरता लाने के साधन जुटाता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-सम्बन्धी समस्याओं पर नियमित विचार-विमर्श का अवसर प्रदान करता है। इस समझौते में सम्मिलित राष्ट्रों का अधिवेशन साल में दो बार होता है।

१९५८ के बाद से इस संस्था की ओर से विकासशील देशों की निर्यात-आय को बढ़ाने तथा निर्यात की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। १९६४ में विकासशील देशों को निर्यात-बाजार तथा क्रय-विक्रय-सम्बन्धी विशेष सूचनायें देने, निर्यात-वृद्धि की प्रविधि विकसित करने में सहायता देने तथा इस कार्य में लगने वाले व्यक्ति-वृन्द को प्रशिक्षित करने के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार-केन्द्र की स्थापना की गयी। १९६७ से इस केन्द्र का संचालन प्रशुल्क और व्यापार-सम्बन्धी सामान्य समझौता तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ व्यापार तथा विकास-सम्मेलन (United Nations Conference on Trade and Development) द्वारा संयुक्त रूप से हो रहा है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) है।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण

(International Atomic Energy Agency)

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण की स्थापना जुलाई १९५७ में हुई थी। संसार में अणुशक्ति का प्रयोग शान्ति, सुरक्षा एवं निर्माण की दिशा में करना इसका प्रमुख उद्देश्य है।[1] यह संस्था अणुशक्ति के ऐसे प्रयोगों को प्रोत्साहन नहीं देती, जिनसे युद्ध की सम्भावना तथा विध्वंस की आशंका हो। यह सदस्य राष्ट्रों को आणविक शक्ति के विकास एवं कृषि, स्वास्थ्य तथा अन्य निर्माणात्मक कार्यों में उसके उपयोग के सम्बन्ध में परामर्श और प्राविधिक सहायता देती है। आस्ट्रिया और मोनाको में इसकी प्रयोगशालायें हैं। १९६४ में ट्रिस्टे में सैद्धान्तिक भौतिकी के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र की स्थापना की गयी। अभिकरण की सुरक्षात्मक प्रणाली का प्रयोग ३० देशों के ७० आणविक रिएक्टरों में किया जा रहा है।

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति-अभिकरण (IAEA) के कार्य संचालन के लिये एक सामान्य सम्मेलन (General Conference) होता है। इसके अतिरिक्त प्रशासन परिषद् (Board of Governors) तथा महानिदेशक के अधीन कर्मचारी-वृन्द की व्यवस्था है। इसकी प्रशासन परिषद् में २५ सदस्य होते हैं। इसका मुख्यालय वियना (आस्ट्रिया) है।

1. IAEA की स्थापना के लिये न्यूयार्क में अक्टूबर २६, १९५६ को एक सम्मेलन हुआ था।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम

(International Finance Corporation)

अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम (IFC) की स्थापना १९५६ में की गयी। फरवरी २०,१९५७ से यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक विशिष्ट अभिकरण के रूप में कार्य कर रहा है। यह यद्यपि विश्व बैंक से घनिष्ट रूप से सम्बद्ध है, तथापि इसका स्वतंत्र वैधानिक अस्तित्व है। इसका कोष विश्व बैंक के कोष से बिल्कुल पृथक् है।

इसका उद्देश्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों, विशेषकर अल्पविकसित क्षेत्रों में उत्पादक निजी उद्योगों की उत्पादनशक्ति बढ़ाने के लिये कर्ज देना है। उन कर्जों की अदायगी के लिये सम्बद्ध राष्ट्रों से किसी प्रकार की गारन्टी नहीं ली जाती है। अधिकांशतः ऐसे सदस्य-राष्ट्रों को कर्ज दिये जाते हैं, जो औद्योगिक एवं आर्थिक विकास के क्षेत्र में पिछड़े हुए हैं तथा जिनको पर्याप्त निजी पूँजी की कमी है। गृह एवं वैदेशिक क्षेत्रों में उत्पादन-लागत की वृद्धि करने में यह निगम सहायक होता है। सन् १९६९ के अन्त में ९२ विभिन्न सदस्य-राष्ट्रों द्वारा प्रदत्त इसकी चुकता पूँजी (paid-in-capital) १० करोड़ ७० लाख डालर थी।

इसके कार्य संचालन के लिये एक संचालक मंडल होता है जिसमें विश्व बैंक के सभी कार्यपालक निदेशक, जो कम से कम एक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करते हैं, सदस्य होते हैं। विश्व बैंक का अध्यक्ष पदेन अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के संचालक मंडल का अध्यक्ष होता है।

(१०) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

(International Development Association)

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ (IDA) विश्व बैंक से सम्बद्ध संस्था है। इसकी स्थापना सितम्बर १९६० में हुई और नवम्बर १९६० से इसने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। इस संघ की सदस्यता उन देशों के लिये खुली है जो विश्व बैंक के सदस्य हैं। १९६३ में ७५ देश इसमें सम्मिलित हो चुके थे।

अल्पविकसित देशों को आसान शर्तों पर ऋण देने के लिये ही यह संस्था अस्तित्व में आयी है। यह संघ अल्पविकसित देशों को परिवहन, विद्युतसंचार, सिंचाई, बाढ़ नियंत्रण आदि के लिये ऋण प्रदान करता है। यह सदस्य देशों को आवास-गृहों के निर्माण, पेयजल की आपूर्ति, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित योजनाओं के लिये भी ऋण देता है। वस्तुतः अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ विश्व बैंक के पूरक के रूप में कार्य करते हुए अविकसित सदस्य देशों को आर्थिक विकास के लिये सस्ता दीर्घकालीन ऋण सुलभ कराता है। इन पर ब्याज की कम दर ली जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ की प्रबन्ध व्यवस्था उन्हीं अधिकारियों के नियंत्रण में है जो विश्व बैंक का संचालन करते हैं। किन्तु आवश्यकतानुसार इसके लिये अलग से भी कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

(International Telecommunications Union)

सन् १८६५ में परिस में स्थापित 'इन्टरनेशनल टेलिग्राफ यूनियन' (International Telegraph Union) तथा सन् १९०६ में बर्लिन में स्थापित 'इन्टरनेशनल रेडियो टेलिग्राफ यूनियन' (International Radio Telegraph Union) को सन् १९३२ के मैड्रिड सम्मेलन में मिलाकर एक कर दिया गया और जनवरी १, १९३४ को अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ (इन्टरनेशनल टेलिकम्यूनिकेशन यूनियन) की स्थापना हुई। अक्टूबर २, १९४७ को स्वीकृत-संशोधित अन्तर्राष्ट्रीय दूर सचार अनुबन्ध के अनुसार जनवरी १, १९४९ से इसका शासन-कार्य चल रहा है।[1]

तार, रेडियो और टेलिफोन की सेवाओं के उत्तरोत्तर प्रसार एवं विकास तथा सर्वसाधारण को कम से कम दर पर इनकी सेवा सुलभ कराने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय नियमादि बनाना इसके प्रमुख उद्देश्य हैं। यह हर प्रकार के दूर-संचार (टेलिकम्यूनिकेशन) के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाता है तथा प्राविधिक सुविधाओं में वृद्धि करता है। यह सभी राष्ट्रों के दूर-संचार विषयक समान उद्देश्यों में तालमेल या सामंजस्य स्थापित करता है।

इसके कार्य-संचालन के लिये पूर्णाधिकारी सम्मेलन (Plenipotentiary Conference), प्रशासकीय परिषद् (Administrative Council), एक प्रशासकीय सचिवालय तथा तीन अन्तर्राष्ट्रीय परामर्शदात्री समितियाँ हैं। इसका मुख्यालय जेनेवा (स्विट्जरलैण्ड) में है। १९७३ में इसके सदस्य-राष्ट्रों की संख्या १४५ थी।

(१२) अन्तर-सरकारी समुद्र-परामर्श संगठन

(Intergovernmental Maritime Consultative Organisation)

फरवरी-मार्च १९४८ में जेनेवा में हुए संयुक्त राष्ट्रसंघीय सामुद्रिक सम्मेलन में अन्तर-राजकीय समुद्र-परामर्श संगठन की स्थापना के लिये इकरारनामा प्रस्तुत किया गया, जिसे सन् १९५८ के आरम्भ में २१ राष्ट्रों ने, जिनमें से ७ राष्ट्रों के पास कुल १० लाख टन वजन से कम पोतसमूह नहीं थे, स्वीकार किया। जनवरी, १९५९ में इसका कार्यारम्भ हुआ। इसका कार्य विभिन्न सरकारों द्वारा जलपोतों के

1. The International Telecommunications Union became a specialised agency of the United Nations on January 1, 1949.

ले जाने तथा लाने के सम्बन्ध में निर्धारित नियमों पर विचार, विभेद-नीति का उन्मूलन, जलपोत-सम्बन्धी प्राविधिक समस्याओं का समाधान तथा सरकारों द्वारा लगाये गये अनावश्यक प्रतिबन्धों को हटाकर सभी सरकारों के बीच पारस्परिक सहयोग की वृद्धि करना है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी अंग या विशिष्ट अभिकरण द्वारा निर्णयार्थ प्रस्तुत जलपोत-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार कर अपना परामर्श देता है।

इसके कार्यसंचालन के लिये सभी सदस्य-राष्ट्रों की एक असेम्बली (Assembly) है, जिसका अधिवेशन हर दूसरे वर्ष हुआ करता है। अधिवेशनों के बीच के समय में कार्य-संचालन के लिये १८ सदस्यीय एक परिषद् है। १६ सदस्यीय समुद्र सुरक्षा समिति सभी प्राविधिक कार्यों का निष्पादन करती है। इसका मुख्यालय लन्दन है।

(१३) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन
(International Civil Aviation Organisation)

अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन (ICAO) की विधिवत् स्थापना अप्रैल ४, १९४७ को हुई। अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन-सम्बन्धी प्रतिमान एवं विनिमय निश्चित करना तथा उड्डयन-सम्बन्धी अन्य समस्याओं का अध्ययन करना इसका प्रमुख उद्देश्य है। यह अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन विधियों एवं समझौतों का प्रारूप तैयार करता है। इसका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय वायु-परिवहन से सम्बद्ध अनेक आर्थिक समस्याओं से है। इस संगठन के कार्यसम्पादन के लिये सदस्य-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों द्वारा गठित एक सभा (Assembly) होती है जिसकी बैठक वर्ष में एक बार हुआ करती है। सभा द्वारा चुने गये २७ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों से एक परिषद् (Council) का गठन होता है। इसके गठन में वायुपरिवहन की दृष्टि से महत्वपूर्ण देशों, अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन में सुविधायें प्रदान करने वाले देशों एवं भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत क्षेत्र में फैले देशों का ध्यान रखा जाता है। यह परिषद् इस संगठन की कार्यकारिणी समिति है जो सदस्य-राष्ट्रों को उड्डयन-सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करती है। इस संगठन का प्रधान कार्यालय मौण्ट्रियल (कनाडा) है।

(१४) विश्व डाक संघ
(Universal Postal Union)

विश्व डाक संघ (UPU) को स्थापना स्विट्जरलैण्ड के नगर बर्न में १८७४ में अन्तर्राष्ट्रीय डाक कार्यों में भारी वृद्धि के फलस्वरूप हुई थी। जुलाई १, १९४८

को यह संयुक्त राष्ट्र संघ का एक विशिष्ट अभिकरण बन गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों में यह सबसे पुराना माना जाता है। लगभग सभी स्वतंत्र देश, अस्वशासित प्रदेश तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यस्त प्रदेश विश्व डाक संघ के सदस्य हैं।

इसके प्रमुख उद्देश्य हैं :—

(१) इस संघ में सम्मिलित हुए सभी देशों में डाक-सम्बन्धी सुविधाओं का विकास,

(२) डाक-सम्बन्धी कठिनाइयों का निराकरण,

(३) एक देश की डाक दूसरे देश में भेजने की दर, नियमादि निश्चित करना।

विश्व डाक संघ विभिन्न प्रकार की डाक सेवाओं के संगठन और उनकी पूर्णता को सुनिश्चित कर इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास को प्रोत्साहित करता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये संघ के सभी सदस्य 'पत्राचार के पारस्परिक विनिमयार्थ एकल डाक क्षेत्र' ('single postal territory for the reciprocal exchange of correspondence') के अन्तर्गत एकीकृत हैं। संघ का सबसे बड़ा कार्य अन्तर्राष्ट्रीय डाक व्यवस्था के पर्यवेक्षण और नियमन से है।

इस संघ के कार्य संचालन के लिये तीन अंग हैं :—

(१) यूनिवर्सल पोस्टल कांग्रेस (Universal Postal Congress) जिसमें संघ के सभी सदस्य सम्मिलित हैं। इसकी बैठक प्रत्येक पाँच वर्ष पर होती है।

(२) एक्जीक्यूटिव और लियाजन समिति (Executive and Liaison Committee) जिसके सदस्य कांग्रेस द्वारा भौगोलिक आधार पर चुने जाते हैं।[1]

(३) इन्टरनेशनल ब्यूरो (International Bureau) जो संघ का मुख्य प्रशासकीय अंग है। इसका एक स्टाफ डायरेक्टर (Staff Director) होता है। इसका मुख्यालय बर्न (Berne) में है। प्रशासनिक निपुणता के दृष्टिकोण से ब्यूरो को स्विस डाक प्रशासन (Swiss Postal Administration) की देखरेख में रखा गया है। यद्यपि यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है तथापि इसके सभी कर्मचारी और अधिकारी सामान्यतः स्विस नागरिक हैं।

विश्व डाक संघ अन्तर्राष्ट्रीय कृत्यकारी संगठनों का एक सुन्दर उदाहरण है। यह आज विशिष्ट अभिकरणों की श्रेणी में एक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक और सर्वाधिक सुसंगठित तथा व्यवस्थित संस्था है।

1. एक्जीक्यूटिव और लियाजन समिति की स्थापना जुलाई १९४७ में पेरिस में आयोजित बारहवें पोस्टल कांग्रेस में हुई। इसका कार्य डाक व्यवस्था को उन्नत करने के निमित्त विश्व डाक संघ के सभी सदस्यों, संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्पर्क रखना है।

सच्चे अर्थ में एक अन्तर्राष्ट्रीय सहकारी संस्था है जिसने स्वास्थ्य सेवाओं, मातृ तथा शिशुकल्याण और प्रशिक्षण एवं बाल आहार-पोषण के लिये विश्व स्वास्थ्य संगठन के सहयोग से प्रशंसनीय कार्यक्रम प्रारम्भ किया है। इस समय विश्व के ११६ देशों एवं क्षेत्रों के बच्चों के स्वास्थ्य, पोषण एवं कल्याण कार्यक्रमों में संयुक्त राष्ट्रसंघ बालकोष द्वारा सहायता दी जा रही है। इसकी सहायता सरकारों के अनुरोध पर ही प्रदान की जाती है।

विभिन्न सरकारों को अपने बच्चों की मुख्य आवश्यकताओं का निश्चय करने और उन्हें पूरा करने के लिये विस्तृत कार्यक्रमों की योजना बनाने में भी यूनिसेफ सहायक होता है। यूनिसेफ के कार्यक्रमों के फलस्वरूप विश्व के असंख्य बालकों को मलेरिया, क्षय, कोढ़ तथा अन्य प्राणघातक रोगों से बचाया जा रहा है तथा लाखों बालकों को रोग-मुक्त किया जा चुका है। यही नहीं, डाक्टर, नर्स तथा स्वास्थ्य से सम्बन्धित अन्य कर्मचारी यूनिसेफ से प्रशिक्षण ग्रहणकर स्थायी स्वास्थ्य केन्द्रों में कार्यरत हैं। स्कूल के बच्चों के लिये दूध के वितरण की व्यवस्था भी यूनिसेफ द्वारा की जाती है।

अपनी आर्थिक कठिनाइयों के होते हुए भी संयुक्त राष्ट्रसंघ बालकोष (United Nations Children's Fund) परिवार तथा शिशुकल्याण, शिक्षा एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण हेतु नयी सेवायें प्रदान करने के लिये क्रियाशील है तथा इसने शिशुकल्याण को सम्पूर्ण आर्थिक और सामाजिक विकास के एक महत्वपूर्ण अंग के रूप में माने जाने की आवश्यकता पर बल दिया है। सम्पूर्ण विश्व में अपने विविध कार्यक्रमों द्वारा यूनिसेफ बच्चों की बीमारी, भूख, अज्ञानता आदि को दूर करने तथा पारिवारिक जीवन विघटित होने से बचाने के लिये प्रयास कर रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ बालकोष (UNICEF) का एक कार्यपालक निदेशक (Executive Director) होता है। इसका मुख्यालय संयुक्त राष्ट्रसंघ मुख्यालय न्यूयार्क में है।

(२) संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी-उच्चायुक्त का कार्यालय (United Nations High Commissioner for Refugees)

इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा द्वारा जनवरी १, १९५२ को हुई थी। इस संस्था का मुख्य उद्देश्य शरणार्थियों को अन्तर्राष्ट्रीय संरक्षण देना है। यह संस्था शरणार्थियों को स्वदेश लौटाकर अथवा उनका एक नवीन समुदाय स्थापित कर उनकी समस्याओं का स्थायी रूप से समाधान करने का प्रयत्न करती है। शरणार्थियों के लिये काम-धन्धे, न्याय, शिक्षा, धार्मिक स्वतंत्रता आदि प्राप्त करने के अधिकार इस संस्था द्वारा स्वीकृत किये गये हैं। शरणार्थियों को विभिन्न देशों में

यात्रा करने के लिये पारपत्र (पासपोर्ट) भी दिये जाते हैं। सन् १९६८ तक ९३ राष्ट्र इससे अनुबद्ध थे।[1]

सन् १९६९ में संयुक्त राष्ट्र शरणार्थी-उच्चायुक्त कार्यालय से सम्बद्ध शरणार्थियों की संख्या २४ लाख ३० हजार थी, जिनमें लगभग आधे से अधिक यूरोपीय मूल के शरणार्थी थे, जो या तो यूरोप में या उत्तरी और लातीनी अमेरिका, मध्य और सुदूर-पूर्व के देशों में निवास कर रहे थे। इन शरणार्थियों में अधिकांश सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से पुनर्वासित हो चुके थे। शेष शरणार्थियों को संयुक्त राष्ट्रसंघ उच्चायुक्त-कार्यालय का संरक्षण प्राप्त था तथा वे शीघ्र नये देशों की नागरिकता प्राप्त करने वाले थे। अफ्रीका में शरणार्थियों की कुल संख्या १० लाख थी जिनमें मुख्यतः बोत्सवाना, बुरुण्डी, मध्य अफ्रीकी गणतंत्र, कांगो लोकतान्त्रिक गणतंत्र, इक्वेटोरियलगिनी, सेनेगल, सूडान, युगाण्डा, तंजानिया और जाम्बिया के शरणार्थी थे। एशिया में १९,५०० शरणार्थी थे जो मुख्यतः मकाओ, भारत, नेपाल और कम्बोडिया में थे। १९७१ के मार्च के अन्तिम सप्ताह से भूतपूर्व पूर्व पाकिस्तान (बंगला देश) से शरणार्थियों का भारत आना प्रारम्भ हुआ और दिसम्बर १९७१ तक उनकी संख्या एक करोड़ तक हो गयी। इन शरणार्थियों के पुनर्वास के लिये शरणार्थी-उच्चायुक्त के कार्यालय से भारत सरकार को सहायता प्रदान की गयी।[2]

१९५९ में संयुक्त राष्ट्र महासभा के एक प्रस्ताव ने "विश्व शरणार्थी वर्ष" (World Refugee Year) द्वारा शरणार्थी-समस्या की गम्भीरता की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित किया था।

उच्चायुक्त : प्रिंस सदरुद्दीन आगा खाँ (ईरान)

मुख्यालय : जेनेवा (स्विजरलैण्ड)

---

1. United Nations High Commissioner for Refugees की स्थापना के पूर्व International Refugee Organisation (IRO) नामक संस्था इस क्षेत्र में कार्यरत थी जिसे जनवरी १, १९५२ में समाप्त कर दिया गया।
2. देखिये भारतीय अब्दकोश (*Indian Year Book*) 1973-74, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४, पृ० १८१-१८२.

२१

प्रादेशिकता तथा प्रादेशिक संगठन

(Regionalism and Regional Organisations)

प्रादेशिकता तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संचालन में संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे विश्वव्यापी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के साथ ही अनेकानेक प्रादेशिक संगठन तथा अभिकरणों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। वस्तुतः इन प्रादेशिक संगठनों तथा अभिकरणों की स्थापना विविध उद्देश्यों की पूर्ति के लिये की गयी है। एक ओर तो कतिपय प्रादेशिक संगठन आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिये संगठित किये गये हैं तो दूसरी ओर कई महत्त्वपूर्ण प्रादेशिक संगठन यथा उत्तर अटलाण्टिक संधि संगठन (नाटो), वारसा संधि संगठन और दक्षिण-पूर्व एशिया संधि संगठन (सीटो) मुख्यतः सैन्य संधियाँ हैं जिनका उद्देश्य प्रादेशिक सुरक्षा है। यद्यपि आर्थिक, सामाजिक तथा असैनिक प्रादेशिक संगठन भी आज महत्त्वपूर्ण हो गये हैं तथापि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में जिस प्रादेशिकता या प्रादेशिक संगठन की चर्चा की जाती है, उसका अभिप्राय प्रायः सैन्य गठबन्धन से लिया जाता है। प्रादेशिकता में अन्तर्निहित भावना की सर्वोच्च अभिव्यक्ति उत्तर अटलाण्टिक संधि संगठन (नाटो) के अनुच्छेद ५ में हुई है जिसके अनुसार, "सन्धिकर्ता पक्ष सहमत हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमरीका में उनमें से एक या अधिक पक्षों पर किया गया सशस्त्र आक्रमण सब पक्षों के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण माना जायेगा; तथा फलतः वे समझौता करते हैं कि, यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में, व्यक्तिगत रूप से तथा अन्य पक्षों की सहमति से, आक्रान्त पक्ष या पक्षों की सहायता करने के लिये ऐसी कार्यवाई करेगा, जैसा वह आवश्यक समझे, जिसमें उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनर्स्थापना के लिये सशस्त्र बल का प्रयोग भी शामिल है।"

प्रादेशिकता का स्वरूप तथा परिभाषा

प्रादेशिकता वह संकल्पना है जिसमें राज्यों अथवा समीपवर्ती प्रदेशों को प्रादेशिक आधार पर संगठित किया जाता है। इस प्रकार प्रादेशिक संगठन के माध्यम से स्वतंत्र तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य प्रादेशिक हितों की पूर्ति के लिये

प्रयत्नशील रहते हैं। प्रादेशिक संगठन के सदस्य अधिकांशतः एक ही क्षेत्र के राज्य होते हैं तथा उस क्षेत्र की राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सुरक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के समाधान के लिये प्रादेशिक संगठन अस्तित्व में आते हैं। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में "प्रदेश" या "क्षेत्र" की कोई स्पष्ट परिभाषा नहीं दी गयी है। अतः प्रादेशिक संगठन का क्षेत्र या प्रदेश किन्हीं भौगोलिक सीमाओं से बँधा हुआ नहीं होता है। उदाहरण के लिये, यूनान और टर्की अटलाण्टिक क्षेत्र में नहीं आते, फिर भी वे उत्तर अटलाण्टिक संधि संगठन (नाटो) के सदस्य हैं। इस प्रकार एक प्रदेश या क्षेत्र की सीमायें निर्धारित करने का कोई परिभाषित मानदण्ड नहीं है। वस्तुतः राजनीतिक और आर्थिक हितों, सुरक्षा की भावना, वैचारिक एकत्व, जातीय एकरूपता आदि के कारण यह प्रदेश कई महाद्वीपों को अपनी सीमा में समेट सकता है।

प्रादेशिकता की सर्वाधिक लोकप्रिय परिभाषा डॉ० इ० एन० वान क्लेफेन्स (Dr. E. N. van Kleffens) ने दी है जो इस प्रकार है, "एक प्रादेशिक व्यवस्था अथवा संधि एक निश्चित क्षेत्र के भीतर प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का एक स्वैच्छिक संघ है या जिनके उस क्षेत्र में एक सम्मिलित उद्देश्य के लिये सामूहिक हित हों, जिसे उस क्षेत्र के सम्बन्ध में एक आक्रामक प्रकृति का नहीं होना चाहिये" ("a regional arrangement or pact is a voluntary association of sovereign states within a certain areaor having common interests in that area for a joint purpose, which should n t be of an offensive nature, in relation to that area.")।[1]

पामर तथा परकिन्स का मत है कि एक निश्चित क्षेत्र के भीतर अनेक प्रादेशिक अभिकरण हो सकते हैं जैसा कि आज पश्चिमी यूरोप में है। ऐसे अभिकरणों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उस क्षेत्र के भीतर प्रभावित होने वाले समस्त राज्य इनमें शामिल हों। राजनीतिक और वैचारिक कारणों से एक राज्य को अलग किया जा सकता है (उदाहरणार्थ, स्पेन) अथवा एक राज्य अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों में पड़ने के भय से अथवा सम्भवतः अपनी तटस्थ स्थिति के उल्लंघन के भय से बाहर रह सकता है (उदाहरणार्थ, स्विट्ज़रलैण्ड)। एक प्रादेशिक व्यवस्था मुख्यतया एक सैनिक गठबन्धन हो सकता है परन्तु इसे इससे कुछ अधिक होना चाहिये। इसे अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग प्रदान करना चाहिये तथा यह आवश्यक नहीं कि यह केवल सैन्य मामलों में ही रुचि ले। उदाहरण के लिये, उत्तर

1. Dr. E. N. van Kleffens, "*Regionalism and Political Pacts*", the American *Journal of International Law*, (*October, 1949*), p- 669.

अटलाण्टिक संधि संगठन (नाटो) मुख्यतः एक सैन्य गठबन्धन है किन्तु यह अन्य विविध हितों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी बनाया गया है।

साधारणतः एक प्रादेशिक व्यवस्था या संगठन दो से अधिक राज्यों के बीच एक गठबन्धन समझा जाता है। इस कारण एक द्विपक्षीय सन्धि, चाहे उसके करने वाले समीपवर्ती राज्य ही क्यों न हों, शायद ही कभी प्रादेशिक व्यवस्था मानी जाय। प्रादेशिक समूहीकरणों में स्वेच्छा का गुण होना आवश्यक है। स्वेच्छा का अभाव होने के कारण ही कुछ अधिकारी विद्वानों ने सोवियत संघ तथा उसके उपग्रही राज्यों से निर्मित संगठन को प्रादेशिक संगठन न मानकर गुट माना है। इसका कारण यह है कि सोवियत संघ तथा उसके पूर्वी यूरोपीय उपग्रही राज्यों—पोलैण्ड, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, बलगेरिया, पूर्वी जर्मनी आदि के बीच अनेक कार्यवाईयाँ देखने में तो स्वैच्छिक सहयोग का परिणाम मालूम होती हैं परन्तु उनकी वार्ताओं, समझौतों तथा संयुक्त विज्ञप्तियों के पीछे सोवियत संघ का कठोर हाथ होता है।

'वारसा पैक्ट' की सेनाओं द्वारा १९६८ में चेकोस्लोवाकिया पर की गयी कार्यवाई वस्तुतः सोवियत संघ की कार्यवाई थी। इस घटना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि चूँकि 'वारसा पैक्ट' के अन्तर्गत कार्यवाई करने का निर्णय, यथार्थ में, सोवियत संघ के हाथ में है, अतः 'वारसा पैक्ट' को प्रादेशिक संगठन नहीं माना जाना चाहिये किन्तु प्रादेशिकता तथा प्रादेशिक व्यवस्था की सर्वमान्य परिभाषा के अभाव में 'वारसा पैक्ट' को प्रादेशिकता तथा प्रादेशिक व्यवस्था के अध्ययन में शामिल कर लेना उचित होगा।

संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा प्रादेशिकता

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन (१९४५) में संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माण के समय सर्वाधिक जटिल प्रश्न यही था कि प्रादेशिक संगठनों को मान्यता प्रदान की जाय अथवा नहीं। चूँकि बहुसंख्यक राज्य यह नहीं चाहते थे कि आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के ५ स्थायी सदस्यों के हाथ में ही कार्यवाई करने की शक्ति रहे, इस कारण इन राज्यों ने अपनी भावी सुरक्षा के लिये प्रादेशिक संगठनों को बनाने के सिद्धान्त का समर्थन किया। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्र-चार्टर के अध्याय ८ में प्रादेशिक व्यवस्थाओं या अभिकरणों को मान्यता दी गयी है। लैटिन अमरीकी तथा मध्य-पूर्वी प्रतिनिधि-मंडलों के आग्रह पर इन प्रावधानों को चार्टर में शामिल किया गया। अनुच्छेद ३३ ने प्रादेशिक अभिकरणों को अप्रत्यक्ष रूप से मान्यता प्रदान की है जबकि अनुच्छेद ५१ ने सशस्त्र आक्रमण के विरुद्ध व्यक्तिगत तथा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार को वैधता प्रदान की

है। चार्टर के अनुच्छेद ५२ (धारा १) में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि, "इस चार्टर का कोई प्रावधान अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा-सम्बन्धी मामलों को तय करने वाले प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों, जो प्रादेशिक कार्रवाई के लिये उपयुक्त हैं, के अस्तित्व के विरुद्ध नहीं है, बशर्ते कि ऐसी व्यवस्थायें अथवा अभिकरण तथा उनके कार्यकलाप संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों से संगत हों।" ("Nothing in the present Charter precludes the existence of regional arrangements or agencies for dealing with such matters relating to the maintenance of international peace and security as are appropriate for regional action, provided that such arrangements or agencies and their activities are consistent with the Purposes and Principles of the United Nations")। अनुच्छेद ५२ (धारा २) के अनुसार यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य ऐसी व्यवस्थाओं में शामिल हैं अथवा उन्होंने ऐसे अभिकरणों की स्थापना की है तो वे स्थानीय विवादों को सुरक्षा परिषद् के समक्ष लाने से पूर्व इन प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों के माध्यम से शान्तिपूर्ण ढंग से तय करने का प्रयास करेंगे। अनुच्छेद ५२ (धारा ३) के अनुसार, यदि राज्यों की इच्छा हो अथवा सुरक्षा परिषद् से कोई संकेत मिले तो स्थानीय विवादों का निपटारा इन्हीं प्रादेशिक अभिकरणों के द्वारा होगा। इतना ही नहीं, अनुच्छेद ५३ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि यदि सुरक्षा परिषद् उचित समझे तो अपने अधिकार के अन्तर्गत अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने की दिशा में इन प्रादेशिक व्यवस्थाओं या अभिकरणों का उपयोग कर सकती है परन्तु इन प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों द्वारा किसी प्रकार की कार्रवाई तब तक नहीं की जायेगी, जब तक कि सुरक्षा परिषद् उन्हें ऐसा करने के लिये अपना अनुमोदन न प्रदान कर दे। अपवादस्वरूप, उन्हें यह अधिकार केवल उसी समय प्राप्त होगा जब वे इस प्रकार की कार्रवाई किसी ऐसे राज्य के विरुद्ध करें जो द्वितीय विश्व-युद्ध में शत्रु राज्य रहा हो ('शत्रु राज्य' शब्द उस राज्य के लिये लागू होता है, जो द्वितीय विश्व-युद्ध के समय इस चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राज्य का शत्रु रहा हो)। अन्त में, अनुच्छेद ५४ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने की दिशा में इन प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों द्वारा जो भी कार्रवाईयाँ की जायेंगी, उनकी सूचना सुरक्षा परिषद् को सदैव दी जायेगी।

यह निर्विवाद सत्य है कि अनुच्छेद ५२, अनुच्छेद ५३ तथा अनुच्छेद ५४ ने प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों को सुरक्षा परिषद् के अधीन रखा है तथापि वास्तविक व्यवहार में प्रादेशिक सुरक्षा अभिकरणों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की

तुलना में एक अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। यद्यपि यह गतिविधि मुख्यतः राजनीतिक कारणों का परिणाम है, फिर भी इन अभिकरणों की अत्यधिक संख्या में वृद्धि को इस आधार पर न्यायसंगत ठहराया गया है कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के पूर्णतया अनुकूल हैं। वास्तव में, यह दावा किया जाता है कि प्रादेशिक सुरक्षा अभिकरणों का उद्देश्य भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की तरह शान्ति की स्थापना करना है। यह विचार चार्टर के अनुच्छेद ५१ पर आधारित है जो व्यक्तिगत तथा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार को मान्यता प्रदान करता है। अधिकांश प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों का अनुच्छेद ५१ पर आधारित होना यह प्रदर्शित करता है कि वे सुरक्षा परिषद् के विनियमन तथा नियंत्रण से छुटकारा पाना चाहते हैं। संक्षेप में, इस गतिविधि के दो परिणाम हुए हैं—संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व संस्था की प्रतिष्ठा में कमी तथा बाह्य नियंत्रण से स्वतन्त्रता।

वास्तव में, संयुक्त राष्ट्र चार्टर द्वारा प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों को मान्यता इस आधार पर दी गयी है कि वे विश्व संगठन के उद्देश्यों की पूर्ति में योगदान देकर शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना में सहायक होंगे तथा पूरक संस्थाओं के रूप में कार्य करेंगे। इसके विपरीत आज संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व संस्था की अपेक्षा प्रादेशिक अभिकरण प्राथमिकता प्राप्त करते चले जा रहे हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रथम महासचिव ट्रिग्वे ली (Trygve Lie) का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि, "प्रादेशिक व्यवस्थायें विश्व संगठन के लिये कभी भी एक अनुकल्प नहीं हो सकते हैं, किन्तु यदि उन्हें सावधानी से संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत तथा उसके अधीन रखा जाय, जैसा कि चार्टर में प्रावधान है, तो वे शान्तिरूपी भवन को क्रमशः शक्तिशाली बनाने की दिशा में एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं" ("Regional arrangements can never be a substitute for world organisation, but if they are kept carefully within the framework of the United Nations and subordinate to it, as the Charter provides, they can play a most important role in the gradual strengthening of the structure of peace".)[1]।

प्रादेशिकता की उपयोगिता

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा अभिकरणों ने प्रायः एक स्थायी स्थान ग्रहण कर लिया है। इसका कारण यह है कि इन प्रादेशिक

1. Quoted in L. Larry Leonard, *International Organisation*, p. 302.

अभिकरणों से उनके सदस्य-राज्यों को अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। प्रादेशिक विचारधारा के समर्थकों के अनुसार आधुनिक युग में सार्वभौमिकता की चर्चा करना व्यर्थ है, क्योंकि सार्वभौमिकता एक अव्यावहारिक विचार है। उनकी मान्यता है कि प्रादेशिक व्यवस्थायें तथा अभिकरण अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के एक स्वाभाविक विकास की अभिव्यक्ति हैं तथा विश्व संगठन की दिशा में अभीष्ट सोपान हैं। वे न केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों से संगत हैं बल्कि यथार्थ में वे उसके सफल संचालन तथा विकास में एक परमावश्यक तत्त्व हैं। वस्तुतः प्रादेशिक व्यवस्थायें तथा अभिकरण राष्ट्रीय समस्याओं तथा विश्व संगठन के बीच एक बहुत बड़ी खाई को पाटने का प्रयास करते हैं।

इसके अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें विश्वव्यापी स्तर पर सम्पन्न करना असम्भव होता है। ऐसा केवल प्रादेशिक आधार पर ही किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, सम्पूर्ण विश्व के लिये एक साझा बाजार की स्थापना करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि अनेक वस्तुओं के सम्बन्ध में राज्यों की नीतियाँ परस्पर विरोधी हैं तथा ऐसा होने पर उनके स्वार्थों में संघर्ष भी स्वाभाविक है। परन्तु किसी भी क्षेत्र में एक सीमित संख्या में राज्य ऐसे साझा बाजार की स्थापना कर उससे लाभ उठा सकते हैं। इस सम्बन्ध में प्रादेशिक विचारधारा के एक प्रमुख विद्वान् नॉरमन जे० पेडलफोर्ड (Norman J. Padelford) ने प्रादेशिक-अभिकरणों के लाभों की ओर संकेत करते हुए कहा है, "प्रादेशिक व्यवस्थायें समान हितों तथा उद्देश्यों को रखने वाले राष्ट्र-समूहों को पारस्परिक मामलों पर, जो भी सीमा तक वे वांछनीय मान लें, सहयोग करने की दिशा में एक अवसर प्रदान करते हैं। इस प्रकार वे संघ की एक प्रत्यक्षता स्थापित करते हैं जिसे सार्वभौमिक संस्थाओं के द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है। प्रादेशिक समूहीकरण तथा संगठनों का विकास इस सत्य का प्रतीक है कि जिस वस्तु को विश्वव्यापी आधार पर प्राप्त नहीं किया जा सकता, उसे सीमित क्षेत्रों में तथा थोड़े राज्यों के बीच प्राप्त करना सम्भव है" (Regional arrangements provide groups of nations having common interests and objectives an opportunity to cooperate, to whatever extent they believe desirable, on matters of mutual concern. They thus afford a directness of association which can not be attained through universal institutions. The development of regional groupings and organisations also acknowledge the fact that it is possible to do something within limited areas and among restricted

circles of states that can not be done—on a global basis".) ।[1]

प्रादेशिकता के दोष

सार्वभौमिकता के समर्थकों की यह आपत्ति है कि कतिपय प्रादेशिक अभिकरण सैन्य गठबन्धन होते हैं जो महाशक्तियों के बीच प्रतिद्वन्द्विता उत्पन्न करते हैं, संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रभाव को दुर्बल बना देते हैं तथा सामूहिक सुरक्षा सिद्धान्त, जिस पर सार्वभौमिकता का विचार आधारित है, को नष्ट कर देते हैं। प्रादेशिकता सार्वजनिक कल्याण का परित्याग कर स्वार्थपरता तथा विरोध के तत्वों का बीजारोपण करती है। प्रादेशिक अभिकरण केवल शीतयुद्ध, भय, तनाव तथा वैमनस्य को ही बढ़ावा देने में सहायक होते हैं न कि विश्वशान्ति के विकास में।

आधुनिक युग में विश्व की समस्याओं के समाधान के लिये प्रादेशिक अभिकरण तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों में दो परस्पर-विरोधी स्थितियों का जन्म होता है, क्योंकि प्रादेशिक अभिकरण केवल प्रादेशिक हितों को ही ध्यान में रखकर निर्णय करते हैं जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ सार्वभौमिक हितों को प्राथमिकता देता है। प्रादेशिकता-सम्बन्धी विगत अनुभव यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि प्रादेशिक अभिकरण आर्थिक, प्राविधिक तथा प्रतिरक्षा मामलों सम्बन्धी सहयोग के संवर्धन के लिये उपयोगी रहे हैं तथापि सामान्य राजनीतिक समस्याओं के समाधान में उन्हें असफलता ही मिलती है।[2]

आज सम्पूर्ण विश्व वैज्ञानिक तथा प्राविधिक प्रगति के फलस्वरूप सिकुड़कर एक केन्द्रित इकाई बनता जा रहा है तथा कोई भी प्रादेशिक युद्ध विश्व-युद्ध का रूप ले सकता है। अतः इन परिस्थितियों में विश्व संस्था को शक्तिहीन बनाना मानव-जाति के लिये घातक है।

विश्व के राजनेताओं में सम्भवतः भारत के भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू प्रादेशिक अभिकरणों की सदस्यता के सदैव विरोधी रहे थे। १२ जून, १९५२ को भारतीय संसद में भाषण देते समय श्री नेहरू ने 'नाटो' की आलोचना इस प्रकार की, "यह आक्रमण के विरुद्ध सुरक्षा के लिये एक संधि के रूप में संगठित किया गया परन्तु इसने स्पष्ट रूप से अपने कार्यक्षेत्र को बढ़ा लिया है तथा सम्बन्धित राष्ट्रों की औपनिवेशिक अधीन क्षेत्रों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया है। जहाँ तक हम सम्बन्धित हैं, यह एक अत्यन्त गम्भीर मामला है। इसका

1. Norman J. Padelford, 'Regional Organisation and the United Nations', *International Organisation*, Vol. 8 (1954), pp. 202-204.
2. See R. P. Anand (Ed.), *Asian States and the Development of Universal International Law*, p. 131.

अभिप्राय तो यही है कि कतिपय देशों को औपचारिक अथवा अनौपचारिक आश्वासन देना चाहिये कि वे औपनिवेशिक शासन, जहाँ कहीं वह हो, की रक्षा करेंगे तथा बनाये रखेंगे। जैसा कि आप लोग जानते हैं, हम अटल रूप से औपनिवेशिक शासन, जहाँ कहीं वह विद्यमान होने, के विरोधी हैं" ("It began as a pact for defence against aggression but it has apparently widened its scope and taken upon itself the defence of the colonial possessions of the nations concerned. That so far as we are concerned, is a very serious matter. It means that certain countries must give assurances whether formal or informal, that they will protect and maintain colonial rule wherever it exists. We are, as you know, unalterably opposed to colonial rule wherever it exists.")[1]

यह स्मरण रखना हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है कि अधिकांश सुरक्षा अभिकरणों की प्रेरक शक्तियाँ गैर-प्रादेशिक राज्य हैं। उदाहरण के लिये, 'सीटो' और 'सेन्टो' की प्रेरक शक्तियाँ संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ग्रेटब्रिटेन हैं। इन सैन्य गठबन्धनों के कारण राज्यों के मध्य सहयोग नहीं बल्कि घृणा, फूट, मतभेद तथा ईर्ष्या की भावना का प्रसार अधिक हुआ है। 'सीटो' के कारण भारत तथा पाकिस्तान के सम्बन्ध खराब हो गये (भारत ने 'सीटो' की सदस्यता स्वीकार नहीं की) जबकि 'सेन्टो' ने अरब राज्यों के बीच फूट डाल दी। इन सुरक्षा अभिकरणों ने पहले से ही दो विरोधी गुटों में विभाजित विश्व को और भी विभाजित कर दिया है।

कुछ प्रमुख प्रादेशिक संगठन

(१) उत्तर अटलाण्टिक सन्धि-संगठन
(North Atlantic Treaty Organisation)

उत्तर अटलाण्टिक सन्धि-संगठन संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा तथा यूरोप के कुछ राज्यों का एक संगठन है, जिसका उद्देश्य है :

(क) सोवियत संघ तथा अन्य साम्यवादी राज्यों के आक्रमण करने पर व्यक्तिगत तथा सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करना;

(ख) संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुसार पारस्परिक विवादों को शान्तिपूर्ण ढंग से निबटाना जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा एवं न्याय पर कोई खतरा न आने पाये;

1. Jawaharlal Nehru's. Speeches 1949–1953 (Delhi, 1954), p. 224. quoted in *India and the United Nations*, pp. 60–61.

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक नीति-सम्बन्धी विवाद को दूर करना तथा पारस्परिक आर्थिक सहयोग को प्रोत्साहन देना, आदि।

इस संगठन की शर्तों पर ४ अप्रैल, १९४९ को वाशिंगटन में १२ राज्यों— संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, पुर्तगाल, डेनमार्क, आइसलैण्ड, इटली, लक्जेमबर्ग, नीदरलैण्ड और नॉरवे के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किये। २४ अगस्त, १९४९ को यह सन्धि लागू हुई। बाद में १९५२ में ग्रीस (यूनान) तथा टर्की तथा १९५५ में पश्चिमी जर्मनी भी इस संगठन में शामिल कर लिये गये। इसका संक्षिप्त नाम 'नाटो' (NATO) है।

इस सन्धि का केन्द्रीय बिन्दु अनुच्छेद ५ है जिसमें कहा गया है, "सन्धिकर्ता पक्ष सहमत हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमरीका में उनमें से एक या अधिक पक्षों पर किया गया सशस्त्र आक्रमण सब पक्षों के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण माना जायेगा, तथा फलतः वे समझौता करते हैं कि, यदि इस प्रकार का सशस्त्र आक्रमण होता है, तो उनमें से प्रत्येक, संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत या सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के प्रयोग में, व्यक्तिगत रूप से तथा अन्य पक्षों की सहमति से, आक्रान्त पक्ष या पक्षों को सहायता करने के लिये ऐसी कार्रवाई करेगा जैसा वह आवश्यक समझे, जिसमें उत्तरी अटलाण्टिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनः स्थापना के लिये सशस्त्र बल का प्रयोग भी शामिल है" ("The Parties agree that an armed attack against one or more of them in Europe or North America shall be considered an attack against them all; and consequently they agree that, if such an armed attack occurs, each of them, in exercise of the right of individual or collective self-defence recognised by Article 51 of the Charter of the United Nations, will assist the Party or Parties so attacked by taking forthwith, individually and in concert with the other Parties, such action as it deems necessary, including the use of armed force, to restore and maintain the security of the North Atlantic area.")।

अनुच्छेद ३ के अनुसार, "इस सन्धि के उद्देश्यों को अधिक प्रभावकारी ढंग से प्राप्त करने के लिये, सन्धिकर्ता पक्ष, निरन्तर आत्मनिर्भरता तथा पारस्परिक सहायता द्वारा, अलग-अलग एवं संयुक्त रूप से, सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिये अपनी व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्षमता का अनुरक्षण एवं विकास करेंगे" ("In order more effectively to achieve the objectives of this

Treaty, the Parties, separately and jointly, by means of continuous and effective self-help and mutual aid, will maintain and develop their individual and collective capacity to resist armed attack.") ।

संगठन

(१) **उत्तर अटलाण्टिक परिषद्** :—यह इस संगठन का सर्वोच्च नीति निर्धारक अंग है । वर्ष में इसकी दो या तीन बैठकें होती हैं जिनमें सदस्य-राज्यों के परराष्ट्र-मंत्री भाग लेते हैं किन्तु १९५१ से अब प्रतिरक्षा तथा वित्त-मंत्री भी इसकी बैठकों में भाग लेने लगे हैं । इसके अतिरिक्त परिषद् की सप्ताह में एक या दो बैठकें भी होती हैं जिनमें सदस्य-राज्यों के स्थायी प्रतिनिधि (राजदूत) भाग लेते हैं । परिषद् की सभी बैठकों में 'नाटो' का महासचिव अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है । परिषद् के सभापति का चुनाव 'नाटो' के परराष्ट्र-मंत्रियों में से वर्णक्रमानुसार होता है । परिषद् के सभी निर्णय सर्वसम्मति से लिये जाते हैं ।

(२) **स्थायी सचिवालय** :—'नाटो' के सचिवालय का प्रमुख महासचिव होता है । सचिवालय राजनीतिक मामलों, आर्थिक तथा वित्तीय, एवं उत्पादन तथा संभार-तन्त्र (logistics) आदि कई खण्डों में बँटा हुआ है ।

(३) **सैन्य समिति** :—इसमें सदस्य-राज्यों के सेनाध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहते हैं । इसके अधीन सेना के तीन कमान हैं—यूरोपीय कमान, अटलाण्टिक कमान और चैनल कमान जिसके अलग-अलग सेनाध्यक्ष हैं । चूंकि आइसलैण्ड के पास सशस्त्र सेनायें नहीं हैं, अतः उसका प्रतिनिधित्व एक असैनिक पदाधिकारी (सिविलियन) द्वारा होता है ।

१९६६ में फ्रांस ने इस संधि-संगठन से अपने सैनिक सम्बन्ध समाप्त कर दिये । उसी वर्ष 'नाटो' परिषद् ने इसका मुख्यालय पेरिस से हटाकर ब्रुसेल्स (बेल्जियम) ले जाने का निर्णय किया ।

'नाटो' के विपक्ष में तर्क

यह स्मरण करने योग्य है कि 'नाटो' की एक ओर तो कटु आलोचना हुई है, वहाँ दूसरी ओर इसका अत्यधिक समर्थन भी किया गया है । 'नाटो' के विरोधियों के अनुसार इस संधि-संगठन से शांति और सुरक्षा को बल मिलने के स्थान पर शंका, भय तथा अविश्वास उत्पन्न हुए हैं तथा इसने शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया है । इसने 'पूर्व' और 'पश्चिम' के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को जन्म दिया है तथा इसने पहले से ही दो विरोधी गुटों में विभाजित विश्व को और भी विभाजित कर दिया है । यद्यपि समझौता-पत्र संयुक्त राष्ट्र चार्टर

के अनुरूप हो सकता है तथापि उसकी भावना नहीं क्योंकि इससे पुनः-शस्त्रीकरण को बढ़ावा मिलता है तथा यह विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से निबटाने की अपेक्षा युद्ध की तैयारियों पर बल देता है। 'नाटो' के प्रमुख आलोचक **प्रो० ग्रेसन किर्क** (Prof. Grayson Kuk) ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है, "संतुलन पर, इसका (सन्धि का) प्रभाव संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रभाव को सम्भवतः कम कर दे। यदि इसने संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के प्रभाव का विश्वव्यापी आधार पर विभाजन को बढ़ावा दिया तो यह सयुक्त राष्ट्रसंघ के विकास के अवसरो को समाप्त कर देगा।.........यह सम्भवतः सयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में गुट-मतदान को प्रोत्साहन दे,.........प्रत्येक अवस्था में, यह विश्वास कर लेना अस्वाभाविक प्रतीत होता है कि इस सन्धि का सामुदायिक हितों, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ की बुनियाद है, की संवृद्धि पर शायद एक लाभदायक प्रभाव हो। इस सन्धि द्वारा अर्जित लाभ इन सम्भावित हानियों की क्षतिपूर्ति कर सकते हैं—एक गम्भीर-विचार का विषय है" ("On balance, its (the Treaty's) influence is likely to diminish the influence of the United Nations. If it intensified a global *division of influence* between the United States and the Soviet Union, it will reduce to zero the opportunities for the United Nations development.........It is likely to foster bloc voting in the United Nations General Assembly,.........In any event, it seems far-fetched to assume that the pact can possibly have a beneficial effect upon that growth of community interests which is the foundation of the United Nations. Whether the advantages gained by the pact can offset these probable disadvantages, is a matter for serious consideration.")[1]

'नाटो' के पक्ष में तर्क

'नाटो' के समर्थकों के अनुसार यह सन्धि-सगठन किसी भी आक्रामक के लिये एक अग्रिम चेतावनी है कि यदि उसने 'नाटो' के किसी भी सदस्य-राज्य के विरुद्ध आक्रमण किया तो उसे कनाडा और सयुक्त राज्य अमेरिका सहित समस्त यूरोपीय शक्ति का सामना करना पड़ेगा। यह युद्ध-निवारक का कार्य करेगा। इसके अतिरिक्त यह सन्धि संयुक्त राष्ट्र चार्टर के पूर्णतया अनुकूल है क्योंकि इसके अन्तर्गत युद्ध के प्रतिरोध की व्यवस्थायें चार्टर के अनुच्छेद ५१

1. Quoted in L. Larry Leonard, *International Organisation*, p. 317.

द्वारा मान्य हैं तथा चार्टर का अनुच्छेद ५२ तथा अनुच्छेद ५३ प्रादेशिक अभिकरणों की वैधता को मान्यता प्रदान करता है।

निष्कर्ष

'नाटो' वस्तुतः सोवियत संघ के विरुद्ध एक गठबन्धन है जिसका मुख्य उद्देश्य सोवियत संघ के विरुद्ध आक्रामक नीति अपनाना है। 'नाटो' स्पष्टतः संयुक्त राष्ट्र चार्टर के विरुद्ध है क्योंकि इससे सामूहिक सुरक्षा प्रणाली तथा विश्वशान्ति दोनों के लिये ही खतरा है। यही कारण है कि सोवियत संघ ने 'नाटो' को 'विश्व में बलप्रयोग द्वारा आंग्ल-अमरीकी प्रभुत्व स्थापित करने के लिये' एक आक्रामक गठबन्धन कहकर तीव्र निन्दा की है। सोवियत संघ ने यह दोषारोपण किया है कि 'नाटो' संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व संस्था की शक्ति तथा प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचाने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

नाटो का उद्देश्य यूरोप के सैन्य और राजनीतिक विभाजन के दुष्परिणामों तथा साम्यवाद के बढ़ते प्रसार को रोकना है। यदि यूरोप—पूर्वी यूरोप तथा पश्चिमी यूरोप—में विभाजित न होता तो कदाचित् 'नाटो' का विशेष महत्त्व नहीं था, किन्तु जब तक यूरोप पूर्वी साम्यवादी देशों तथा पश्चिमी उपनिवेशवादी-साम्राज्यवादी शक्तियों में विभाजित है, तब तक 'नाटो' अपने मूल रूप में एक सैन्य गठबन्धन बना रहेगा।

(२) दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि-संगठन
(South-East Asia Treaty Organisation)

८ सितम्बर, १९५४ को आस्ट्रेलिया, फ्रांस, ग्रेटब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका, न्यूजीलैण्ड, थाइलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिपीन के प्रतिनिधियों ने मिलकर मनिला (फिलिपीन) में दक्षिण-पूर्व एशिया की सामूहिक सुरक्षा एवं आर्थिक साधनों के विकास के लिये एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे 'दक्षिण-पूर्व एशिया सन्धि-संगठन' (SEATO) कहा जाता है। इस सन्धि का दूसरा नाम 'दक्षिण-पूर्व एशिया सामूहिक सुरक्षा-सन्धि' (South-East Asia Collective Defence Treaty) है। इसे 'मनीला सन्धि' (मनीला पैक्ट) भी कहा जाता है।

इस सन्धि में झगड़ों का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा, आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक प्रतिरक्षा, आर्थिक प्रगति तथा सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सहायता प्रदान करने, स्वतन्त्र संस्थाओं को सुदृढ़ बनाने का प्रावधान है। इस संधि में यह कहा गया है कि किसी भी सदस्य-राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण होने या शान्ति भंग का भय होने पर सभी सदस्य-

राज्य अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार सामूहिक कार्रवाई करेंगे (अनुच्छेद ४)। इस सन्धि पर हस्ताक्षर करते समय संयुक्त राज्य अमरीका ने अपनी स्पष्ट व्याख्या दी कि अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत 'आक्रमण' शब्द का अभिप्राय केवल 'साम्यवादी आक्रमण' से है। इसका तात्पर्य यह है कि साम्यवादी देशों द्वारा आक्रमण होने की अवस्था में ही संयुक्त राज्य अमरीका इस सन्धि के सदस्य-राज्यों की सहायता करेगा अन्यथा उन राज्यों के पारस्परिक विवादों में वह कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा।

इस सन्धि के अनुसार खड़े किये गये सैनिक तथा असैनिक सभी संगठनों के कार्यालय बैंकॉक (थाइलैण्ड) में हैं। इसकी परिषद् (Council) में आठ सदस्य-राज्यों के परराष्ट्र-मंत्री रहते हैं। परिषद् की बैठक प्रायः वर्ष में एक बार हुआ करती है।

पाकिस्तान अपने पूर्वी भाग (अब बंगला देश) को खो देने के बाद इस संधि से अलग हो गया। फ्रांस १९६७ में इसकी सैनिक गतिविधियों से अलग हो गया तथा १९७४ में संधि का सदस्य रहते हुए भी 'सीटो' को अपना अंशदान देना बन्द कर दिया।[1]

(३) बगदाद-संधि (केन्द्रीय संधि-संगठन)

Baghdad Pact (Central Treaty Organisation)

मध्यपूर्व के देशों, विशेषकर टर्की और ईराक द्वारा पारस्परिक सहयोग तथा सुरक्षा के निमित्त बगदाद में २४ फरवरी, १९५५ को एक समझौता किया गया था जो 'बगदाद-संधि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसी वर्ष ४ अप्रैल को ग्रेटब्रिटेन, २३ सितम्बर को पाकिस्तान और ३ नवम्बर को ईरान इसमें शामिल हो गये। १९५६ में संयुक्त राज्य अमरीका इसकी आर्थिक और विध्वंस-विरोधी (Counter-subversion) समितियों का तथा १९५७ में इसकी सैन्य-समिति का एवं १९६१ में इसकी वैज्ञानिक समिति का सदस्य हुआ। ५ मार्च, १९५९ को अंकारा में संयुक्त राज्य अमरीका और टर्की के बीच तथा ईरान और पाकिस्तान के बीच द्विभुजी सुरक्षा समझौते हुए। जब २४ मार्च, १९५९ से ईराक ने विधिवत् इस संधि-संगठन की सदस्यता त्याग दी तब इसका मुख्यालय बगदाद से हटाकर अंकारा स्थानान्तरित कर दिया गया। २१ अगस्त, १९५९ से इस संधि का नाम बगदाद पैक्ट अर्थात् 'बगदाद-संधि' से बदलकर 'सेन्ट्रल ट्रीटी आर्गेनाइजेशन' (CENTO) अर्थात् 'केन्द्रीय संधि-संगठन' किया गया।

'केन्द्रीय संधि-संगठन' के मुख्य लक्ष्य हैं :—

(१) संधि में शामिल देशों की सुरक्षा,

1. *SWARAJYA*, Madras, September 27, 1975, p. 18.

(२) एक-दूसरे के मामलों में अहस्तक्षेप, और

(३) किसी सदस्य-राज्य को ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में शामिल नहीं होने देना जिसके उद्देश्यों से इसके उद्देश्य सामंजस्य न रखते हों।

'केन्द्रीय संधि-संगठन' का एक प्रशिक्षण केन्द्र ईरान में है। यह ईरान, टर्की और पाकिस्तान स्थित विभिन्न प्रशिक्षण एवं अनुसंधान संस्थानों को वित्त, उपकरण तथा कर्मचारी-वृन्द द्वारा सहायता प्रदान करता है।

पाकिस्तान अपने संश्रयों (alliances) से काफी असतुष्ट दिखायी देता है और यही कारण है कि इसने साम्यवादी चीन से कई समझौते सम्पन्न कर रखे हैं। यह इस बात का संकेत है कि पाकिस्तान एक स्वतंत्र परराष्ट्र-नीति के निर्माण का प्रयास कर रहा है। लेकिन यह दूसरी ओर मुसलिम देशों से भी घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखने का इच्छुक है। यदा-कदा पाकिस्तानी नेताओं ने पाकिस्तान, अफगानिस्तान तथा ईरान को एक परिसंघ या संघ का रूप देने का प्रस्ताव रखा है।

यह स्मरण करने योग्य है कि पाकिस्तान ने टर्की और ईरान के साथ एक नये क्षेत्रीय संगठन की स्थापना की है जिसे 'रीजनल कोआपरेशन फॉर डेवलपमेन्ट' (Regional Co-operation for Development) के नाम से जाना जाता है। वस्तुतः रीजनल कोआपरेशन फॉर डेवलपमेन्ट' (RCD) सेन्टो (CENTO) में प्रवेशप्राप्त इन तीन मुसलिम राज्यों के साहचर्य का परिणाम है किन्तु इसके सदस्य-राज्यों ने इसे एक पृथक् संगठन माना है। पाकिस्तानी प्रवक्ताओं ने इसे "विकासशील देशों के मध्य क्षेत्रीय सहयोग का प्रथम उदाहरण" ("the first example of regional cooperation among developing nations") कहा है।[1]

कुछ विद्वानों ने केन्द्रीय संधि-संगठन (CENTO) को एक "असंगठित गठबन्धन" (loose alliance) कहा है।[2] पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins) ने एक सामूहिक सुरक्षा संधि के रूप में 'सेन्टो' को एक "दुर्बल व्यवस्था" (weak arrangement) की संज्ञा दी है।[3]

(४) वारसा-संधि

(Warsaw Pact)

१९५५ में जब पूँजीवादी राष्ट्रों ने पश्चिमी जर्मनी (फेडरल रिपब्लिक ऑफ जर्मनी) के शस्त्रीकरण करने का निश्चय किया और उसे 'नाटो' का सदस्य बना

1. See *Pakistan Affairs*, (April 16, 1965), quoted in Palmer and Perkins, *International Relations*, p. 584.
2. Hartmann, *The Relations of Nations*, P. 307.
3. *International Relations*, p. 584.

लिया तो सोवियत संघ ने मई, १९५५ में वारसा (पोलैण्ड) में "यूरोप में शान्ति और सुरक्षा के निमित्त यूरोपीय देशों का सम्मेलन" (Conference of European Countries on Safeguarding Peace and Security) आयोजित किया। इसमें सोवियत संघ, पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, अल्बानिया, पूर्वी जर्मनी, बलगेरिया और चेकोस्लोवाकिया ने भाग लिया। साम्यवादी चीन का भी एक प्रेक्षक (observer) इसमें उपस्थित था। १४ मई, १९५५ को इस सम्मेलन में भाग लेने वाले देशों के प्रतिनिधियों ने एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जो वारसा-संधि या वारसा पैक्ट के रूप में प्रसिद्ध है। इस प्रकार, वारसा-संधि (वारसा पैक्ट) सोवियत संघ तथा अन्य सात साम्यवादी देशों—अल्बानिया, बलगेरिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी (जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक), पोलैण्ड, रूमानिया और चेकोस्लोवाकिया द्वारा हस्ताक्षरित की गयी।[1] इस संधि का पूरा नाम "पूर्वी यूरोपीय सुरक्षा-संधि" (East European Security Pact) है। इसका मूल उद्देश्य पश्चिमी राष्ट्रों के उत्तर-अटलाण्टिक संधि-संगठन (नाटो) के मुकाबले की एक संस्था स्थापित करना था। वारसा पैक्ट इस प्रकार 'नाटो' के विरुद्ध साम्यवादी देशों का एक सैन्य संगठन है।

वस्तुतः वारसा पैक्ट का निर्माण 'नाटो' में पश्चिमी जर्मनी द्वारा सदस्यता प्राप्त कर लेने से उत्पन्न भय के विरुद्ध हुआ है। इस संधि के अनुच्छेद ४ में यह व्यवस्था है कि, "किसी एक सदस्य-देश पर आक्रमण सभी सदस्य-देशों पर आक्रमण माना जायेगा" (an attack on one shall be regarded as an attack on all") एवं अनुच्छेद ५ के अन्तर्गत सदस्य-देशों के सशस्त्र सेनाओं की एक संयुक्त कमान (unified command) बनायी गयी है। सेनों के संयुक्त कमान का प्रधान कार्यालय मास्को में है।

वारसा-संधि में सभी देशों की समान स्थिति है तथापि यह स्पष्ट है कि सोवियत संघ ही इसका मुख्य शक्ति-केन्द्र है तथा अन्य राज्यों की स्थिति उपग्रही राज्यों की तरह है। इस संधि में सोवियत संघ की स्थिति 'नाटो' में संयुक्त राज्य अमरीका से भी अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली है। इस सत्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वारसा-संधि के अभाव में भी सोवियत संघ की स्थिति काफी दृढ़ रहती और इन उपग्रही राज्यों पर सोवियत संघ का नियंत्रण उतना ही प्रभावी होता। वारसा-संधि से एक लाभ अवश्य हुआ है कि सोवियत संघ को इन राज्यों में हस्तक्षेप (intervention) करने का कानूनी अधिकार प्राप्त हो गया है।

1. इन साम्यवादी देशों ने सोवियत संघ के साथ द्विपक्षीय संधि ([illegible] treaty) भी किया है।

उदाहरण के लिये, १९५६ में हंगरी के आन्तरिक विद्रोह को दबाने और १९६८ में चेकोस्लोवाकिया की सरकार को सोवियत समर्थक नीति अपनाने के लिये बाध्य करने के उद्देश्य से सोवियत हस्तक्षेप वारसा-संधि की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत ही हुआ था। सोवियत संघ का दृष्टिकोण यह है कि साम्यवाद को शक्तिहीन बनाने के लिये जो भी आन्तरिक विद्रोह होंगे, उन्हें, बाह्य आक्रमण के समान ही माना जायेगा।

वारसा-संधि का मुख्य अंग "परामर्शदात्री राजनीतिक आयोग" (Consultative Political Commission) है जो आवश्यकतानुसार सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। १९५६ में इसके सदस्य-देशों के प्रतिनिधियों द्वारा मास्को में एक संयुक्त सचिवालय स्थापित किया गया। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करने तथा परराष्ट्र-नीतियों के सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव देने के निमित्त १९५६ के अन्त में एक स्थायी आयोग भी गठित किया गया।

संक्षेप में, वारसा-संधि का राजनीतिक महत्व तीन कारणों से है :—

(१) वारसा-सन्धि पूर्वी यूरोप के राज्यों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला एक औपचारिक संगठन है,

(२) वारसा-सन्धि सदस्य-देशों का गैर-साम्यवादी संगठनों में प्रवेश निषेध घोषित करके उनकी प्रभुसत्ता पर प्रतिबन्ध लगाता है, तथा

(३) वारसा-संधि के माध्यम से सोवियत संघ अपनी परराष्ट्र-नीति के पक्ष में अधिकांश साम्यवादी देशों का समर्थन प्राप्त कर लेता है जिसकी वर्तमान समय में विशेषकर रूस-चीन विवाद के सन्दर्भ में उसे आवश्यकता है।

यह हमें स्मरण रखना चाहिये कि सैन्य संधियाँ चाहे प्रजातांत्रिक देशों की हों या साम्यवादी देशों की, वे मूलतः सामूहिक सुरक्षा में अविश्वास के फलस्वरूप ही विकसित हुई हैं। यह भी विवादास्पद है कि सैन्य संधियों ने युद्ध को बढ़ावा दिया है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम किया है, तथापि यह सत्य है कि जब तक हमारे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में मूलभूत परिवर्तन नहीं आते, सैन्य संधियाँ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का स्थायी अंग बनी रहेंगी।

(५) अरब लीग
(Arab League)

२२ मार्च, १९४५ को काहिरा में अरब राष्ट्रों ने अरब की एकता कायम रखने के लिये एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर कर एक संघ का निर्माण किया जिसे "अरब राज्यों की लीग" (the League of Arab States) या "अरब लीग" (Arab League) कहा जाता है। यह स्मरण करने योग्य है कि अक्टूबर

१९४४ को ही पाँच प्रमुख अरब राज्यों–मिस्र, सीरिया, ट्रांसजोर्डन, ईराक और लेबनान ने "अरब राज्यों की लीग" की स्थापना हेतु एक समझौता कर रखा था। मिस्र, सीरिया, ईराक, जोर्डन, लेबनान, सऊदी अरब तथा यमन इसके प्रारम्भिक सदस्य हैं। लीबिया, सूडान, मोरक्को, ट्यूनिशिया, कुवैत, अल्जीरिया तथा बहरीन ने भी अरब लीग की सदस्यता ग्रहण कर ली है। सूडान, लीबिया, मोरक्को तथा ट्यूनिशिया को लेकर १ अक्टूबर, १९५८ को अरब लीग के सदस्य-राज्यों की संख्या १० थी। १९६४ तक इसके सदस्य-राज्यों की संख्या १३ थी जिनमें मॉरिटेनिया को छोड़कर सभी स्वतंत्र तथा मुख्य रूप से अरब राज्य शामिल थे।

"अरब राज्यों की लीग की संधि" (Pact of the League of Arab States) में इसके निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य घोषित किये गये हैं :—

(१) सदस्य-राज्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को सुदृढ़ बनाना,

(२) सदस्य-राज्यों के मध्य हुए समझौतों को क्रियात्मक रूप देना,

(३) राजनीतिक क्षेत्र में सामंजस्यपूर्ण सहयोग,

(४) सदस्य-राज्यों की स्वाधीनता तथा प्रभुसत्ता की रक्षा, तथा

(५) आर्थिक, वित्तीय, सांस्कृतिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, संचार तथा तत्सम्बन्धी विषयों में पारस्परिक सहयोग।[1]

अरब लीग का प्रधान अंग परिषद् (Council) है जिसमें सभी सदस्य-राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है। सुरक्षा विषयों पर परिषद् के निर्णयों को बन्धनकारी होने के लिये सर्वसम्मति से स्वीकृत होना आवश्यक है। परिषद् के मत में इस समझौते के अधीन अपने दायित्वों का पालन न करने वाले किसी भी राज्य को लीग से सभी सदस्य-राज्यों की सर्वसम्मति से निकाला जा सकता है। परिषद् की बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। काहिरा में स्थित सचिवालय इसका प्रशासकीय अंग है। इस समझौते (पैक्ट) में इसकी शक्तियों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु इसने एक प्रभावशाली तथा स्वतंत्र भूमिका निभायी है जो विशेषकर इसके प्रथम महासचिव (सेक्रेटरी जेनरल) अब्दुल रहमान अज़ाम पाशा (Abdul Rahman Azzam Pasha) के व्यक्तित्व तथा प्रयासों का परिणाम है। सचिवालय कई मुख्य खण्डों यथा राजनीतिक, कानूनी, सामाजिक, सांस्कृतिक, प्रेस तथा प्रचार (पब्लिसिटि), प्रशासकीय तथा वित्तीय और फिलिस्तीन (Palestine) विभागों में बँटा हुआ है। अरब लीग ने इन विभागों के समरूप ही कई समितियों की स्थापना की है।

1. The Text of the Pact is given in B. V. Boutros-Ghali, "The 1945-1955", *International Conciliation*, No. 498 (May, 1954), ..

अरब लीग संयुक्त राष्ट्र मुख्यालय न्यूयार्क में एक स्थायी पर्यवेक्षक (Permanent Observer) रखती है तथा इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की अधिकांश विशिष्ट अभिकरणों से औपचारिक तथा अनौपचारिक समझौते सम्पन्न किये हैं। इसने अनेक देशों में सूचना केन्द्रों की स्थापना की है जिनमें चार तो केवल संयुक्त राज्य अमेरिका में हैं।[1]

१९५३ में अरब लीग की परिषद् ने Institute of Advanced Arab Studies की स्थापना की जो अरब मामलों में विशेषज्ञों को प्रशिक्षण देने का महत्वपूर्ण केन्द्र है। १९५७ में अरब लीग ने अरब राज्यों की आर्थिक, वित्तीय तथा सामाजिक योजनाओं में तालमेल बनाये रखने के लिये आर्थिक विकास के लिये अरब वित्तीय संस्था (Arab Financial Institution for Economic Development) जिसे अरब बैंक भी कहा जाता है, तथा आर्थिक एकता के लिये स्थायी परिषद् की स्थापना की। अरब लीग ने अरब न्यायालय (Arab Court of Justice) की प्रारूप संविधि का निर्माण किया है किन्तु लीग के सदस्य-राज्यों ने इस प्रकार के न्यायालय की स्थापना में कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी है जो अरब राज्यों के बीच विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान से सम्बन्धित इस संधि की व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करने में सहायक हो सके।

अरब लीग की स्थिति को शक्तिशाली करने की दिशा में इसके सदस्य-राज्यों द्वारा १९५० में एक सामूहिक सुरक्षा संधि हस्ताक्षरित की गयी जिसे "संयुक्त सुरक्षा तथा आर्थिक सहयोग की संधि" (Treaty of Joint Defence and Economic Cooperation) भी कहा जाता है। ईराक द्वारा अनुसमर्थन मिलने पर यह संधि १६ मार्च, १९५२ को अस्तित्व में आयी। इस संधि द्वारा यह व्यवस्था की गयी कि एक सदस्य-राज्य पर आक्रमण सभी सदस्य-राज्यों पर आक्रमण माना जायेगा तथा आक्रमण की स्थिति में अरब लीग इस संधि का पालन संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५१ (आत्मरक्षा का अधिकार) के अनुसार करेगी।

अरब लीग की स्थापना में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण रहा है—फिलिस्तीन की भूमि को यहूदियों से खाली कराना। वस्तुतः फिलिस्तीन की समस्या ने ही अब तक अरब लीग के सदस्य-राज्यों को सगठित बनाये रखा है। १९४८ में इजरायल नामक राज्य की स्थापना के उपरान्त अरब लीग का सबसे बड़ा लक्ष्य इजरायल के विरुद्ध संगठित होकर उसके अस्तित्व का विरोध करना रहा है। १९५६ के स्वेज सकट के समय जब ब्रिटेन तथा फ्रांस ने संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के विरुद्ध

1. The basic documents of the League and information regarding the League's activities may be found in *The Arab World*, the official monthly magazine published by the Arab Information Centre in New York.

"बल" प्रयोग किया था तो अरब लीग के सदस्य-राज्यों ने मिस्र को पूर्ण सहायता प्रदान की। जून १९६७ में इजरायल तथा अरब राज्यों के बीच पुनः युद्धाग्नि भड़क उठी जिसमें इज़रायल की श्रेष्ठता ने अरब राज्यों की प्रतिष्ठा को कम कर दिया और अरब लीग भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

सदस्य-राज्यों के राजनीतिक मतभेदों तथा उनकी परराष्ट्रनीतियों में भिन्नतायें होने के कारण अरब लीग को एक शक्तिशाली क्षेत्रीय व्यवस्था कहना ठीक नहीं होगा। फिर भी, अरब लीग की स्थापना से यह लाभ अवश्य हुआ है कि इससे सदस्य-राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक गुट (bloc) के रूप में मतदान करने तथा अपने प्रभाव को प्रदर्शित करने का अवसर मिला है। १९ जून, १९५० के 'जेरूसलम पोस्ट' (Jerusalem Post) में डेविड कोर्टने (David Courtney) ने अरब लीग की प्रशंसा में लिखा है:—"As a self-contained and effective unity, it (Arab League) has never existed; but it has existed, and still exists, as a formal attempt to create a common external policy out of a natural kinship among the Arab States." मिस्र के ख्यातिलब्ध विद्वान बी० वी० बोट्रोस-घाली (B. V. Boutros-Ghali) ने ठीक ही कहा है, "यदि लीग शक्तिहीन भी हो जाय तो अरबों के लिये इसकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनी रहेगी, केवल इसलिये नहीं कि यह प्रथम गैर-पश्चिमी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है बल्कि इसलिये कि यह अगादिर से अदेन तक अरब-जनता की एकता का प्रतीक है" ("Even if the League becomes weaker, its prestige for the Arabs remains intact; not only because it is the first non-Western international organisation but because it symbolises Arab unity to the people from Agadir to Aden".)।[1] निस्सन्देह अरब लीग अरब-विश्व के लिये राष्ट्रीय पुनर्जागरण (national revival) का द्योतक है।

(६) अफ्रीकी एकता संगठन

(Organisation of African Unity)

अफ्रीकी देशों का एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण संगठन है जो "अफ्रीकी एकता संगठन" (OAU) के रूप में प्रसिद्ध है और जो अफ्रीकी प्रादेशिक संगठनों में सबसे व्यापक तथा सबसे अधिक क्रियाशील माना जाता है। मई १९६३ में ३० स्वतंत्र अफ्रीकी राष्ट्रों के प्रधानों का एक शिखर सम्मेलन अदिस अबाबा में हुआ

1. Quoted in Palmer and Perkins, *International Relations*, p. 633. The Arab League, 1945-1955, p. 433.

था जिसने अफ्रीकी एकता संगठन की स्थापना अफ्रीका को साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी चंगुल से मुक्त कराने के लिये की। घाना के महान नेता एन्क्रूमा को इस बात का सर्वाधिक श्रेय दिया जाता है। इथियोपिया के सम्राट् हेले सिलासी का भी बड़ा योगदान रहा है। इटली के विरुद्ध उन्होंने स्वाधीनता की जो लड़ाई लड़ी थी, उसके कारण पूरे अफ्रीका में उनके प्रति बड़ा आदर था। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए संगठन का मुख्यालय अदीस अबाबा में रखा गया। जातीय पार्थक्य तथा रंगभेद की नीति बरतने वाले दक्षिण अफ्रीका (अंजानिया) तथा रोडेशिया (जिंबाबुवे) इस संगठन से बाहर हैं।

सम्पूर्ण अफ्रीका मे राजनीतिक जागरण उत्पन्न तथा संगठित करने में अफ्रीकी एकता संगठन (ओ० ए० यू०, आर्गेनाइजेशन ऑफ अफ्रीकन यूनिटी) का बड़ा योगदान है। इसी दर्रे पर फ्रांस ने फ्रेंचभाषी अफ्रीकी देशों का संगठन बनाया था ओकाम (आर्गेनाइजेशन फॉर कैरिबियन, अफ्रीका, मालागासी, मॉरिशस) पर यह संगठन अफ्रीकी एकता संगठन जैसी राजनीतिक स्थिति नहीं बना पाया। हाँ, इससे अफ्रीका को आर्थिक लाभ अवश्य हुआ।

इस सगठन के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य हैं :—

(१) अफ्रीकी एकता तथा अखण्डता में वृद्धि,

(२) राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, स्वास्थ्य-सम्बन्धी, वैज्ञानिक तथा प्रतिरक्षात्मक नीतियों में सामंजस्य,

(३) अफ्रीकी देशों से उपनिवेशवाद का उन्मूलन, तथा

(४) सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता तथा स्वाधीनता की सुरक्षा।

अफ्रीका एकता संगठन के चार्टर के अनुसार इसके प्रधान अंग निम्न हैं :—

(१) राज्यों और सरकारों के अध्यक्षों की सभा (Assembly of Heads of State and Government) जिसकी बैठक वर्ष में एक बार होती है।

(२) मंत्रि-परिषद् (Council of Ministers) जिसका गठन परराष्ट्र-मंत्रियों द्वारा होता है तथा जिसकी बैठक वर्ष में दो बार होती है,

(३) महासचिव के अधीन एक सचिवालय, तथा

(४) मध्यस्थता, संराधन तथा पंच-निर्णय आयोग (Commission of Mediation, Conciliation, and Arbitration)।

१९६४ में अफ्रीकी एकता संगठन के सदस्य-राज्यों की संख्या ३४ थी जबकि नवम्बर १९६६ में सदस्य-राज्यों की संख्या ३८ हो गयी थी।

अफ्रीकी एकता संगठन की सभा (असेम्बली) तथा परिषद् (कौंसिल) के प्रस्तावों में आये हुए मुख्य राजनीतिक विषय उपनिवेशवाद, दक्षिण अफ्रीका की

जातीय पार्थक्य (apartheid) तथा रंगभेद नीति, अफ्रीका, रोडेशिया तथा कांगो में पुर्तगाली प्रदेशों का भविष्य, संयुक्त राष्ट्रसंघ में अफ्रीकी प्रतिनिधित्व तथा अफ्रीकी एकता संगठन का राजनीतिक विकास रहे हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि अफ्रीका को अधिक संगठित बनाने में अफ्रीकी नेताओं से अधिक योगदान सालाजार, वोस्टर और इयान स्मिथ का है। इनके अत्याचार, आतंक और अमानवीय व्यवहार यदि नहीं होते, तो शायद अफ्रीकी राज्य इतने शीघ्र संगठित नहीं होते और न ही अफ्रीकी एकता संगठन की बुनियाद पड़ी होती।

आज सारा विश्व अपने क्षेत्रीय हितों की रक्षा के लिये एकताबद्ध हो रहा है। "यूरोपीय आर्थिक समुदाय" एक तरह से यूरोपीय देशों का संसद है। लैटिन अमरीका के देश भी संगठित हो रहे हैं। आज अफ्रीका एकता संगठन की एक-जुट शक्ति के सहारे अफ्रीका अपनी 'सम्पूर्ण-मुक्ति' के लिये संघर्षरत है। नामिबिया (दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका) में इसका संघर्ष चल रहा है तथा जिंबाबुवे (रोडेशिया का अफ्रीकी नाम) तथा अंजानिया (दक्षिण अफ्रीका का अफ्रीकी नाम) में भी इसकी लड़ाई मुक्ति के द्वार को दस्तक दे रही है। अफ्रीका की भूमि से पुर्तगाल के उपनिवेश का सफाया हो चुका है। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियाँ अफ्रीका की बढ़ती एकता के कारण घबड़ा गयी हैं। अफ्रीकी एकता संगठन की बढ़ती शक्ति का सबसे बड़ा प्रतीक यह है कि इसे अपनी लड़ाई में सफलता प्राप्त हुई है। मोजांबिक और अंगोला में इसने अपनी शक्ति का परिचय दिया है।

अफ्रीकी एकता संगठन ने कुछ सीमा-विवादों का समाधान करने में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। सबसे बड़ी तथा महत्वपूर्ण सफलता है सम्पूर्ण अफ्रीका की मुक्ति। गत डेढ़ दशक में अफ्रीका ने अपनी सरजमीन से उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंका है। आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। 'अंध महाद्वीप के काले जानवर' मनुष्य बनकर विश्व-जीवन को प्रभावित कर रहे हैं। संसार का कोई भी देश या महाद्वीप इतने थोड़े समय में इतनी गति से जाग्रत नहीं हुआ है।

(७) यूरोपीय समुदाय
(European Communities)

पश्चिमी यूरोप के छः देशों—फ्रांस, बेल्जियम, इटली, पश्चिमी जर्मनी, लक्जेमबर्ग और नीदरलैण्ड्स ने अपने देशों की प्रगतिशील आर्थिक अखण्डता कायम करने के

देखिये, धर्मयुग में प्रकाशित लेख, अफ्रीकी एकता संगठन का ऐतिहासिक महत्व पृ० ८-९.

उद्देश्य से तीन समुदायों की स्थापना की है तथा उन्हें अपनी वृहत्तर राजनीतिक एकता का साधन बनाया है। ये तीन समुदाय हैं:—

(अ) यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय (ECSC),

(ब) यूरोपीय आर्थिक समुदाय (EEC); तथा

(स) यूरोपीय आणविक शक्ति समुदाय (Euratom)।

१९६७ को इन तीन समुदायों की कार्यपालिकाओं तथा परिषदों का विलयन एक आयोग में कर दिया गया। समुदाय की सन्धियों का कार्यान्वयन इसी आयोग दायित्व है। समुदाय के अन्तर्गत यूरोपीय पार्लियामेन्ट एवं न्यायाधिकरण हैं। यूरोपीय समुदाय के आयोग का कार्यालय ब्रुसेल्स में है। यूरोपीय पार्लियामेन्ट तथा न्यायाधिकरण के कार्यालय लक्जेमबर्ग में स्थित हैं।

(अ) यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय
(European Coal and Steel Community)

फ्रांस, बेल्जियम, इटली, पश्चिमी जर्मनी, लक्जेमबर्ग और नीदरलैण्ड्स के प्रतिनिधियों द्वारा पेरिस में हस्ताक्षरित संधि-पत्र के अनुसार १० अगस्त, १९५२ को 'यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय' अर्थात् ECSC की स्थापना की गयी। यह समुदाय १९५० में फ्रांस के परराष्ट्र-मंत्री शूमां द्वारा प्रस्तुत की गयी योजना पर आधारित है। इसलिये इसे 'शूमां योजना' (Schuman Plan) भी कहा जाता है जिसके अन्तर्गत फ्रांस तथा जर्मनी के कुल कोयले तथा इस्पात के उत्पादनों को सम्रहीत कर पश्चिमी यूरोप के देशों के लिये सुलभ करना था। इसके द्वारा पश्चिमी यूरोपीय देशों के बीच कोयले तथा इस्पात के उद्योग में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा को दूर कर एकता लाने का प्रयास किया है। १९६७ में यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय की संधियों के कार्यान्वयन का दायित्व यूरोपीय आयोग को सौंप दिया गया। सदस्य-राज्यों के लिये कोयले और इस्पात का एक साझा बाजार स्थापित किया गया है तथा भेदपूर्ण नीति का बहिष्कार कर उक्त वस्तुओं पर लगने वाले कई व्यावसायिक कर एवं प्रशुल्क उठा दिये गये हैं।

यूरोपीय कोयला तथा इस्पात समुदाय में प्रवेश प्राप्त करने के लिये ग्रेटब्रिटेन ने भी १९६१ में अपनी इच्छा प्रकट की थी किन्तु फ्रांस की अस्वीकृति के कारण ग्रेटब्रिटेन को इसकी सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना की दृष्टि से इस समुदाय की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि इसने फ्रांस और जर्मनी की शत्रुता को समाप्त कर उनकी अर्थव्यवस्था का एकीकरण कर दिया है। इस समुदाय ने यूरोप के आर्थिक एकीकरण में विशेष भाग लिया है तथा इस्पात के उत्पादन में उल्लेखनीय प्रगति की है।

(व) यूरोपीय आर्थिक समुदाय
(European Economic Community)

यूरोपीय समुदाय के अन्तर्गत पश्चिमी यूरोप के छः देशों—फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स तथा लक्जेमबर्ग ने २५ मार्च, १९५७ को रोम में एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसके फलस्वरूप १ जनवरी, १९५८ को यूरोपीय आर्थिक समुदाय (European Economic Community) अर्थात् EEC की नींव पड़ी। इस समुदाय का दूसरा नाम 'यूरोपीय साझा बाजार' (European Common Market) अर्थात् ECM भी है। यूरोपीय साझा बाजार के अन्तर्गत निम्न व्यवस्थायें की गयी हैं :—

१. आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों और करों की समाप्ति करना,

२. समान सीमा-शुल्क, प्रशुल्क और व्यापार-नीति को स्वीकार करना,

३. व्यक्ति, सेवा और पूँजी के निर्बाध संचरण के प्रतिबन्धों को हटाना,

४. समुदाय के आर्थिक विकास के लिये यूरोपीय निवेश निधि (investment fund) का निर्माण करना,

५. यूरोप की राजनीतिक एकता को चरम लक्ष्य बनाना,

६. गैर-सदस्य देशों के साथ एक समान तटकर-नीति तथा व्यापार-नीति का अनुसरण करना, तथा

७. कृषि एवं परिवहन की समान नीति का अनुसरण करना।

कोयला और इस्पात के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का एक साझा बाजार कायम करना, आर्थिक ऐक्य स्थापित करना, व्यावसायिक नीति का एकीकरण आदि इस समुदाय का उद्देश्य है।

यूरोपीय साझा बाजार से पश्चिमी यूरोप के देशों की आर्थिक और राजनीतिक एकता में स्थिरता आयी है। सामान्य आर्थिक प्रयास के क्षेत्रों में इसने राजनीतिक तथा आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता को कम कर दिया है। इस क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति, व्यापार तथा प्रतिव्यक्ति आय में पर्याप्त वृद्धि हुई है। समुदाय के देशों द्वारा १२-१५ वर्षों की अवधि में सीमा-शुल्क-सम्बन्धी पूर्ण एकता की उपलब्धि कर लेने का लक्ष्य था, जो कुछ वर्ष पूर्व ही प्राप्त कर लिया गया एवं १ जुलाई, १९६८ से इन देशों के आपसी व्यापार में सीमा-शुल्क उठा लिया गया तथा समुदाय-क्षेत्र के देशों में श्रमिकों का निर्बाध गमनागमन प्रारम्भ किया गया।

यूरोपीय साझा बाजार की सफलता तथा उपलब्धियों को देखकर ग्रेटब्रिटेन १९६१ से ही इसकी सदस्यता के लिये प्रयत्नशील था किन्तु मुख्यतः फ्रांस के विरोध के कारण वह १९७१ तक इसका सदस्य नहीं बन सका। इसी तरह सदस्यता के आकांक्षी डेनमार्क, नॉरवे, स्वीडन, स्विट्ज़रलैण्ड, आयरलैण्ड, स्पेन तथा पुर्तगाल के आवेदन-पत्र भी अस्वीकृत हुए। लगभग डेढ़ वर्षों की वार्ता तथा अथक परिश्रम के पश्चात् ग्रेटब्रिटेन, आयरलैण्ड तथा डेनमार्क के प्रधान मन्त्रियों ने २२ जनवरी, १९७२ को ब्रुसेल्स में साझा बाजार संधि पर हस्ताक्षर कर इस समुदाय की पूर्ण सदस्या प्राप्त की। इन तीन नये सदस्य-राज्यों की सदस्यता १ जनवरी, १९७३ से लागू हुई।

१९७० के आँकड़ों के अनुसार यूरोपीय साझा बाजार के हाथों में विश्व व्यापार का ४१ प्रतिशत आ जायेगा जबकि अमरीका के हाथों में १४ प्रतिशत, सोवियत रूस के हाथों में ४ प्रतिशत और जापान के हाथों मे ६.५ प्रतिशत व्यापार है। साझा बाजार द्वारा १३ करोड़, ९० लाख टन इस्पात का वार्षिक उत्पादन हो सकेगा, जबकि संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा १२ करोड़, २० लाख टन और सोवियत रूस द्वारा ११ करोड़, ६० लाख टन का उत्पादन किया जा रहा है। समुदाय प्रतिवर्ष सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका के संयुक्त उत्पादन से अधिक ९६ लाख, ७० हजार मोटरकार का उत्पादन करेगा। साझा बाजार का संयुक्त व्यापारिक जहाजी बेड़ा विश्व का सबसे बड़ा जहाजी बेड़ा होगा। साझा बाजार के देशों की जनसंख्या २५ करोड़, ७० लाख होगी जिसका विश्व में तीसरा स्थान होगा।

(स) यूरोपीय आणविक शक्ति-समुदाय
(European Atomic Energy Committee)

यूरोपीय समुदाय के छः देशों—फ्रांस, बेल्जियम, इटली, पश्चिमी जर्मनी, नीदरलैण्ड्स तथा लक्जेमबर्ग द्वारा २५ मार्च, १९५७ को रोम में हस्ताक्षरित संधि-पत्र के अनुसार १ जनवरी, १९५८ को यूरोपीय आणविक शक्ति-समुदाय' अर्थात् Euratom की नींव पड़ी। यह संस्था अणुशक्ति के विकास एवं इसके शान्तिपूर्ण उपयोग के सम्बन्ध में कार्य करती है। सदस्य-देशों में पाये जाने वाले यूरेनियम, थोरियम या प्लुटोनियम आदि आणविक खनिजों पर समुदाय का प्राथमिक अधिकार प्राप्त है और वही बिना किसी भेदभाव के इनका वितरण अणुशक्ति-प्रतिष्ठानों के बीच करता है। समुदाय की ओर से सरकारी तथा गैर-सरकारी क्षेत्रों में आणविक उद्योगों की स्थापना, विकास तथा अनुसंधान-कार्य को प्रोत्साहित किया जाता है। इसे संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, ग्रेटब्रिटेन, ब्राज़िल और अर्जेंटाइना का किसी न किसी रूप में सहयोग प्राप्त है।

(८) यूरोप की परिषद्
(Council of Europe)

'यूरोप की परिषद्' की स्थापना ५ मई, १९४९ को हुई। वर्तमान समय में निम्नलिखित देश इसके सदस्य हैं :—

(१) यूनाइटेड किंगडम (ब्रिटेन), (२) फ्रांस, (३) बेल्जियम, (४) नीदरलैण्ड्स, (५) लक्जेमबर्ग, (६) आस्ट्रिया, (७) साइप्रस, (८) डेनमार्क, (९) ग्रीस (यूनान), (१०) आइसलैण्ड, (११) आयरलैण्ड, (१२) इटली, (१३) पश्चिमी जर्मनी, (१४) नॉरवे, (१५) स्वीडन, (१६) स्विट्जरलैण्ड तथा (१७) टर्की एवं एक सहायक सदस्य—सार (the Saar) ।

यूरोप की परिषद् का उद्देश्य अपने सामान्य आदर्शों तथा सिद्धान्तों की सुरक्षा के निमित्त सदस्यों के बीच अधिक से अधिक एकता कायम करना तथा आर्थिक, सामाजिक, शैक्षिक और वैज्ञानिक प्रगति को प्रोत्साहन देना है।

यूरोप की परिषद् का कार्यालय स्ट्रासबर्ग (Strasbourg), फ्रांस में है। इसके तीन अंग हैं :—

(१) **कमिटी ऑफ मिनिस्टर्स** (Committee of Ministers) :—इसका गठन सदस्य-राज्यों के परराष्ट्र-मंत्रियों द्वारा होता है। इसका कार्य सदस्य-राज्यों की सरकारों को संस्तुतियाँ करना तथा उन्हें ऐसी संस्तुतियों पर की गयी कार्रवाई के सम्बन्ध में प्रतिवेदन देने के लिये अनुरोध करना है। अनुच्छेद १५ द्वारा इसके कार्यों पर प्रकाश डाला गया है :—

"On the recommendation of the Consultative Assembly or on its own initiative, (the Commitee) shall consider the action required to further the aim of the Council of Europe, including the conclusion of conventions or agreements and the adoption by governments of a common policy with regard to particulars matters". आन्तरिक संगठन तथा महत्त्वपूर्ण मामले में कमिटी को परामर्शदात्री सभा (कन्सल्टेटिव असेम्बली) की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्राप्त हैं।

(२) **परामर्शदात्री सभा** (Consultative Assembly) :—अनुच्छेद २२ द्वारा परामर्शदात्री सभा को "यूरोप की परिषद् का विचारात्मक सदन" ("The deliberative organ of the Council of Europe") घोषित किया गया है। इसका कार्य अपने अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर वाद-विवाद करना तथा अपने निष्कर्षों को संस्तुतियों के रूप में कमिटी ऑफ मिनिस्टर्स को प्रस्तुत करना है। अनुच्छेद २३ के अनुसार परामर्शदात्री सभा की कार्यसूची कमिटी ऑफ मिनिस्टर्स द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। पाल हेनरी

स्पाक (Paul Henri Spaak) १९४९ में इसके प्रथम सभापति निर्वाचित किये गये थे। सभापति के रूप में वे १९५० तथा १९५१ में पुनः निर्वाचित किये गये। सभा में एक स्थायी समिति तथा सामान्य मामलों, आर्थिक, कानूनी तथा प्रशासनिक विषयों सम्बन्धी समितियाँ हैं।

(३) सचिवालय (Secretariat):—अनुच्छेद ३६ तथा अनुच्छेद ३७ द्वारा महासचिव एवं उप-महासचिव की व्यवस्था है जिनकी नियुक्ति कमिटी ऑफ मिनिस्टर्स की संस्तुति पर परामर्शदात्री सभा द्वारा होता है। इसके प्रथम महासचिव जैकस-कैमिल पेरिस (Jacques-Camille Paris) थे।

राष्ट्रीय सुरक्षा-सम्बन्धी विषयों को छोड़कर यह परिषद् यूरोप से सम्बन्धित सभी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि प्रश्नों पर विचार करती है। इस परिषद् की स्थापना से एक बड़ा लाभ यह हुआ है कि इसने प्रारम्भ से ही यूरोपीय राजनीति को प्रभावित किया है। यूरोप की किसी भी सरकार ने अपनी राष्ट्रीय एवं परराष्ट्र-नीतियों के निर्माण में परामर्शदात्री सभा के प्रस्तावों की अवहेलना नहीं की है। यूरोप की परिषद् एक ऐसा मंच है जहाँ यूरोप के राजनेता यूरोपीय एकता के नारे लगाते हैं। यही कारण है कि इसे "यूरोप का घर" (House of Europe) कहा गया है।

(९) रिओ संधि
(Rio Pact)

२ सितम्बर, १९४७ को रायो डि जेनेरो (Rio de Janeiro) में डोमिनिकन गणतंत्र, गुआटेमाला, कोस्टा-रीका, पेरू, पनामा, एल-सालवेडर, पारागुए, वेनेजुएला, चिली, होण्डुरास, क्यूबा, बोलीविया, कोलम्बिया, मैक्सिको, हैटी, इक्वेडर, उरूगुए, अर्जेण्टाइना, ब्राजिल और संयुक्त राज्य अमरीका ने एक संधि-पत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे रिओ संधि (रिओ पैक्ट) कहते हैं। इस संधि का दूसरा नाम "अन्तर-अमरीकी पारस्परिक सहायता संधि" (Inter-American Treaty of Reciprocal Assistance) है। इस संधि ने पश्चिमी गोलार्द्ध में सशस्त्र आक्रमण होने पर या शांति भंग होने की दशा में न केवल सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की है बल्कि इसने १९४८ की ब्रुसेल्स संधि तथा १९४९ की उत्तर-अटलाण्टिक संधि (नाटो) की स्थापना को भी प्रभावित किया है।[1]

1. रायो डि जेनेरो में रिओ पैक्ट के निर्माण हेतु जो सम्मेलन हुआ था, उसे "महाद्वीपीय शान्ति और सुरक्षा की रक्षा हेतु अन्तर-अमरीकी सम्मेलन" (Inter-American Conference for the Maintenance of Continental Peace and Security) कहा जाता है।

इस संधि का केन्द्र-बिन्दु अनुच्छेद ३ है जो ब्रुसेल्स संधि के अनुच्छेद ४ तथा उत्तर-अटलाण्टिक संधि के अनुच्छेद ५ से साम्य रखता है। इसमें कहा गया है :— "सन्धिकर्ता पक्ष यह सहमति प्रकट करते हैं कि किसी राज्य द्वारा एक अमरीकी राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण सभी अमरीकी राज्यों के विरुद्ध आक्रमण समझा जायेगा तथा फलस्वरूप, सन्धिकर्ता पक्षों में से प्रत्येक संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५१ द्वारा स्वीकृत व्यक्तिगत या सामूहिक आत्म-रक्षा के अन्तर्निहित अधिकार के प्रयोग में आक्रमण का मुकाबला करने में सहयोग देने का वचन देता है" ("The High Contracting Parties agree that an armed attack by any State against an American State shall be considered as an attack against all American States and, consequently, each one of the said Contracting Parties undertakes to *assist* in meeting the attack in the exercise of the interent right of individual or collective self-defence-recognised by Article 51 of the Charter of the United Nation".)।

आक्रमण होने की स्थिति में या शान्ति भंग की दशा में किस प्रकार की कार्यवाई की जाय, इसका निर्णय अमरीकी गणराज्यों के विदेश-मंत्रियों की बैठक (Meeting of Ministers of Foreign Affairs of the American Republics) में दो तिहाई बहुमत से होगा तथा कार्यवाई की जायेगी। इस संधि के अनुच्छेद ७ द्वारा अन्तर-अमरीकी विवादों के लिये सामूहिक निपटारे की व्यवस्था की गयी है।

रिओ संधि में न केवल संयुक्त राज्य अमरीका तथा लैटिन अमरीकी राज्य आते हैं बल्कि एल्यूशियन द्वीपसमूह (Aleutians), ग्रीनलैण्ड, उत्तरी ध्रुव (आर्कटीक) तथा दक्षिणी ध्रुव (अण्टार्कटिक) प्रदेश भी आते हैं। क्यूबा को १९६२ में इस संधि से निकाल दिया गया।[1]

(१०) अमरीकी राज्यों का संगठन

(Organisation of American States)

अमरीकी राज्यों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन १८९० में वाशिंगटन में हुआ था जिसमें *अमरीकी गणराज्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय संघ कायम किया गया।* इसका उद्देश्य पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों के बीच पारस्परिक सद्भावना तथा सहयोग स्थापित करना था। सच तो यह है कि द्वितीय महायुद्ध के कारण अमरीकी राज्यों के बीच अपूर्व सहयोग तथा एकता की भावना पनप उठी। उन्होंने सामान्य सुरक्षा,

1 **It is worth noting that Canada is not a party to this treaty.**

आवश्यक वस्तुओं के विनिमय तथा वित्तीय और सांस्कृतिक सहयोग के निमित्त व्यवस्थायें की। १९४५ में मैक्सिको नगर में "युद्ध और शांति की समस्याओं पर अन्तर-अमरीकी सम्मेलन" (The Inter-American Conference on Problems of War and Peace) आयोजित हुआ जो न केवल १९४७ की रिओ संधि बल्कि "अमरीकी राज्यों के संगठन का चार्टर" (Charter of the Organisation of American States) के निर्माण की आधारशिला बनी।

मार्च-अप्रैल १९४८ को बोगोटा (कोलम्बिया) में हुए अमरीकी राज्यों के नवें अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन (बोगोटा सम्मेलन) में "अमरीकी राज्यों के संगठन का अधिकार-पत्र (चार्टर)" स्वीकृत किया गया। अमरीकी राज्यों के संगठन का चार्टर १८ अध्यायों में बँटा हुआ है तथा इसमें ११२ अनुच्छेद पाये जाते हैं। अनुच्छेद १ में विशेष रूप से उल्लेख है कि, "अमरीकी राज्यों का संगठन संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत एक प्रादेशिक अभिकरण है" ("The Organisation of American States is a regional agency within the United Nations.")।

वर्तमान समय में समानता के आधार पर अमरीकी गणराज्यों में अर्जेण्टाइना, बरबाडोज, बोलीविया, ब्राजिल, चिली, कोलम्बिया, कोस्टा-रीका, क्यूबा, जमैका, डोमिनिकन गणतंत्र, इक्वेडर, एल-सालवेडर, गुवाटेमाला, हैटी, होण्डुरास, मैक्सिको, निकारागुआ, पनामा, पाराग्वे, पेरू, ट्रीनीडाड और टोबैगो, संयुक्त राज्य अमरीका, उरूगुए और वेनेजुएला इस संगठन में शामिल हैं। इस संगठन का उद्देश्य है :—

(१) सदस्य-राज्यों के बीच शान्ति और न्याय की उपलब्धि,
(२) विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा,
(३) आक्रमण की स्थिति में सामूहिक कार्रवाई,
(४) सदस्य-राज्यों के बीच एकता एवं सहयोग की अभिवृद्धि, तथा
(५) सदस्य-राज्यों की प्रभुसत्ता, क्षेत्रीय अखण्डता तथा स्वाधीनता की सुरक्षा।

अमरीकी राज्यों का संगठन अर्थात् OAS का कार्य इसके विभिन्न अंगों के द्वारा सम्पादित किये जाते हैं। ये अंग हैं :

(१) अन्तर-अमरीकी सम्मेलन (Inter-American Conference) :— इसकी बैठक पाँच वर्षों में एक बार होती है तथा यह इस संगठन का "सर्वोच्च अंग" (the Supreme organ) है।

(२) परिषद् (Council) :—परिषद् (कौंसिल) OAS की स्थायी कार्यपालिका अंग तथा समन्वयी अभिकरण है। इसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य का एक-एक प्रतिनिधि होता है। यह अखिल अमरीकी संघ (Pan American

Union) के कार्यों की देख-रेख करती है तथा इसके प्रत्यक्ष नियंत्रण में कई अंग होते हैं :—

(अ) अन्तर-अमरीकी आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Inter-American Economic and Social Council),

(ब) अन्तर-अमरीकी विधिवेत्ताओं की परिषद् (Inter-American Council of Jurists), एवं

(स) अन्तर-अमरीकी सांस्कृतिक परिषद् (Inter-American Cultural Council) ।

(३) **परराष्ट्र-मंत्रियों की परामर्श-बैठक** (Meeting of Consultation of Ministers of Foreign Affairs) :—परराष्ट्र-मंत्रियों की बैठक सशस्त्र आक्रमण की स्थिति में तथा इसी प्रकार के अन्य आवश्यक एवं गम्भीर विषय पर विचार करने के लिये बुलायी जाती है। प्रतिरक्षा-सम्बन्धी विषयों पर इसे परामर्श देने के लिये चार्टर द्वारा एक 'सलाहकारी प्रतिरक्षा समिति' (Advisory Defence Committee) की व्यवस्था की गयी है।

(४) **अखिल अमरीकी संघ** (Pan American Union) :—यह OAS का केन्द्रीय स्थायी अंग तथा सामान्य सचिवालय है। OAS का महासचिव (सेक्रेटरी-जेनरल) अखिल अमरीकी संघ (PAU) का निदेशक होता है जिसका चयन अन्तर-अमरीकी सम्मेलन द्वारा १० वर्ष की अवधि के लिये होता है। उसके पुनर्निर्वाचन की व्यवस्था नहीं है।

OAS संयुक्त राष्ट्रसंघ के क्षेत्रीय अभिकरण के रूप में कार्य करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की बनावट या संगठन-सम्बन्धी कई विशेषतायें OAS में पायी जाती हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की तरह ही कई विशिष्ट संस्थायें इसमें मिली हुई हैं, यथा अखिल अमरीकी स्वास्थ्य संगठन (Pan American Health Organisation), अखिल अमरीकी कृषिविज्ञान संस्था (Pan American Institute of Agricultural Sciences), अखिल अमरीकी भूगोल तथा इतिहास संस्था (Pan American Institute of Geography and History) तथा अखिल अमरीकी दूर-संचार कार्यालय (Pan American Telecommunications Office) ।

OAS एक प्रभावशाली संस्था है जिसने [illegible] राज्यों के बीच [illegible] राजनीतिक विवादों को निपटाने में [illegible] की भूमिका निभायी है। उदाहरणार्थ इस अभिकरण का [illegible] १९४८ से [illegible] १९६६ के [illegible] अवसरों पर किया जा चुका है। [illegible] विवाद (१९५ [illegible]

कैरीबियन संकट (१९५०), पुनः कोस्टा-रीका-निकारागुआ विवाद (१९५५), होण्डुरास-निकारागुआ विवाद (१९५७), डोमिनिकन गणतंत्र-वेनेजुएला विवाद (१९६०) को निबटाने में इसे महत्वपूर्ण सफलतायें मिली हैं। इसी प्रकार, हैटी-डोमिनिकन गणतंत्र विवाद (१९६३) तथा पनामा संकट (१९६४) को सुलझाने में OAS ने प्रभावशाली कार्रवाई की।

१९५९ में साम्यवादी विचारधारा के समर्थक फिडल कास्ट्रो (Fidel Castro) के नेतृत्व में विद्रोहियों ने क्यूबा की तत्कालीन सरकार को अपदस्थ कर दिया। १९६० में फिडेल कास्ट्रो के प्रधानमंत्री बनने के बाद संयुक्त राज्य अमरीका और क्यूबा का आपसी सम्बन्ध बिगड़ गया। फलतः ३१ जनवरी, १९६२ को क्यूबा को उसका शासन अन्तर-अमरीकी पद्धति से भिन्न होने के कारण OAS के परराष्ट्र-मंत्रियों द्वारा इस संगठन की बैठकों में भाग लेने से निष्कासित कर दिया गया।

जब वेनेजुएला सरकार ने क्यूबा पर आक्रमण तथा अपने आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का दोषारोपण किया तो OAS की परिषद् ने दिसम्बर, १९६३ को एक जाँच आयोग की नियुक्त की तथा इस आयोग के प्रतिवेदन (रिपोर्ट) पर विचार करने के बाद अन्ततः २६ जुलाई, १९६४ को OAS ने क्यूबा के विरुद्ध अतिरिक्त राजनयिक तथा आर्थिक अनुशास्तियाँ लागू करने का निर्णय किया।

(११) एन्जुस संधि

(Anzus Pact)

यद्यपि १९४९ में संयुक्त राज्य अमरीका इस पक्ष में नहीं था कि 'नाटो' के समान ही प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र की सुरक्षा के लिये किसी सैन्य संगठन की स्थापना की जाये तथापि १९५० के कोरिया युद्ध के बाद तथा आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड द्वारा बल दिये जाने पर प्रशान्त क्षेत्र की महत्ता तथा सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी। इस समय तक संयुक्त राज्य अमरीका ने 'नाटो' अथवा रिओ जैसी सैनिक संधियों का निर्माण किया था जो मुख्यतः यूरोप तथा पश्चिमी गोलार्द्ध (Western Hemisphere) तक सीमित थी। १९५१ में सानफ्रांसिस्को में संयुक्त राज्य अमरीका तथा जापान के बीच एक शांति-संधि पर हस्ताक्षर किये गये तथा संयुक्त राज्य अमरीका और जापान के बीच एक सुरक्षा संधि भी की गयी जिसके फलस्वरूप जापान का पुनःशस्त्रीकरण कर लिया गया। जापान के पुनः-शस्त्रीकरण से प्रशान्त महासागर के देशों में भय एवं आतंक की भावना आयी। इस कारण आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड ने संयुक्त राज्य अमरीका से सुरक्षा तथा शान्ति का आश्वासन प्राप्त करना चाहा। इसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमैन ने आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैण्ड के साथ एक त्रिपक्षीय संधि (tripartite treaty)

करने का सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप १९५१ में सानफ्रासिस्को में उस संधि पर हस्ताक्षर हुए। संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड के बीच हुई यह त्रिपक्षीय संधि एन्जुस (ANZUS) संधि के नाम से प्रसिद्ध है। यह संधि अनिश्चित अवधि के लिये है।

एन्जुस संधि में यह व्यवस्था है कि संधि के उद्देश्यों को अधिक प्रभावपूर्ण ढंग से प्राप्त करने के लिये सन्धिकर्ता पक्ष, निरन्तर आत्मनिर्भरता एवं पारस्परिक सहायता द्वारा अलग-अलग व संयुक्त रूप से, सशस्त्र आक्रमण का मुकाबला करने के लिये अपनी व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्षमता का विकास करेंगे। इसके अतिरिक्त, जब कभी भी किसी पक्ष के मत में प्रशान्त क्षेत्र में अथवा किसी भी पक्ष की प्रादेशिक एकता, राजनीतिक स्वतंत्रता अथवा सुरक्षा के लिये संकट उत्पन्न हो जाय तो वे पारस्परिक रूप से विचार-विमर्श करेंगे।

(१२) ब्रुसेल्स संधि संगठन तथा पश्चिमी यूरोपीय संघ

(Brussels Treaty Organisation and Western European Union)

१७ मार्च, १९४८ को ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, नीदरलैण्ड्स, बेल्जियम और लक्जेमबर्ग के परराष्ट्र-मंत्रियों ने ब्रुसेल्स (बेल्जियम) में एकत्र होकर आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विषयों में एक साथ काम करने तथा सामूहिक आत्मरक्षा के लिये एक पचासवर्षीय संधिपत्र पर हस्ताक्षर किये जिसे "ब्रुसेल्स संधि" या "ब्रूटो" (BRUTO) कहते हैं। ब्रुसेल्स संधि विधिवत् २५ अगस्त, १९४८ से कार्य करने लगा। इस संधि का केन्द्रीय बिन्दु अनुच्छेद ४ है जिसमें कहा गया है :—"यदि सन्धिकर्ता पक्षों में से किसी एक पक्ष पर भी यूरोप में सशस्त्र आक्रमण हो, तो शेष सभी पक्ष संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद ५१ की व्यवस्थाओं के अनुसार आक्रान्त पक्ष को यथाशक्ति सभी सैनिक एवं अन्य सहायता तथा सहयोग प्रदान करेंगे" ("If anyone of the...parties should be the object of an armed attack in Europe, the other...parties will, in accordance with the *provisions of* Article 51 of the Charter of the United Nations, afford the party so attacked all military and other aid and assistance in their power")।

ब्रुसेल्स संधि संगठन के आर्थिक कार्यों को OEEC ने अपने हाथ में ले लिया तथा इसके सैन्य कार्यों को नाटो को प्रदान कर दिया गया, तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जायेगी, लेकिन 'यूरोपीय प्रतिरक्षा समुदाय' (European Defence Community) के भंग हो जाने के बाद यह आवश्यक हो गया कि ब्रुसेल्स संधि संगठन का पुनर्निर्माण किया जाय।

पश्चिमी जर्मनी तथा इटली को इसमें शामिल कर लिया गया तथा इस प्रकार इस विस्तारित संगठन का नया नाम 'पश्चिमी यूरोपीय संघ' (Western European Union) अर्थात् WEU कर दिया गया है। इस संघ का विधिवत् उद्घाटन ६ मई, १९५५ को किया गया। संघ की परिषद् (कौंसिल) में उक्त सात राष्ट्रों के परराष्ट्र-मंत्री या उनके प्रतिनिधि रहते हैं। युद्ध-उपकरणों के नियन्त्रण के लिये इसका एक अभिकरण (Armaments Control Agency) तथा स्थायी युद्ध-उपकरण समिति (Standing Armaments Committee) है। १ जून, १९६० को इसके सामाजिक तथा सांस्कृतिक कार्य यूरोप की परिषद् को सुपुर्द किये गये। WEU का न केवल नाटो से घनिष्ट सम्बन्ध है बल्कि यूरोप की परिषद् से भी जिसकी परामर्शदात्री सभा WEU की सभा के रूप में भी काम करती है।

(१३) आर्थिक सहयोग और विकास संगठन
(Organisation for Economic Co-operation and Development)

द्वितीय महायुद्ध के बाद यूरोपीय राष्ट्रों की बिगड़ी हुई आर्थिक स्थिति में सुधार लाने तथा 'मार्शल योजना' (Marshall Plan) के अन्तर्गत अमरीकी सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से १६ अप्रैल, १९४८ को 'यूरोपीय आर्थिक सहयोग संगठन' (Organisation for European Economic Co-operation) अर्थात् OEEC का निर्माण किया गया था।[1] चौदह वर्षों के बाद ३० सितम्बर, १९६१ को उसको विधिवत् समाप्त कर दिया गया तथा उसका स्थान 'आर्थिक सहयोग और विकास संगठन' (Organisation for Economic Co-operation and Development) अर्थात् OECD ने ले लिया है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा इसके पूर्ण सदस्य बनाये गये तथा इस संस्था का कार्यक्षेत्र विस्तृत किया गया। वर्तमान समय में निम्नलिखित देश इसके सदस्य हैं :—

(१) आस्ट्रिया, (२) कनाडा, (३) फ्रांस, (४) ग्रीस (यूनान), (५) आयरलैण्ड, (६) जापान, (७) नीदरलैण्ड्स, (८) पुर्तगाल, (९) स्पेन, (१०) स्विट्जरलैण्ड, (११) ग्रेटब्रिटेन, (१२) बेल्जियम, (१३) डेनमार्क, (१४) टर्की, (१५) संयुक्तराज्य अमरीका, (१६) पश्चिमी जर्मनी, (१७) आइसलैण्ड, (१८) इटली, (१९) लक्जेमबर्ग, (२०) नॉरवे, (२१) फिनलैण्ड, (२२) स्वीडन।

आर्थिक सहयोग और विकास संगठन के मुख्यतः तीन कार्य हैं :—

1. 'मार्शल योजना' आधिकारिक रूप से दिसम्बर, १९५१ में समाप्त हो गयी।

(१) सदस्य-राज्यों में उच्चतम आर्थिक संवर्धन तथा रोजगार की प्राप्ति एवं जीवन-स्तर का उत्थान करना;

(२) सदस्य-राज्यों तथा अन्य देशों में आर्थिक विकास की गति में स्वस्थ आर्थिक विस्तार में सहयोग देना; तथा

(३) विश्व व्यापार के विस्तार के लिये कार्य करना।

इस संगठन के कार्य संचालन के लिये एक परिषद् (OECD Council) होती है जिसमें सभी सदस्य-राज्यों का प्रतिनिधित्व होता है। दो मुख्य समितियाँ यथा विकास सहायता समिति तथा व्यापार समिति भी हैं और महासचिव के अधीन एक सचिवालय होता है। इसका मुख्यालय पेरिस (फ्रांस) में है।



२२

निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण

(Disarmament and Arms Control)

निरस्त्रीकरण का अर्थ

निरस्त्रीकरण एक लोकप्रिय शब्द है, किन्तु साथ-साथ यह भ्रामक भी है। यथार्थ में, सरकारें अपने को कभी निरस्त्र नहीं करती हैं और न उनसे अपने को निरस्त्र करने की अपेक्षा ही की जा सकती है। उन्हें सदैव दुश्मन से अपनी सीमाओं की सुरक्षा के लिए कुछ सशस्त्र बल की आवश्यकता होती है। यद्यपि संयुक्त राज्य अमरीका, तथा सोवियत संघ १९६१ में "सामान्य तथा पूर्ण" निरस्त्रीकरण के लिए सहमत हो गये थे, तथापि उन्होंने स्पष्ट कर दिया था कि राज्यों को सशस्त्र बल रखने की स्वतंत्रता होनी चाहिए, ताकि वे अपने नागरिकों की वैयक्तिक सुरक्षा तथा आन्तरिक व्यवस्था को बनाये रख सकें। सहज बुद्धि यह संकेत करती है कि निरस्त्रीकरण का अभिप्राय शस्त्रों के उन्मूलन से नहीं, अपितु शस्त्रों की कटौती से होना चाहिए। प्रो० मारगेनथाऊ के अनुसार, "निरस्त्रीकरण शस्त्रों की दौड़ को समाप्त करने के लिए कुछ अथवा समस्त शस्त्रों में कटौती अथवा बहिष्करण है" ("Disarmament is the reduction or elimination of certain or all armaments for the purpose of ending the armaments race")।

निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण (Arms Control) में कुछ आधारभूत भिन्नतायें हैं। प्रो० मारगेनथाऊ ने निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि निरस्त्रीकरण का अभिप्राय शस्त्रों में कटौती अथवा बहिष्करण से होता है, जबकि शस्त्र-नियंत्रण सैनिक स्थायित्व की स्थिति उत्पन्न करने के लिए शस्त्रों के विनियमन से सम्बन्धित होता है। निरस्त्रीकरण का अभिप्राय युद्ध-सचालन के सभी शस्त्रों तथा सेनाओं को अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों द्वारा घटाना है, जबकि शस्त्र-नियंत्रण में वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते अथवा उपाय आ जाते हैं, जिनसे स्वीकृत शस्त्रों के प्रयोग को नियंत्रित किया जाता है तथा राज्यों द्वारा स्वीकृत निषिद्ध शस्त्रों के प्रयोग अथवा विकास पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। शस्त्र-नियंत्रण शस्त्रों की कटौती पर उतना बल नहीं देता जितना इस बात का कि किन विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग किया जाय तथा किन विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग न किया जाय। इस दृष्टि से शस्त्र-नियंत्रण एक अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण संस्था की अनिवार्यता को स्वीकार करता है, जो समस्त राज्यों की गतिविधियों का निरीक्षण करने में

सक्षम हो कि उनके द्वारा निषिद्ध शस्त्रों का उत्पादन अथवा प्रयोग तो नहीं हो रहा है। शीतयुद्ध के सन्दर्भ में इस निरीक्षण का विशेष महत्त्व है। सच तो यह है कि हमें 'निरस्त्रीकरण', 'पूर्ण निरस्त्रीकरण', 'आंशिक निरस्त्रीकरण' तथा 'शस्त्र-नियंत्रण' के विवाद में नहीं पड़ना चाहिए। मूल बात यह है कि विश्व पूर्ण निरस्त्रीकरण नहीं, अपितु शस्त्रों के दुरुपयोग पर नियंत्रण चाहता है, ताकि भावी युद्धों की सम्भावना न रहे।

निरस्त्रीकरण की अवधारणा ने उन व्यक्तियों के चिन्तन में एक महत्त्वपूर्ण तथा स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है, जो विश्वशान्ति के लिए सदैव चिन्तित रहते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपनी "चार स्वाधीनताओं" (Four Freedoms) में चतुर्थ स्वाधीनता को परिभाषित करते हुए इस अवधारणा को इस प्रकार स्पष्ट किया है, "........ऐसी सीमा तक तथा ऐसी सम्यक् रीति से शस्त्रों की विश्वव्यापी कटौती कि कोई भी राष्ट्र विश्व में कहीं भी किसी पड़ोसी राष्ट्र के विरुद्ध शारीरिक आक्रमण करने की स्थिति में न हो" (".............. a world-wide reduction of armaments to such a point and in such a through fashion that no nation will be in a position to commit an act of physical aggression against any neighbour—anywhere in the world.")।

निरस्त्रीकरण के भेद (प्रो० मारगेनथाऊ के अनुसार)[1]

(१) **सामान्य तथा स्थानीय निरस्त्रीकरण**—सामान्य निरस्त्रीकरण से अभिप्राय ऐसे निरस्त्रीकरण से है जिसमें सभी राष्ट्र भाग लेते हैं। उदाहरण के लिए, सभी प्रमुख नौसैनिक शक्तियों द्वारा हस्ताक्षरित Washington Treaty for the Limitation of Naval Armaments (१९२२) तथा World Disarmament-Conference (१९३२)। स्थानीय निरस्त्रीकरण में भाग लेने वाले राष्ट्रों की संख्या सीमित होती है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा कनाडा के मध्य हस्ताक्षरित Rush-Bagot Agreement (१८१७) स्थानीय निरस्त्रीकरण का एक विशेष उदाहरण है।

(२) **परिमाणात्मक तथा गुणात्मक निरस्त्रीकरण**—परिमाणात्मक निरस्त्रीकरण का उद्देश्य सभी प्रकार के शस्त्रों में कटौती करना होता है। गुणात्मक निरस्त्रीकरण का उद्देश्य कुछ विशिष्ट प्रकार के शस्त्रों को कम करना अथवा समाप्त करना होता है।[1]

निरस्त्रीकरण की आवश्यकता

निरस्त्रीकरण को निम्नलिखित कारणों से आवश्यक ठहराया गया है :—

1. Morgenthau, *Politics Among Nations*, p. 375.

(१) धन की बचत के लिए—निरस्त्रीकरण धन की बचत के लिए आवश्यक है, अथवा अधिक उचित रीति से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक दृष्टि से अधिक वाञ्छनीय उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सम्पत्ति का प्रयोग करना निरस्त्रीकरण प्रस्तावों का एक सामान्य कारण है। दूसरे शब्दों में, राष्ट्रीय सम्पत्ति का उपयोग अधिक रचनात्मक उद्देश्यों के लिए किया जाना चाहिए। सरकारी बजट से परिचित कोई भी व्यक्ति यह अनुभव कर सकता है कि राष्ट्रीय व्यय का एक बहुत बड़ा अंश प्रतिरक्षा को समर्पित कर दिया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका का प्रतिरक्षा विभाग सरकार के सम्पूर्ण व्यय का लगभग आधा अंश खर्च करता है। ब्रिटेन, इण्डोनेशिया, इजरायल, बेल्जियम, संयुक्त अरब गणराज्य, जोर्डन, भारत आदि देशों में प्रतिरक्षा पर काफी धन खर्च किया जाता है। इस प्रकार, सशस्त्र सेनाओं को सम्पोषित करने का भार निश्चित रूप से अधिकांश राज्यों के लिए कठिन होता है तथा शस्त्रों पर होने वाले व्यय अधिकतर अनुत्पादक होते हैं। विविध देशों में सशस्त्र सेनाओं के लिए भरती किये गए लाखों व्यक्ति वस्तुओं का उत्पादन नहीं करते हैं जिनसे स्वयं उनका जीवन अथवा शेष जनता का जीवन अधिक अच्छा बन सके। रणपोतों तथा विमानवाहकों के निर्माण पर खर्च होने वाली सम्पत्ति स्कूलों तथा अस्पतालों के निर्माण पर खर्च नहीं की जा सकती। विज्ञान तथा युद्ध की कला को समर्पित प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति लोगों के सामाजिक तथा सांस्कृतिक कल्याण का विकास नहीं कर सकते। एक तरफ सम्पूर्ण विश्व में लाखों व्यक्तियों के लिए भोजन, वस्त्र, घर, शिक्षा तथा औषधि की समस्यायें बनी हुई हैं, तो दूसरी तरफ लाखों व्यक्ति जीवन और सम्पत्ति का विनाश करने वाले साधनों के विकास में लगे हुए हैं। अतएव निरस्त्रीकरण की माँग न्यायसंगत है।

(२) तनावों तथा युद्ध के संकट को कम करने के लिए—अन्तर्राष्ट्रीय तनावों तथा युद्ध की आशंका को कम करने की इच्छा निरस्त्रीकरण प्रस्तावों का दूसरा प्रमुख कारण है। यह इच्छा निस्सन्देह व्यय को कम करने की इच्छा की तरह ही न्यायसंगत है। शस्त्रीकरण की दौड़ अन्तर्राष्ट्रीय तनाव, भय तथा असुरक्षा की भावना को जन्म देती है तथा अन्ततोगत्वा युद्ध का कारण बनती है। जैसे-जैसे अधिक देशों को अणु-अस्त्र प्राप्त होते जायेंगे, त्यों-त्यों युद्ध की आशंका भी बढ़ती जाएगी। अतएव शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समझौते भय, असुरक्षा तथा युद्ध की आशंका को कुछ सीमा तक अवश्य कम कर सकते हैं। विश्व के दो शक्तिशाली राष्ट्रों—संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण से सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों के निष्पादन में अपना महत्वपूर्ण योगदान कर सकते हैं।

(३) स्वास्थ्य से सम्बद्ध खतरों को कम करने के लिए—यह हम जानते हैं कि अणु-परीक्षण स्वास्थ्य के लिए खतरे उत्पन्न करते हैं। अतएव अणु-परीक्षणों से उत्पन्न सम्भावित खतरों को कम करने के लिए निरस्त्रीकरण अत्यावश्यक है। अणु-परीक्षण निषेध सन्धि (test ban treaty) भी अंशतः स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले सम्भावित खतरों को कम करने की इच्छा के कारण घटित हुई। वायुमण्डलीय परीक्षणों ने रेडियो-धर्मिता की मात्रा में वृद्धि की जिससे स्वदेश तथा विदेश के लोग प्रभावित हुए। अणु-परीक्षणों को समाप्त करने के लिए, जो व्यापक आन्दोलन चला, वह शान्ति की अपेक्षा युद्ध में अणु-अस्त्रों के प्रयोग के परिणामों के भय पर आधारित था।

(४) युद्ध की विनाशिता को कम करने के लिए—निरस्त्रीकरण की आवश्यकता का एक महत्वपूर्ण कारण युद्ध की विनाशिता को कम करना है। विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा स्वीकृत युद्ध के संचालन का विनियमन करने वाले नियम इस सामान्य उद्देश्य को मान्यता प्रदान करते हैं। शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण से सम्बद्ध कुछ प्रस्तावों का उद्देश्य तनावों को कम करने अथवा युद्ध को रोकने तक ही सीमित नहीं है, बल्कि युद्ध के घटित होने पर विपत्ति और विनाश को कम करना है। कुछ राज्यों ने उन समझौतों का अनुसमर्थन किया है, जिनमें युद्ध के समय में कुछ निश्चित प्रकार के शस्त्रों के प्रयोग को प्रतिषिद्ध ठहराया गया है, चाहे वे रासायनिक शस्त्र हों अथवा जीवाण्विक आयुद्ध तथा अणु-अस्त्रों को समाप्त करने एवं गैरकानूनी घोषित करने का भी सुझाव दिया गया है।

(५) तनावशैथिल्य की इच्छा को प्रकट करने के लिए—एक राज्य शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण के क्षेत्र में अपने व्यवहार द्वारा तनावशैथिल्य (*detente*) की इच्छा प्रकट कर सकता है। अणु-परीक्षण निषेध सन्धि की व्याख्या कुछ इसी प्रकार की गई है। इस सन्धि को स्वीकार करते समय संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ—दोनों ही देशों ने तनाव में कमी तथा समायोजन के लिए इच्छा प्रकट की थी। इस प्रकार, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण प्रस्तावों तथा समझौतों का सांकेतिक अभिप्राय होता है।

(६) निरस्त्रीकरण जनमत की आकांक्षाओं से संगत है—निरस्त्रीकरण प्रस्तावों का अन्तिम सामान्य कारण जनमत से सम्बन्धित है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि विश्व की जनता निरस्त्रीकरण का समर्थन करती है। अतएव यह विश्वास किया जाता है कि स्वदेश तथा विदेश के लोग निरस्त्रीकरण का

समर्थन करने वाली सरकार को अपना सहयोग एवं समर्थन प्रदान करते रहेंगे तथा उस सरकार को अपनी सहानुभूति एवं सहयोग देने से अस्वीकार कर देंगे जो निरस्त्रीकरण को बाधित करती है।

निरस्त्रीकरण के मार्ग में बाधायें

(१) शस्त्रों की आवश्यकता है—शस्त्र उपयोगी कार्य करते हैं तथा अनेक महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति में उनका योगदान होता है। राज्य शस्त्रों पर निर्भर करते हैं तथा वे उनका परित्याग करने के लिए, अथवा उन पर भारी प्रतिबन्धों को स्वीकार करने के लिये उस समय तक तत्पर नहीं हो सकते, जब तक कि उन कार्यों तथा उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वैकल्पिक साधनों की स्थापना न कर दी जाय। अधिकांश राज्य विश्वास करते हैं कि उन्हें अपने अधिकारों तथा हितों की सुरक्षा के लिए शस्त्र आवश्यक हैं। इतिहास की घटनाओं को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि कुछ राज्य आक्रामक उद्देश्यों के लिए शस्त्रों के उत्पादन में विश्वास करते हैं।

(२) अविश्वास—निरस्त्रीकरण, शस्त्र-नियंत्रण तथा एक दूसरे पर आक्रमण न करना सद्भावना, विश्वास तथा सौहार्द के वातावरण में ही सम्भव है। यदि राष्ट्रों को एक-दूसरे पर विश्वास हो तो शस्त्र तथा हिंसा की आवश्यकता ही न पड़े। सोवियत गुट तथा अमरीकी गुट में एक-दूसरे के प्रति भारी अविश्वास, तनाव और प्रतिस्पर्द्धा है। वस्तुतः शस्त्रों की होड़ ने ही कई राजनीतिक विवादों को बढ़ावा दिया है। अविश्वास के कारण राज्य निरस्त्रीकरण की दिशा में ठोस कदम नहीं उठाते हैं। इस प्रकार अविश्वास निरस्त्रीकरण के मार्ग में महत्वपूर्ण बाधा है।

(३) भय—निरस्त्रीकरण के मार्ग में एक और बाधा है—राष्ट्रों में व्याप्त भय की भावना। लेकिन दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जिस बड़े पैमाने पर और सफलतापूर्वक हथियारों में कमी की गयी, उससे प्रेरणा लेकर इस भय पर विजय प्राप्त करना कठिन नहीं होना चाहिए। यह विश्वास किया जाता है कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय समझौते द्वारा निरस्त्रीकरण हो भी जाय, तो यह भय सदैव बना रहेगा कि दूसरा राष्ट्र उसका पालन कर रहा है, करेगा भी अथवा धोखा देगा।

(४) सशस्त्र सेनाओं के अनुपात पर समझौते की समस्या—निरस्त्रीकरण के मार्ग में एक मौलिक बाधा सशस्त्र सेनाओं के अनुपात (ratios) से सम्बद्ध समझौते की समस्या से जुड़ी हुई है। किस आधार पर इस अनुपात को निर्धारित किया जाय? किस मापदण्ड के द्वारा यह सुनिश्चित किया जाय कि अमुक राज्य को सशस्त्र बल की पन्द्रह टुकड़ियों की आवश्यकता है, अमुक राज्य को बारह टुकड़ियों की तथा अमुक राज्य को केवल दो टुकड़ियों की आवश्यकता है? वास्तव

में, इन दोनों प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर देना कुछ कठिन है। इस सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि निरस्त्रीकरण के पश्चात् यह नहीं होना चाहिए कि आज का शक्तिशाली राष्ट्र पूर्णतया दुर्बल बन जाय तथा एक दुर्बल राष्ट्र अपेक्षाकृत शक्तिशाली बन जाय। जब तक राज्य अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सैनिक शक्ति को ही अन्तिम शक्ति मानकर पूजा करते रहेंगे, तब तक वे वर्तमान शक्ति-संतुलन में भारी हेर-फेर स्वीकार नहीं करेंगे। प्रत्येक शक्तिशाली राज्य निरस्त्रीकरण प्रस्ताव के द्वारा अपनी शक्ति पर कोई आँच नहीं आने देना चाहता तथा दूसरे राज्यों की शक्ति को दुर्बल कर देना चाहता है। अतएव निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव प्रायः एकपक्षीय होते हैं।

(५) अनुपात से सम्बद्ध समझौते को कार्यान्वित करने की समस्या—यदि राज्यों में शक्ति के अनुपात को लेकर समझौता हो जाय, तो भी समझौते के मार्ग में बाधायें उत्पन्न होंगी। इसका कारण यह है कि शक्ति का परिकलन करने के लिए कोई प्रामाणिक मापदण्ड नहीं है। कुछ राज्यों के पास ताप-नाभिकीय बम है, तो कुछ राज्यों के पास नहीं। कुछ राज्यों के पास राकेट है तो कुछ राज्यों के पास नहीं। कुछ नौसैनिक शक्तियाँ पनडुब्बियों की दृष्टि से सशक्त होती हैं तो कुछ रणपोतों की दृष्टि से। इसके अतिरिक्त, सशस्त्र सेनायें ही राष्ट्रीय शक्ति के एकमात्र तत्व नहीं होते हैं तथा एक बार शस्त्रों में कटौती कर दी जाय, तो शक्ति के दूसरे तत्व अनुपात में अधिक प्रभावशाली बन जाते हैं।

(६) संकीर्ण राष्ट्रीयता तथा अनियंत्रित प्रभुसत्ता—निरस्त्रीकरण के मार्ग में संकीर्ण राष्ट्रीयता तथा अनियंत्रित प्रभुसत्ता दो प्रमुख बाधायें हैं। संकीर्ण राष्ट्रीयता के कारण राष्ट्र सबसे पहले अपने हितों की ओर ध्यान देते हैं और उसके बाद वे अन्तर्राष्ट्रीय हितों के विषय में सोचते हैं। अनियंत्रित प्रभुसत्ता के कारण राज्य अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत बाह्य अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण को स्वीकार नहीं करते हैं। कोई राष्ट्र आक्रमण की तैयारी तो नहीं कर रहा है, इसकी जाँच-पड़ताल के लिए अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण संस्था के अधिकारियों को आवागमन की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। परन्तु राज्य इस कदम के लिए उद्यत नहीं हैं। ऐसी स्थिति में अन्तर्राष्ट्रीय योजनाओं का उल्लंघन करने पर अनुशास्ति लगाना, निरस्त्रीकरण सन्धि पर उठने वाले विवादों को सुलझाना तथा आवश्यकता पड़ने पर सन्धि का अतिक्रमण करने वाले राज्य को दण्डित करना और उचित अवसर पर शक्ति का प्रयोग करना आदि कई महत्वपूर्ण प्रश्नों का कोई समाधान नहीं दिखाई देता।

(७) प्राथमिकता की समस्या—निरस्त्रीकरण पहले कर लिया जाय या परस्पर राजनीतिक विवादों को पहले सुलझा लिया जाय—विश्व के समक्ष एक जटिल समस्या उपस्थित है। निरस्त्रीकरण हो जाय तो अनेक रा

विवादों का निपटारा अपने-आप हो जायगा और राजनीतिक विवादों का निपटा हो जाय तो निरस्त्रीकरण करना सरल और सम्भव बन जायगा। वस्तुतः दोनों ह कथनों में काफी वजन है। परन्तु यदि हम इस धारणा में विश्वास करते हैं कि शस्त्रों की होड़ से तनाव, भय तथा युद्ध का श्रीगणेश होता है तो निस्सन्देह हमें निरस्त्रीकरण कार्यक्रमों को प्राथमिकता देनी चाहिए।

(८) **मनोवैज्ञानिक कारण**—यह कहा जा सकता है कि विश्व मनोवैज्ञानिक रूप से भी निरस्त्रीकरण के लिए तत्पर नहीं है। राष्ट्र उस समय तक शस्त्रों का परित्याग करने के लिए उत्सुक नहीं हो सकते, जब तक कि उन्हें यह विश्वास न हो जाय कि शस्त्रों का परित्याग कर देने के बाद भी उनकी सुरक्षा पर आँच नहीं आयेगी। यद्यपि आज सम्पूर्ण विश्वजनमत निरस्त्रीकरण के पक्ष में है, तथापि निरस्त्रीकरण कार्यक्रमों को वांछित सफलता नहीं मिल पा रही है; क्योंकि इसका कारण प्राविधिक न होकर मनोवैज्ञानिक अधिक है। जब तक विश्व के राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए शस्त्रों पर निर्भर रहेंगे, तब तक निरस्त्रीकरण की आशा करना निरर्थक है।

(९) **उद्योगों की समाप्ति तथा बेकारी का भय**—संयुक्त राज्य अमरीका और ग्रेटब्रिटेन आदि पूँजीवादी देशों में शस्त्रों का उत्पादन करने वाली कम्पनियों के स्वामी तथा साझेदार राजनीति में सक्रिय भाग लेते हैं और निरस्त्रीकरण कार्यक्रमों को सफल नहीं होने देते, क्योंकि निरस्त्रीकरण हो जाने से उनका व्यवसाय समाप्त हो जायेगा। यदि निरस्त्रीकरण के कारण शस्त्र-उद्योग बन्द हो गए, तो पूँजीवादी देशों को बेकारी की समस्या का सामना करना पड़ेगा। शस्त्र-उद्योगों की समाप्ति तथा बेकारी की समस्या के कारण अभाव तथा तीव्र राजनीतिक मतभेद की स्थिति उत्पन्न हो जायेगी, जिससे पूँजीवादी व्यवस्था की शीघ्र समाप्ति होकर साम्यवादी शक्तियों की विजय की सम्भावना बढ़ जायेगी। अतएव देश की अर्थ-व्यवस्था को बनाये रखने के लिए शस्त्र-उद्योग चालू रहते हैं।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा निरस्त्रीकरण उपलब्धियाँ

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में यह स्वीकार किया गया है कि शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए शस्त्रों का विनियमन एक महत्वपूर्ण तत्व है। चार्टर के अनुच्छेद ११ में यह व्यवस्था की गई है कि, "महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है, जिनमें निरस्त्रीकरण तथा शस्त्रों के विनियमन के सिद्धान्त शामिल होंगे।" अनुच्छेद २६ के अनुसार, सुरक्षा परिषद् "सैनिक स्टाफ समिति" की सहायता से शस्त्रों के विनियमन की प्रणाली की स्थापना के लिए योजनायें बनाने के लिए उत्तरदायी है तथा अनुच्छेद ४७ में "सैनिक स्टाफ समिति" (Military Staff Committee) की स्थापना

का प्रावधान है, जो शस्त्रों के विनियमन तथा निरस्त्रीकरण के समस्त प्रश्नों पर सुरक्षा परिषद् को परामर्श तथा सहायता दे सके।

यदि चार्टर के प्रावधानों पर ध्यान दिया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि चार्टर के निर्माताओं ने शान्ति और सुरक्षा की प्राप्ति के लिए निरस्त्रीकरण को प्रधान साधन न मानकर एक गौण साधन माना था। अतएव चार्टर ने शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण के क्षेत्रों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों तथा उत्तरदायित्वों पर बल नहीं दिया गया है। इसे स्पष्ट करते हुए प्रो० क्लाउड (Inis L. Claude) ने ठीक ही लिखा है कि, "चार्टर के प्रावधानों की व्याख्या सौम्य स्वीकरण के रूप में की जा सकती है कि निरस्त्रीकरण विशेष रूप से प्रमुख शक्तियों के मध्य समझौते पर आधारित है तथा ऐसे समझौते लाने में अन्तर्राष्ट्रीय अभिकरणों की सम्भाव्य भूमिका सुनिश्चित रूप से सीमित है" ("The Charter's provisions may be interpreted as a sober recognition of the facts that disarmament is peculiarly dependent upon agreement among the major powers, and that the potential role of international agencies in bringing about such accord is sharply limited".)।[2]

परमाणविक ऊर्जा आयोग

१९४५ से लेकर अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से निरस्त्रीकरण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है। २४ जनवरी, १९४६ को अपने प्रथम अधिवेशन में महासभा ने "परमाणविक ऊर्जा आयोग" (Atomic Energy Commission) की स्थापना की। परमाणविक ऊर्जा आयोग में सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों के एक-एक प्रतिनिधि के अतिरिक्त कनाडा का भी एक प्रतिनिधि शामिल किया गया था। यह आयोग अपने कार्यों के लिए सुरक्षा परिषद् के प्रति उत्तरदायी था। इस आयोग की प्रथम बैठक १४ जून, १९४६ को न्यूयार्क में हुई थी जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका के प्रतिनिधि बरनार्ड बरूच (Bernard Baruch) तथा सोवियत संघ के प्रतिनिधि ग्रोमिको (Andrei Gromyko) ने परमाणविक ऊर्जा के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के सम्बन्ध में अपने-अपने प्रस्ताव रखे। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीः—

(१) एक अन्तर्राष्ट्रीय परमाणविक विकास सत्ता (International Atomic Development Authority) की स्थापना की जाय, जो कच्चे माल से लेकर परमाणविक ऊर्जा के विकास तथा प्रयोग के सभी पहलुओं पर नियंत्रण रखे,

2 Inis L. Claude, "The United Nations and the Use of Force," *International Conciliation* (November, 1961), p 332.

(२) अन्तर्राष्ट्रीय परमाणविक विकास सत्ता को शीघ्र तथा प्रभावी कार्रवाई करने के लिए शक्ति प्राप्त होनी चाहिए, ताकि वह इस बात को सुनिश्चित कर सके कि परमाणविक ऊर्जा का प्रयोग केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए हो, तथा

(३) यदि परमाणविक समझौते के अतिक्रमण होने पर किसी राज्य को दण्ड दिया जाय, तो निषेधाधिकार का प्रयोग कर इस कार्रवाई को बाधित नहीं किया जाना चाहिए।

सोवियत संघ द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव की बातें अमरीकी प्रस्ताव से भिन्न थीं। सोवियत संघ का सुझाव था कि :—

(१) एक प्रभावी अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण प्रणाली की स्थापना की प्रतीक्षा किये बिना ही परमाणविक शस्त्रों के उत्पादन तथा प्रयोग को केवल निषिद्ध घोषित कर दिया जाय, बल्कि ऐसे शस्त्रों के वर्तमान भण्डार को शीघ्र नष्ट भी कर दिया जाय, तथा

(२) सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य-राज्यों की सहमति के बिना किसी राज्य के विरुद्ध प्रवर्तन कार्रवाई न की जाय।

ये दोनों प्रस्ताव सयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के मध्य मौलिक मतभेद प्रदर्शित करते हैं। वस्तुतः इन मतभेदों ने ही उस समय से लेकर वर्तमान समय तक निरस्त्रीकरण वार्ताओं मे गतिरोध उत्पन्न किया है। १९४८ में महासभा ने अपने तीसरे अधिवेशन मे परमाणविक ऊर्जा के अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण को व्यवहार्य तथा प्रभावी बनाने के लिए परमाणविक ऊर्जा आयोग की योजना को संयुक्त राष्ट्रसघ की योजना का नाम दिया।

रूढ आयुद्ध आयोग

परमाणविक ऊर्जा आयोग की स्थापना के कुछ माह पश्चात् सोवियत संघ के परराष्ट्र-मंत्री मोलोतोव (V. M. Molotov) ने अक्तूबर, १९४६ मे सयुक्त राष्ट्र महासभा में एक प्रस्ताव रखा, जिसमें विश्व के सभी राष्ट्रों से शस्त्रों में कटौती करने तथा सैनिक उद्देश्यों के लिए परमाणविक ऊर्जा के उत्पादन तथा प्रयोग को निषिद्ध घोषित करेगे का अनुरोध किया गया था। १४ दिसम्बर, १९४६ को महासभा ने सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें परमाणविक ऊर्जा आयोग को अपने कार्य को आगे बढ़ाने तथा सुरक्षा परिषद् को शस्त्रों मे कटौती तथा विनियमन के निमित्त व्यावहारिक कदम उठाने की संस्तुति की गई थी। अतएव महासभा के आदेश के अनुसार, फरवरी, १९४७ में सुरक्षा परिषद् ने "रूढ आयुद्ध आयोग" (Commission for Conventional Armaments) की स्थापना की, जिसमें सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्य शामिल थे। इस नये आयोग को आदेश

दिया गया था कि वह केवल "रूढ़" (Conventional) आयुद्धों के विनियमन तथा कटौती के लिए ही सुरक्षा परिषद् को सुझाव दे। परमाणविक शस्त्रों तथा जन-विनाश के दूसरे शस्त्रों के नियंत्रण की योजनाओं पर विचार करना इसके कार्यक्षेत्र में नहीं आता था, क्योंकि ये सब परमाणविक ऊर्जा आयोग के अधिकार-क्षेत्र में शामिल थे।

निरस्त्रीकरण आयोग

६ जून, १९५० को संयुक्त राष्ट्र महासचिव ट्रिग्वे ली ने निश्चयपूर्वक कहा था कि शस्त्रों के नियंत्रण की दिशा में सभी प्रयास पूर्णतः असफल रहे हैं, परन्तु उन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों से आगे प्रयास जारी रखने का आह्वान किया। अक्टूबर, १९५० को संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने महासभा को सम्बोधित करते हुए सुझाव दिया था कि परमाणविक ऊर्जा आयोग तथा रूढ़ आयुद्ध आयोग का विलय कर दिया जाना चाहिए। सोवियत गुट के विरोध के होते हुए भी महासभा ने ११ जनवरी, १९५२ को परमाणविक ऊर्जा आयोग तथा रूढ़ आयुद्ध आयोग का विलय कर सुरक्षा परिषद् के अधीन एक नये आयोग की स्थापना की जिसे "निरस्त्रीकरण आयोग" (Disarmament Commission) का नाम दिया गया। वस्तुतः "निरस्त्रीकरण आयोग" ही शस्त्र-नियंत्रण तथा निरस्त्रीकरण वार्ताओं का मुख्य नाट्यशाला रहा है तथा जिसकी कई अवसरों पर बहुत उपेक्षा भी की गई है। २८ जून, १९५२ को संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने "निरस्त्रीकरण आयोग" में प्रस्ताव रखा था कि चीन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका के सैन्यदल का कोटा, १,५००,००० , फ्रांस के सैन्यदल का कोटा ८००,००० तथा ब्रिटेन के सैन्यदल का कोटा ७००,००० हो तथा जहाँ तक सम्भव हो, सभी राष्ट्रों की सेनायें बहुत छोटी हो। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

२८ नवम्बर, १९५३ को महासभा ने "निरस्त्रीकरण आयोग की पंचसदस्य उपसमिति" (Subcommitee of Five) की स्थापना की, जिसमें चीन, फ्रांस, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका सदस्य के रूप में शामिल हुए। निरस्त्रीकरण के कार्य में प्रगति के लिए १३ मई से २२ जून, १९५४ तक उपसमिति ने लन्दन में उन्नीस गोपनीय बैठकें कीं। इस उपसमिति ने अनेक प्रस्तावों पर विचार किया, किन्तु यह कोई ऐसा हल नहीं निकाल सकी [illegible] राष्ट्रों के लिए स्वीकार्य हो। वास्तव में, लन्दन के वार्तालापों तथा [illegible] आयोग के विचार-विमर्शों से यह स्पष्ट हो गया था कि निरस्त्रीकरण [illegible] सोवियत संघ तथा पश्चिमी [illegible] राष्ट्रों में आधारभूत [illegible]

जेनेवा सम्मेलन (१९५५) तथा "मुक्त आकाश" योजना

जुलाई, १९५५ में जेनेवा शिखर सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा फ्रांस ने भाग लिया। शिखर सम्मेलन में निरस्त्रीकरण से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया गया तथा सोवियत संघ सहित सभी पश्चिमी शक्तियों ने भिन्न-भिन्न सुझाव रखे। इस सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहावर (Eisenhower) ने "मुक्त आकाश" (open skies) की योजना रखी। इस योजना के अनुसार यह सुझाव दिया गया था कि सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका अविलम्ब अपनी सेना, शस्त्रागारों की संख्या, सैनिक सामग्री का उत्पादन करने वाले कारखानों तथा अन्य सैनिक प्रतिष्ठानों की पूर्ण जानकारी प्रदान करे तथा एक-दूसरे को हवाई सर्वेक्षण की सुविधायें दे। राष्ट्रपति आइजनहावर तथा सोवियत प्रधानमंत्री बुल्गानिन (Bulganin) के मध्य हुए पत्राचार ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनके विचारों में समरूपता थी, किन्तु बाद में सोवियत संघ ने "मुक्त आकाश" की योजना को "गुप्तचर सेवाओं" के हित में अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप, जेनेवा शिखर सम्मेलन तथा उसके पश्चात् अक्टूबर, १९५५ में होने वाला इन चार राष्ट्रों के परराष्ट्र-मंत्रियों का सम्मेलन भी असफल हो गया।

सितम्बर, १९५७ में निरस्त्रीकरण आयोग की उपसमिति की अन्तिम बैठक हुई। सोवियत संघ ने घोषणा कर दी थी वह निरस्त्रीकरण आयोग अथवा उसकी उप-समिति की वार्ताओं में भाग नहीं लेगा। इसके विपरीत, सोवियत संघ ने एक ऐसे निरस्त्रीकरण आयोग की माँग की जिसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्यों से मिलकर हुई हो।

१९५८ से लेकर वर्तमान समय तक

१९५८ के प्रारम्भ से ही अणु-परीक्षणों के स्थगन तथा आकस्मिक आक्रमणों की रोकथाम के लिए निरस्त्रीकरण वार्तायें मुख्यतः संयुक्त राष्ट्रसंघ के बाहर जारी रखी गईं। १९६२ में अठारह राष्ट्रों से निर्मित एक सामान्य निरस्त्रीकरण सम्मेलन (ENDC) संयुक्त राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में आयोजित किया गया। फ्रांस ने प्रारम्भ में ही इसका बहिष्कार किया तथा समय-समय पर इसकी बैठकें हुई है, किन्तु उनका सन्तोषजनक हल नहीं निकल सका है।

यद्यपि १९६२ के सोवियत तथा अमरीकी प्रस्तावों ने सामान्य तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण को अंतिम उद्देश्य माना था तथा जिसको १९५९ में संयुक्त राष्ट्र महासभा ने विश्व की सर्वाधिक महत्वपूर्ण समस्या घोषित करके सर्वसम्मति से पारित

किया था, तथापि १९६५ तक सामान्य तथा पूर्ण निरस्त्रीकरण के विषय में कुछ नहीं सुना गया।

१९६६ मे महासभा ने निरस्त्रीकरण से सम्बन्धित अनेक प्रस्ताव पारित किए। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण "अणु-शस्त्रप्रसार निरोधक सन्धि" (nonproliferation treaty) से सम्बन्धित प्रस्ताव था। यद्यपि "अणु-शस्त्रप्रसार निरोधक सन्धि" के प्रारूप के विषय में सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका में समझौता हो गया था, तथापि अपरमाणवीय राज्यों ने इस समझौते को अवरुद्ध कर दिया। महासभा ने अपने प्रस्ताव के द्वारा "अठारह राष्ट्रों की निरस्त्रीकरण समिति" (ENDC) से अनुरोध किया कि वह इस विषय को उच्च प्राथमिकता दे तथा अपरमाणवीय का एक सम्मेलन बुलाया जाय। वस्तुतः १९६५ से महासभा विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन के पक्ष में रही है जिसमें साम्यवादी चीन का भी प्रतिनिधि शामिल हो। १९६७ में ६० देशों के प्रतिनिधियों ने एक सन्धि पर हस्ताक्षर किए जिसके अन्तर्गत बाह्य अन्तरिक्ष में जन-विनाश के घातक शस्त्रों के प्रयोग को अवैध घोषित किया गया।

निष्कर्ष

निरस्त्रीकरण की असफलताओं को देखते हुए कहा जा सकता है कि व्यापक और पूर्ण निरस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ने के लिये परमाणु अस्त्रों के फैलाव पर रोक लगाना अत्यन्त आवश्यक है और इस क्षेत्र में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व महाशक्तियों का है। यह खेद का विषय है कि आज भी बड़ी शक्तियाँ दूसरे छोटे देशों को हथियारों से लैस करती जा रही हैं। साल्वाडोर डी मदारयागा (Salvador de Madanaga) ने ठीक ही लिखा है, "निरस्त्रीकरण की समस्या निरस्त्रीकरण की समस्या नहीं है। यह वास्तव मे विश्व समुदाय के संगठन की समस्या है" ("The problem of disarmament is not the problem of disarmament. It really is the problem of the organisation of the World Community")।[1] इसी प्रकार, संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् द्वारा स्थापित "रूढ़ आयुद्ध आयोग" ने १९४८ में निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण निष्कर्ष दिया था कि, "A system of regulation and reduction of armaments and armed forces can only be put into effect in an atmosphere of international confidence and Security. Measures for the regulation and reduction of armaments which would follow the establishment of the necessary

1. Salvador de Madariaga, *Disarmament*, p. 56.

degree of confidence might in turn be expected to increase confidence and so justify further measures of regulation and reduction."

जब तक विश्व के लोग अथवा कम-से-कम बड़े राष्ट्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों को अपना समर्थन एवं सहयोग देने के लिए उत्सुक नहीं होते, तब तक निरस्त्रीकरण तथा शस्त्र-नियंत्रण के क्षेत्र में सफलता की अपेक्षा करना नितान्त निरर्थक है। पूर्ण निरस्त्रीकरण के बारे में दिनमान का निष्कर्ष है, "पूर्ण निरस्त्रीकरण हासिल करने के रास्ते में तकनीकी निरीक्षण करना कि हथियारों की कटौती पर अमल हो रहा है अथवा नहीं, लेकिन ये कठिनाइयाँ तकनीकी और सैनिक कम हैं राजनीतिक अधिक। परन्तु हमारे युग में जहाँ अस्पताल, रेलमार्ग, संचार साधन, सड़कें, विश्वविद्यालय आदि बनाने की आवश्यकता हथियारों के अंबार लगाने से कहीं अधिक है, इन तथाकथित राजनीतिक अड़चनों को मात्र बेहूदा और मूर्खतापूर्ण ही कहा जा सकता है।"[1]



1. दिनमान, २-८ मई, १९७६.

सामूहिक सुरक्षा तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ

(Collective Security and the United Nations)

नोट : "सामूहिक सुरक्षा" की प्रकृति, अर्थ एवं परिभाषा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत "सामूहिक सुरक्षा" देखिये।

(१) चार्टर में सामूहिक सुरक्षा-सम्बन्धी प्रावधान

यह स्मरण करने योग्य है कि प्रत्येक संगठित समुदाय तथा प्रत्येक राजनीतिक समाज सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त पर अवलम्बित होता है। किसी एक सदस्य पर किए गये आक्रमण के प्रति सम्पूर्ण समुदाय उदासीन नहीं रह सकता है। यदि किसी व्यक्ति के अधिकारों का अतिक्रमण किया जाता है अथवा उस पर ज्यादतियाँ होती हैं, तो यह सम्पूर्ण समाज के लिए चिन्ता का विषय माना जाता है। हत्या, चोरी तथा शारीरिक हमले न केवल एक व्यक्ति अथवा उसके परिवार तथा मित्रों से सम्बन्ध रखते हैं, अपितु सम्पूर्ण समाज के विषय समझे जाते हैं। इसका कारण यह है कि ये लोक-शान्ति को भंग करते हैं तथा इनसे सम्पूर्ण समुदाय प्रभावित होता है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत इस अवधारणा का अभिप्राय यह है कि सदस्य-राज्य शान्ति-भंग करने वाले राष्ट्र के विरुद्ध सम्मिलित कार्रवाई करेंगे। यदि व्यवहार में सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त को कार्यान्वित किया जाय, तो इसका अभिप्राय है—आक्रामक राज्य के लिए पराजय तथा उस राज्य के लिए सुरक्षा, जिस पर आक्रमण किया गया हो। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत विश्वशान्ति की स्थापना केवल सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के माध्यम से ही सम्भव है।

"सामूहिक सुरक्षा" (Collective Security) संयुक्त राष्ट्र चार्टर के एक प्रमुख उद्देश्य के रूप में परिलक्षित होता है। विश्व के लोग संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल्यांकन निश्चित रूप से युद्ध को रोकने में इसके योगदान के आधार पर करेंगे। यद्यपि राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की तरह संयुक्त राष्ट्र चार्टर में भी सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था की गई है, तथापि सामूहिक सुरक्षा से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रावधान राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अन्तर्गत स्थापित सामूहिक सुरक्षा के प्रावधानों से अधिक व्यापक तथा अधिक विस्तृत हैं। सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिए संयुक्त राष्ट्र चार्टर में प्रादेशिक संगठनों अथवा अभिकरणों की स्थापना का समर्थन किया गया है तथा सदस्य-राज्यों को ऐसे अभिकरणों के निर्माण की

अनुमति दी गई है। परन्तु राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अन्तर्गत इस प्रकार की कोई सुस्पष्ट व्यवस्था नहीं थी। उदाहरण के लिए, पश्चिमी यूरोप, अटलाण्टिक समुदाय तथा पश्चिमी गोलार्ध में सशक्त प्रादेशिक सुरक्षा अभिकरणों की स्थापना की गई है, जो चार्टर के उद्देश्यों से संगत तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के पूरक माने जाते हैं।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अनुच्छेद १ के अनुसार, शान्ति के खतरे को रोकने तथा दूर करने एवं आक्रमण की घटनाओं का दमन करने के लिए प्रभावी सामूहिक कार्यवाई करना संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक प्रमुख उद्देश्य है तथा चार्टर के अध्याय ७ में इस बात का विस्तृत उल्लेख है कि ये "प्रभावी सामूहिक कार्यवाईयाँ" (effective collective measures) क्या हैं। यदि सुरक्षा परिषद् यह अनुभव करती है कि शान्ति-भंग अथवा आक्रमण की घटना घटित हुई है तथा यदि सम्बन्धित पक्ष उसके निर्णयों का अनुपालन नहीं करते, तब वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों से अपराधी राज्य अथवा राज्यों के विरुद्ध गैरसैनिक तथा आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाई करने के लिए आदेश दे सकती है।

चार्टर के अनुच्छेद ४३ में कहा गया है कि, "संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य-राज्य.........अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने के निमित्त सुरक्षा परिषद् को उसके आह्वान पर अथवा एक विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार सशस्त्र सेनायें, सहायता तथा सुविधायें सुलभ करने का वचन देते हैं" ("All Members of the United Nations......undertake to make available to the Security Council, on its call or in accordance with a special agreement or agreements, armed forces, assistance, and facilities.........necessary for the purpose of maintaining international peace and Security.")। अनुच्छेद ४५ में प्रावधान है कि, "सदस्य-राज्य संयुक्त राष्ट्रसंघ को अत्यावश्यक सैनिक कार्यवाईयाँ करने में सक्षम बनाने के निमित्त सम्मिलित-अन्तर्राष्ट्रीय प्रवर्तन कार्यवाई के लिए राष्ट्रीय वायु-सेना की टुकड़ियों को तत्काल सुलभ करेंगे" ("In order to enable the United Nations to take urgent military measures Members shall hold immediately available national air-force contingents for combined international enforcement action.")। यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि महाशक्तियों के मध्य पारस्परिक मतभेद होने के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ को सशस्त्र सेना, सहायता तथा अन्य सुविधायें प्रदान करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई समझौता नहीं हो सका है।

चार्टर के अनुच्छेद ४७ में शस्त्रों के विनियमन, निरस्त्रीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को कायम रखने के लिए सुरक्षा परिषद् की सैनिक

आवश्यकताओं से सम्बद्ध विषयों पर परामर्श तथा सहायता देने के लिए "सैनिक स्टाफ समिति" की स्थापना का प्रावधान है। इस स्थान पर पुनः सुरक्षा तथा निरस्त्रीकरण की समस्यायें सम्बन्धित हैं। अनुच्छेद ४९ में कहा गया है कि, "संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य सुरक्षा परिषद् द्वारा निश्चित कार्रवाईयों को कार्यान्वित करने में परस्पर सहयोग प्रदान करेंगे" (The Members of the United Nations shall join in affording mutual assistance in carrying out the measures decided upon by the Security Council.")। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य चार्टर के प्रति अपनी निष्ठा प्रकट करते हुए सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानने तथा भरपूर समर्थन देने के लिए प्रतिबद्ध हैं।

१९५० में कोरिया-संकट के घटित होने तक आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई के निमित्त संयुक्त राष्ट्रसंघ की सम्भाव्य क्षमतायें अधिकतर अपरीक्षित थीं। अपने विशिष्ट स्वरूप के कारण प्रारम्भ से ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति लोगों की यह धारणा बनी रही कि चार्टर में आमूल परिवर्तनों के बिना यह सामूहिक सुरक्षा का प्रभावी साधन सिद्ध नहीं हो सकता है। इस बात की अपेक्षा करना नितान्त निरर्थक है कि "अपने सभी सदस्य-राज्यों के प्रभुसत्ताक समानता के सिद्धान्त पर आधारित" संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसा विश्वव्यापी संगठन, जिसमें महाशक्तियों को इस सीमा तक एक ऐसा विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया हो कि वे सुरक्षा परिषद् के किसी भी कार्रवाई को अपने निषेधाधिकार के प्रयोग के द्वारा विफल कर सकें, एक प्रभावी सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की कसौटी पर खरा उतरेगा। सामूहिक सुरक्षा के प्रभावी तथा अर्थपूर्ण होने के लिए आवश्यक है कि यह छोटे तथा बड़े सभी राज्यों पर लागू हो तथा सभी अथवा कम-से-कम अधिकांश बड़े राज्य इसका समर्थन करने में अपना भरपूर सहयोग प्रदान करें।

(२) कोरिया-संकट में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्रवाई

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा के परीक्षण का प्रथम अवसर जून, १९५० में उपस्थित हुआ, जबकि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया के द्वारा किए गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिए सैनिक कार्रवाई की। जून २५ तथा २७, १९५० के अपने प्रस्तावों के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा की गई प्रवर्तन कार्रवाई निस्सन्देह ऐतिहासिक है, क्योंकि यह पहला अवसर था, जबकि राष्ट्रों के संगठित समाज ने, सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के अनुसार, आक्रमण के विरुद्ध सशस्त्र सेना का प्रयोग किया। कोरिया एक प्रभावी सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के निर्माण की दिशा में संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों के लिए महान

प्रेरणा बन गया है। बेन्जामिन वी० कोहेन (Benjamin V. Cohen) के शब्दों में कहा जा सकता है कि कोरिया के मामले में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका एक प्रभावी सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था के उत्तरोत्तर विकास के श्रीगणेश का सूचक है।

जून २५ तथा २७ के प्रस्तावों एवं जुलाई, १९५० की अपनी संस्तुतियों में सुरक्षा परिषद् ने दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया के द्वारा किए गये आक्रमण का मुकाबला करने के लिए तुरन्त कार्यवाई की। सुरक्षा परिषद् ने पाया कि आक्रमण की घटना हुई थी तथा इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों से कोरिया में सैनिक तथा अन्य सहायता भेजने का आह्वान किया। सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति से संयुक्त राष्ट्र सेना (United Nations Forces) के लिए एक सर्वोच्च सेनापति (कमाण्डर) नियुक्त करने का अनुरोध किया। ८ जुलाई, १९५० को राष्ट्रपति ट्रूमेन ने डगलस मैकआर्थर (Douglas MacArthur) को कोरिया में संयुक्त राष्ट्र सेना के कमाण्डर के रूप में नियुक्ति की घोषणा की। संयुक्त राष्ट्रसंघ के लगभग सभी सदस्य-राज्यों ने सुरक्षा परिषद् के २७ जून के प्रस्ताव के प्रति अनुकूल रुख अपनाया तथा महासचिव ट्रिग्वे ली के १४ जुलाई के प्रतिवेदन के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका के अतिरिक्त ५२ राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को सैनिक, आर्थिक तथा दूसरी सहायता प्रदान की थी।

यह कहा जाता है कि दक्षिणी कोरिया पर किया गया सैनिक आक्रमण वास्तविक अर्थ में स्वयं संयुक्त राष्ट्रसंघ पर किया गया आक्रमण था, क्योंकि दक्षिणी कोरिया यदि इसका शिशु नहीं तो इसका आश्रित अवश्य था। यह सैनिक आक्रमण संयुक्त राष्ट्रसंघ की सत्ता एवं उद्देश्यों को एक खुली चुनौती था। यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि राष्ट्रसंघ को इस प्रकार के परीक्षण (मंचूरिया-संकट तथा इटली-इथोपिया युद्ध) में असफलता प्राप्त हुई थी, जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा एवं प्रभाव में ह्रास हो गया था। कोरिया में जो कुछ हुआ अथवा हो रहा है, उससे संयुक्त राष्ट्रसंघ का अस्तित्व खतरे में नहीं पड़ सकता, परन्तु यह निर्विवाद है कि कोरिया का परिणाम संयुक्त राष्ट्रसंघ के भावी विकास को अत्यधिक प्रभावित करेगा।

कोरिया-संकट में सामूहिक सुरक्षा के कार्यान्वयन में कुछ व्यावहारिक दोष भी प्रकाश में आये :—

(१) अनेक सदस्य-राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को सैनिक सहायता देने में अनसुनी कर दी। उन्होंने सुरक्षा परिषद् के आह्वान पर अपनी सेनायें देने में चार्टर के अनुच्छेद ४३ का अनुपालन नहीं किया। फलस्वरूप, संयुक्त राज्य अमरीका ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को सबसे अधिक सैनिक एवं अन्य सहयोग प्रदान किया।

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास सामान्य सैनिक स्टाफ का अभाव था, जो सर्वोच्च कमाण्डर की नियुक्ति करता तथा युद्धक्षेत्र में उसके राजनीतिक परिणामों का मूल्यांकन करता। चार्टर के अन्तर्गत 'सैनिक स्टाफ समिति' की व्यवस्था अव्यवहार्य सिद्ध हुई। सोवियत संघ इस समिति का सदस्य होने के अतिरिक्त साम्यवादी चीन का परम मित्र था। यथार्थ में, सामूहिक सुरक्षा की कार्रवाई संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपेक्षा वाशिंगटन (संयुक्त राज्य अमरीका) के द्वारा संचालित होता है।

जो कुछ भी हो, सुरक्षा परिषद् ने कोरिया-संकट का मुकाबला करने में यह दिखा दिया कि यद्यपि इसके पास अपने अधिकार में सशस्त्र सेना का अभाव था, जैसा कि चार्टर के अनुच्छेद ४३ में व्यवस्था है, तथापि आक्रमण के सामने यह शक्तिहीन नहीं थी। परन्तु इस स्थान पर इस बात का स्मरण करना आवश्यक है कि सुरक्षा परिषद् कोरिया-संकट को सुलझाने में सशस्त्र कार्रवाई करने में इस कारण सफल हो सकी, क्योंकि सोवियत संघ, जो उन दिनों साम्यवादी चीन को मान्यता न दिये जाने के विरोध में सुरक्षा परिषद् की बैठकों का बहिष्कार कर रहा था, अनुपस्थित रहा तथा संयुक्त राज्य अमरीका की जल, स्थल तथा वायु सेनायें जापान, राइकाइस (Ryukyus) तथा निकटवर्ती जल में विद्यमान थीं। संयुक्त राष्ट्रसंघ में सोवियत संघ के स्थायी प्रतिनिधि याकोव ए० मलिक (Yakov A. Malik) के द्वारा १ अगस्त, १९५० को सुरक्षा परिषद् की अध्यक्षता ग्रहण करते ही पूर्ण गतिरोध की स्थिति उत्पन्न होने लगी तथा यह प्रतिरोध-नीति की स्थिति अगस्त के सम्पूर्ण माह तक बनी रही।

(३) शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव

यद्यपि शान्ति और सुरक्षा की स्थापना करना चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् का "प्राथमिक उत्तरदायित्व" है, तथापि ३ नवम्बर, १९५० के "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" (Unitig for Peace Resolution) ने यह व्यवस्था कर दी है कि जब कभी शान्ति के लिए संकट उत्पन्न हो अथवा शान्ति-भंग हो अथवा आक्रमण की घटना हो तथा सुरक्षा परिषद् किसी स्थायी सदस्य-राज्य के द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग से उत्पन्न-गतिरोध के कारण कोई कार्रवाई न कर सके, तो चौबीस घंटे के भीतर महासभा का विशेष संकटकालीन अधिवेशन बुलाया जा सकता है। महासभा उस समस्या पर तुरन्त विचार-विमर्श कर सकती है तथा संकटपूर्ण स्थिति का मुकाबला करने के उद्देश्य से सदस्य-राज्यों को सामूहिक कार्रवाई के लिये सिफारिशें कर सकती है, जिनमें आवश्यकता पड़ने पर सशस्त्र सेना का प्रयोग भी शामिल है। "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सुरक्षा-प्रावधानों को विकसित करने तथा कार्यान्वित करने का जान-बूझकर किया

गया प्रयास है (इस प्रस्ताव के प्रावधानों की समुचित जानकारी के लिये महासभा के अन्तर्गत "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" देखिये)।

(४) स्वेज-संकट में संयुक्त राष्ट्रसंघ की भूमिका

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा सामूहिक सुरक्षा के अनुप्रयोग का एक अन्य महत्वपूर्ण उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। जब १९५६ में मिस्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर दिया, तो इजरायल, फ्रांस तथा ग्रेटब्रिटेन ने सम्मिलित रूप से उस पर आक्रमण कर दिया। "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" के अन्तर्गत स्वेज संकट पर विचार-विमर्श करने के लिये महासभा की एक विशेष संकटकालीन बैठक बुलाई गई। महासभा के आह्वान पर आक्रामक राज्यों ने युद्ध बन्द कर दिया तथा अपनी सेनायें वापस बुला लीं। परन्तु सत्य तो यह है कि यह सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था की सफलता नहीं थी, अपितु कुछ अन्य कारणों से आक्रामक राज्यों ने महासभा की सिफारिशों को स्वीकार किया था। ग्रेटब्रिटेन तथा फ्रांस इसलिये पीछे हट गये, क्योंकि विश्व-जनमत उनकी निन्दा कर रहा था। संयुक्त राज्य अमरीका ने आक्रामक राज्यों का समर्थन इसलिये नहीं किया, क्योंकि वह जानता था कि सोवियत संघ इस युद्ध में अवश्य हस्तक्षेप करेगा। इजरायल, संयुक्त राज्य अमरीका की सहायता पर आश्रित था तथा वह भलीभाँति जानता था कि यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ अन्तर्गत स्वेज नहर की सुरक्षा के लिये कोई कार्रवाई की गई, तो संयुक्त राज्य अमरीका उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिये आगे बढ़ेगा।

यह सत्य है कि हमें सामूहिक कार्रवाई के ऐसे अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं, जबकि राष्ट्रों ने एक सर्वोच्च सेनापति की अध्यक्षता में आक्रमण का मुकाबला करने के लिये संयुक्त रूप से सहयोग दिया हो। फिर भी, ऐसे सैनिक प्रतिरोध को विश्व समाज की किसी संस्थापित संस्था ने कभी मान्यता नहीं दी। वास्तव में, यदि राष्ट्रसंघ ने उस समय, जबकि जर्मनी की सेनाओं ने पोलैण्ड पर आक्रमण किया था, बलपूर्वक आक्रमण का प्रतिरोध करने के लिए अधिकार दे दिया होता, तो वह द्वितीय विश्व-युद्ध में आक्रमण का मुकाबला करने वाले राष्ट्रों का नेतृत्व करते हुए नैतिक बल का प्रतीक बन गया होता। राष्ट्रसंघ को तब एक नयी महिमा प्राप्त हुई होती तथा उसका स्थान लेने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की आवश्यकता ही न पड़ती। यह सम्भव है कि कोरिया-संकट तृतीय महायुद्ध का कारण बन जाता, परन्तु राष्ट्रसंघ के सामयिक हस्तक्षेप ने सम्भावित तृतीय महायुद्ध को टाल दिया। पश्चिमी यूरोप ने इस मामले में विशेष रुचि ली, क्योंकि इस व्यवस्था के द्वारा आक्रमण का सफलतापूर्वक मुकाबला किया जा सका। अटलाण्टिक समुदाय को इसने अतिरिक्त जीवन-शक्ति प्रदान की तथा नाटो शक्तियों का विकास हुआ।

निष्कर्ष

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अन्तर्गत स्थापित सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का सर्वेक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह व्यवस्था अपने उत्तरदायित्व को सच्चे अर्थों में नहीं निभा सकी है। अनुभव के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ सामूहिक सुरक्षा का न तो प्रभावी साधन था, न है और न कभी रह सकता है। इसका कारण सरल और स्पष्ट है। सुरक्षा परिषद् में पाँच बड़े राज्यों को जो निषेधाधिकार प्राप्त है, वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के द्वारा की जाने वाली सुरक्षा-कार्रवाई के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। यद्यपि "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" के अस्तित्व में आ जाने से महासभा को निषेधाधिकार के प्रयोग से उत्पन्न गतिरोध की स्थिति में आवश्यक कार्रवाई करने की शक्ति प्राप्त हो गई है, तथापि यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी महाशक्ति के विरुद्ध शक्तिशाली तथा प्रभावशाली कदम उठाने की स्थिति में नहीं है। यह केवल छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध ही कार्रवाई कर सकता है। किसी महाशक्ति के द्वारा किये गये आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक कार्रवाई करने की शक्ति संयुक्त राष्ट्रसंघ में नहीं है। कोरिया के मामले में ही कुछ राष्ट्रों ने न केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ की समस्त कार्रवाईयों की निन्दा की थी, बल्कि उन शक्तियों को सक्रिय समर्थन प्रदान किया, जिन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ ने आक्रामक घोषित किया था। इन परिस्थितियों के अधीन वास्तविक सामूहिक सुरक्षा की अपेक्षा करना निरर्थक होगा तथा वास्तव में यह असम्भव है।

२४

पराधीन भूभाग तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति

(Dependent Territories and International Trusteeship System)

संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा पराधीन भूभाग

जहाँ तक पराधीन लोगों की प्रगति और उनके संरक्षण-सम्बन्धी प्रावधानों का प्रश्न है, संयुक्त राष्ट्र चार्टर निश्चित रूप से राष्ट्रसंघ प्रसंविदा की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है। चार्टर के १९ अध्यायों में ३ अध्याय स्पष्टतया अस्वशासी लोगों की प्रगति तथा कल्याण से सम्बन्धित हैं। वस्तुतः पूर्ववर्ती सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की तुलना में चार्टर की एक प्रमुख उपलब्धि "अस्वशासी भूभागों के विषय में घोषणा" (Declaration Regarding Non-Self-Governing Territories) है जिसका उल्लेख चार्टर के अध्याय ११ में किया गया है। चार्टर का अध्याय ११ राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ का ही एक विस्तृत तथा सुपरिष्कृत रूप है। इसका मौलिक सिद्धान्त यह है कि औपनिवेशिक प्रशासन तथा नीति के सभी प्रश्न स्वभावतः अन्तर्राष्ट्रीय हैं तथा इस कारण से उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय पर्यवेक्षण में रखा जाना चाहिए।

उद्देश्य एवं दायित्व

चार्टर के अनुच्छेद ७३ (अध्याय ११) में इस बात को स्पष्ट किया गया है, "संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्य, जो भूभागों के प्रशासन-सम्बन्धी उत्तरदायित्व रखते हैं अथवा ग्रहण करते हैं, जहाँ की जनता ने अभी तक पूर्ण रूप से स्वशासन प्राप्त नहीं किया है, इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं कि इन भूभागों के निवासियों के हित सर्वोपरि हैं तथा वर्तमान चार्टर द्वारा संस्थापित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा व्यवस्था के अधीन, इन भूभागों के निवासियों के अधिकाधिक कल्याण को बढ़ावा देने के दायित्व को एक पवित्र न्यास के रूप में स्वीकार करते हैं" ("Members of the United Nations which have or assume responsibilities for the administration of territories whose peoples have not yet attained a full measure of self-government recognise the principle that the interests of the inhabitants of these territories are paramount, and accept as a sacred trust the obligation to promote to the utmost, within the system of international peace and security

established by the present Charter, the well-being of the inhabitants of these territories.")।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सदस्य-राज्यों ने निम्नलिखित दायित्वों को स्वीकार किया है :—

(१) इन भूभागों के निवासियों की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा शैक्षिक प्रगति, उनके प्रति न्यायोचित व्यवहार तथा दुर्व्यवहारों के विरुद्ध उनके संरक्षण को सुनिश्चित करना,

(२) प्रत्येक भूभाग तथा उसके लोगों की विशिष्ट परिस्थितियों तथा उनके विकास की परवर्ती अवस्थाओं के अनुसार स्वशासन का विकास करना तथा उनकी स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं के उत्तरोत्तर विकास में सहयोग देना,

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बढ़ावा देना,

(४) विकास के रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देना, अनुसंधान कार्य को प्रोत्साहन देना तथा सामाजिक, आर्थिक एवं वैज्ञानिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ मिलकर काम करना, तथा

(५) सुरक्षा एवं सांविधिक बातों की परिसीमाओं को ध्यान में रखते हुए महासचिव को नियमित रूप से इन भूभागों की आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक अवस्थाओं से सम्बन्धित सांख्यिकीय तथा अन्य सूचनायें प्रेषित करना, जिनके लिए वे उत्तरदायी हैं (न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत रखे गये भूभागों को छोड़कर जिन पर चार्टर का अध्याय १२ तथा अध्याय १३ लागू होता है)।

दोष

(१) अस्वशासी भूभागों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र चार्टर के प्रावधान अस्पष्ट तथा असंगत हैं। अध्याय ११ की भाषा 'अस्वशासी भूभाग' को परिभाषित करने में असमर्थ है अथवा इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है कि इस घोषणा के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत किन भूभागों को शामिल किया जाय तथा उन्हें कौन-सी संस्था अथवा अभिकरण निर्धारित करे। व्यवहार में इस बात को निर्धारित करना सदस्य-राज्यों पर निर्भर करता है कि उनके कौन से भूभाग अस्वशासी हैं।

(२) इस घोषणा का दूसरा भाग अर्थात् अनुच्छेद ७४ इस बात की माँग करता है कि अस्वशासी भूभागों के प्रशासन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों की नीतियाँ 'उत्तम प्रतिवेशिता' (good neighbourliness) के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित होना चाहिये। यह प्रावधान अर्थहीन तथा नितान्त अनावश्यक है, क्योंकि चार्टर में प्रारम्भ से अन्त तक उत्तम प्रतिवेशिता की नीति के अनुसरण करने की कल्पना की गई है तथा अनेक अनुच्छेदों में यह स्पष्ट रूप से घोषित है।

(३) यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि अस्वशासी भूभागों के प्रशासन के सम्बन्ध में सदस्य-राज्यों का दायित्व "स्वशासन का विकास करना" ("to develop self-government") है तथा एक उद्देश्य के रूप में "स्वाधीनता" (independence) शब्द का इसमें उल्लेख नहीं है।

(४) इस घोषणा का केन्द्र-बिन्दु अनुच्छेद ७३ का खण्ड ५ है जिसके अनुसार प्रशासी राज्यों को अपने अस्वशासी भूभागों की अवस्थाओं के सम्बन्ध में महासचिव को नियमित रूप से सूचनायें प्रेषित करनी पड़ती हैं, परन्तु इस दायित्व पर कई प्रतिबन्ध हैं। केवल तकनीकी सूचनायें ही महासचिव को प्रेषित की जा सकती हैं तथा इन भूभागों की राजनीतिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में सूचनायें प्रेषित करने की कोई चर्चा नहीं की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि "राजनीतिक" (political) शब्द को जानबूझकर निकाल दिया गया।

(५) अन्त में, यह भी विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि अनुच्छेद ७३ में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी संस्थापित अंग को स्पष्टतया निरीक्षणात्मक शक्ति या कार्य प्रदान करता हो।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयास

अस्वशासी भूभागों पर नियंत्रण रखने वाले राष्ट्रों—मुख्यतः ब्रिटेन, फ्रांस तथा बेल्जियम ने चार्टर के अध्याय ११ की कठोर व्याख्या की है, तथा महासभा द्वारा पारित प्रस्तावों का विरोध किया है, क्योंकि उनके मत में ये प्रस्ताव उनके अधिकार-क्षेत्र के मामलों में हस्तक्षेप करते हैं। इसके विपरीत प्रशासन न करने वाले राज्यों तथा विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका के उन राज्यों, जो हाल में औपनिवेशिक शासन से मुक्त हुए हैं, ने अध्याय ११ के प्रावधानों की विस्तृत व्याख्या का समर्थन किया है।

'अस्वशासी भूभागों की सूचना-सम्बन्धी समिति' (Committee on Information from Non Self-Governing Territories) को अनुच्छेद ७३, खण्ड ५ के अन्तर्गत प्राप्त सूचनाओं की जाँच करने तथा महासभा को सिफारिशें करने का कार्य सौंपा गया। इस समिति को १६ दिसम्बर, १९६३ को महासभा के एक प्रस्ताव द्वारा भंग कर दिया गया तथा इसके कार्यों को "चौबीस सदस्यों की विशेष समिति" (Special Committee of Twenty Four) में ग्रहण कर लिया। ब्रिटेन, फ्रांस तथा बेल्जियम ने इस विशेष समिति का इस आधार पर विरोध किया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस प्रकार की मशीनरी के निर्माण का अधिकार नहीं है।

१९६० में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्दर और बाहर उपनिवेशन-विरोधी (decolonisation) अभियान अपनी चरम सीमा पर था। यह अभियान विशेषकर अफ्रीका

में नये राष्ट्रों के आविर्भाव का प्रतीक था—वर्ष १९६० को "अफ्रीकी स्वाधीनता वर्ष" घोषित किया गया था। १९६० में ही महासभा ने "औपनिवेशिक देशों तथा लोगों को स्वाधीनता प्रदान करने की घोषणा" (Declaration on the Granting of Independence to Colonial Countries and Peoples) स्वीकृत की। इस घोषणा को महासभा ने ९० के मुकाबले शून्य से पारित किया तथा ९ सदस्य-राज्यों ने मतदान में भाग नहीं लिया था। यह घोषणा अनन्तकाल तक पराधीन लोगों की स्वाधीनता के चार्टर के रूप में स्मरण की जायेगी। इसका प्रभाव 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' के समान ही व्यापक है। एक वर्ष पश्चात्, यह देखकर कि इस विषय में अधिक प्रगति नहीं हुई है, महासभा ने "घोषणा के कार्यान्वयन-सम्बन्धी विशेष समिति" (Special Commitee on the Implementation of the Declaration) की स्थापना की। "चौबीस राज्यों की विशेष समिति" संयुक्त राष्ट्रसंघ की एकमात्र संस्था है जिसे औपनिवेशिक प्रश्नों की जाँच का कार्यभार सौंपा गया है तथा व्यवहार में संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण अंग बन गया है।

मूल्यांकन

यह कहा जा सकता है कि विश्वशान्ति के संवर्धन में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धियों में से एक उपलब्धि यह भी रही है कि इस विश्व संस्था ने औपनिवेशिक भूभागों को स्वाधीनता प्राप्त करने की दिशा में सहयोग प्रदान किया है। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्रसंघ एकमात्र अभिकरण है जिसे विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका में अनेक स्वाधीन राज्यों के निर्माण का श्रेय प्राप्त होता है। यद्यपि अध्याय ११ के प्रावधानों को "उद्देश्यों" (objectives) के रूप में ही समझा जाना चाहिए, न कि वैध रूप से बन्धनकारी नियम, तथापि ये मानव अधिकारों के सम्मान की दिशा में एक महत्वपूर्ण प्रगति के परिचायक हैं तथा किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा मान्य पराधीन भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्यों के लिए निर्देशक सिद्धान्तों का सर्वाधिक व्यापक सेट या समूह है।

संयुक्त राष्ट्र-चार्टर तथा न्यासधारिता पद्धति

संयुक्त राष्ट्र चार्टर के अध्याय १२ में अनुच्छेद ७५ से अनुच्छेद ८५ तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति (International Trusteeship System) पर प्रकाश डाला गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के न्यासधारिता कार्यों को सम्पन्न करने के लिए चार्टर ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक प्रधान अंग के रूप में न्यास परिषद् की स्थापना की है (चार्टर के अध्याय १३ में अनुच्छेद ८६ से अनुच्छेद ९१ तक न्यास परिषद् के संगठन, कार्यों और शक्तियों, मतदान तथा क्रियाविधि का वर्णन

किया गया है)। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एक प्रधान अंग के रूप में न्यास परिषद् को राष्ट्रसंघ के अधीन "स्थायी प्रादेश आयोग" की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। न्यास परिषद् सामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों के प्रशासन के निरीक्षण में सुरक्षा परिषद् के एक सहायक अंग के रूप में तथा असामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों के प्रशासन के निरीक्षण में महासभा के एक सहायक अंग के रूप में कार्य करती है। न्यास परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत न्यस्त भूभागों के प्रशासन के निरीक्षण का कार्य तीन मुख्य उपायों के माध्यम से सम्पन्न किया है :—

(१) न्यस्त भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्यों द्वारा प्रस्तुत वार्षिक प्रतिवेदनों पर विचार करके,

(२) याचिकाओं का परीक्षण करके, तथा

(३) न्यस्त भूभागों में समय-समय पर निरीक्षक मण्डलों को (Visiting Missions) भेज करके।

जिन भूभागों को अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत रखा गया है, उन्हें "न्यस्त भूभाग" (trust territories) कहा जाता है। न्यस्त भूभागों को भी दो भागों में बाँटा गया है—(१) सामरिक महत्व के न्यस्त भूभाग (Strategic trust territories) तथा (२) असामरिक महत्व के न्यस्त भूभाग (non-strategic trust territories)।

न्यासधारिता पद्धति का उद्देश्य

अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति के मूल उद्देश्यों को चार्टर के अनुच्छेद ७६ में उल्लिखित किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से ये उद्देश्य "अस्वशासी भूभागों" (non-self-governing territories) के प्रशासन के निमित्त अध्याय ११, अनुच्छेद ७३ में उल्लिखित उद्देश्यों के समान हैं तथा राष्ट्रसंघ प्रसंविदा के अनुच्छेद २२ में उल्लिखित उद्देश्यों से कुछ-कुछ अधिक व्यापक हैं। परन्तु अनुच्छेद ७३ तथा अनुच्छेद ७६ में एक महत्वपूर्ण अन्तर है। अस्वशासी भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्यों का दायित्व "स्वशासन का विकास करना" ("to develop self-government") है, जबकि न्यस्त भूभागों के प्रशासन का मूल राजनीतिक उद्देश्य "स्वशासन अथवा स्वाधीनता की दिशा में" ("towards self-government or independence") भूभागों के निवासियों का उत्तरोत्तर विकास है। संक्षेप में, न्यासधारिता पद्धति के उद्देश्य निम्नलिखित हैं :—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देना,

(२) न्यस्त भूभागों के निवासियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक विकास एवं उनके स्वशासन अथवा स्वाधीनता के उत्तरोत्तर विकास को बढ़ावा देना,

(३) जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना समस्त लोगों के लिए मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि विश्व के समस्त लोग अन्योन्याश्रित हैं, तथा

(४) सामाजिक, आर्थिक, विधि-विषयक तथा व्यापारिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के समस्त सदस्य-राज्यों तथा उनके नागरिकों के प्रति समान व्यवहार को सुनिश्चित करना।

न्यासधारिता पद्धति का क्षेत्र

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में निम्नलिखित श्रेणी के भूभाग न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत रखे गये हैं :—

(१) वे प्रदेश जो राष्ट्रसंघ मादेश पद्धति के अन्तर्गत थे,

(२) वे प्रदेश जो द्वितीय महायुद्ध के बाद शत्रुराष्ट्रों से छीन लिए गये, तथा

(३) राज्यों द्वारा स्वेच्छा से सौंपे गये भूभाग।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी राज्य ने अभी तक अपने औपनिवेशिक प्रशासन को न्यास परिषद् के निरीक्षण में रखने की उदारता का परिचय नहीं दिया है। अतएव न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत वे न्यस्त भूभाग आते हैं जो प्रथम महायुद्ध में जर्मनी से तथा द्वितीय महायुद्ध में इटली या जापान से छीन लिए गये थे। कुल मिलाकर ११ न्यस्त भूभागों को न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत रखा गया। प्रशासी राज्यों के कर्त्तव्यों एवं उनके प्राधिकार की मात्रा ब्योरेवार उन न्यासधारिता समझौतों में उल्लिखित कर दी जाती है जिन्हें महासभा असामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों के विषय में अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे। सामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों के के समझौते सुरक्षा परिषद् द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। न्यासधारिता समझौतों की शर्तों में परिवर्तन या संशोधन करने के लिए भी महासभा या सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है। न्यासधारिता समझौतों में इस बात का उल्लेख रहता है कि अमुक न्यस्त भूभाग के लिए प्रशासी प्राधिकारी (administering authority) कौन-सा राज्य होगा। किसी न्यस्त भूभाग के लिए एक या संयुक्त रूप से अनेक राज्य प्रशासी प्राधिकारी के रूप में कार्य कर सकते हैं अथवा स्वयं संयुक्त राष्ट्र प्रशासी प्राधिकारी के कर्तव्यों का निर्वाह कर सकता है। इस बात को सुनिश्चि

अफ्रीकी, एशियाई तथा लातीनी अमरीकी राज्यों का बहुमत है, अस्वशासी भूभागों को स्वाधीनता दिलाने के लिए प्रयत्नशील है।

(५) प्रादेश पद्धति का क्षेत्र सीमित था, जबकि न्यासधारिता पद्धति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रादेश पद्धति केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेशों पर ही लागू होती थी, जब कि न्यासधारिता पद्धति शत्रुराष्ट्रों से छीने गये भूभागों के अतिरिक्त अस्वशासी भूभागों तथा साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के शिकार हुए सभी भूभागों पर भी लागू होती है। वस्तुतः न्यासधारिता पद्धति की स्थापना करके विश्व से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के उन्मूलन का प्रयास किया गया है।

मूल्यांकन

(१) यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति प्रादेश पद्धति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है, तथापि इसमें भी कुछ दोष पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) का कथन है कि यदि साफ-साफ इसे मान भी लिया जाय कि प्रशासी प्राधिकारी ने अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असफलता दिखाई है तथा स्पष्ट रूप से चार्टर एवं न्यासधारिता समझौते की शर्तों की अवहेलना की है, तो भी संयुक्त राष्ट्रसंघ उस प्रशासी प्राधिकारी के विरुद्ध कोई प्रभावकारी कार्रवाई नहीं कर सकता। यदि न्यस्त भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्य का व्यवहार कुछ इस प्रकार का है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के भंग होने अथवा संकट में पड़ने की आशंका है तो निस्सन्देह सुरक्षा परिषद्, यदि उसके पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों में मतैक्य है, उचित कार्रवाई कर सकती है। इसके अभाव में महासभा केवल सिफारिशें कर सकती है तथा उसकी सिफारिशों को मानना या नहीं मानना सदस्य-राज्यों पर निर्भर करता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति की दूसरी दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए प्रो० गुडरिच ने कहा है कि न्यासधारिता कार्यों को सम्पन्न करने वाली न्यास परिषद् की निष्प्रभाविता का सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण इसका राजनीतिक स्वरूप है। राष्ट्रसंघ के स्थायी प्रादेश आयोग की यथेष्ट प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह ख्यातिलब्ध विशेषज्ञों की एक संस्था थी जिसके औपनिवेशिक समस्याओं के सम्बन्ध में मत और विचारों का बड़ा ही महत्व था। इसके विपरीत न्यास परिषद् एक राजनीतिक अंग है। इसके सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य होते हैं तथा वे व्यक्ति, जो न्यास परिषद् की बैठकों में भाग लेते हैं, उपनिवेश-प्रशासन-विशेषज्ञ के स्थान पर सरकारी प्रतिनिधि माने जाते हैं।[1]

---

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, pp. 314–315.

करना प्रशासी प्राधिकारी का कर्तव्य है कि उसके प्रशासन के अधीन न्यस्त भूभाग, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने में सहयोग करे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रशासी प्राधिकारी सुरक्षा परिषद् के प्रति दायित्वों का पालन करने तथा स्थानीय प्रतिरक्षा के लिए एवं न्यस्त भूभाग के भीतर विधि और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उस न्यस्त भूभाग की स्वयंसेवक सेना, सुविधाओं आदि का उपयोग कर सकता है (अनुच्छेद ८४)। यह प्रावधान सामरिक तथा असामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों पर समान रूप से लागू होता है।

न्यासधारिता पद्धति तथा प्रादेश-पद्धति की तुलना

(१) कुछ अधिकारी विद्वानों का विचार है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति' तथा 'प्रादेश पद्धति' (मैण्डेट पद्धति) एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा प्रादेश पद्धति के समान ही न्यासधारिता पद्धति एक चमकीला धोखा है। परन्तु न्यासधारिता पद्धति के कार्यान्वयन ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि नयी पद्धति पुरानी प्रादेश पद्धति का परिवर्तित रूप नहीं है। इसका निश्चित रूप से एक विस्तृत क्षेत्र है तथा इसमें अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण सम्भव है। न्यस्त भूभागों के निवासियों को स्वशासन तथा स्वाधीनता की दिशा में विक्षित करने की इसमें क्षमता भी है।

(२) प्रादेश पद्धति के अन्तर्गत स्थायी प्रादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) को प्रादेशाधीन प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार नहीं था। परन्तु न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत न्यास परिषद् को न्यस्त भूभागों का सामयिक निरीक्षण करने का अधिकार है।

(३) प्रादेश पद्धति की स्थापना करके साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक राज्यों ने यह दिखाने का प्रयास किया था कि पराधीन भूभागों को अपने साम्राज्य का अंग बनाने की उनमें कोई लालसा नहीं है। साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक शक्तियों ने युद्ध में छीने गये प्रदेशों पर अपना नियंत्रण तथा विश्व में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए इस पद्धति का निर्माण किया था। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रादेशाधीन प्रदेशों की उन्नति, स्वशासन तथा स्वाधीनता के विषय में कोई प्रावधान नहीं था। परन्तु न्यासधारिता पद्धति इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि न्यस्त भूभागों को स्वशासन तथा स्वाधीनता के योग्य बनाया जाय।

(४) प्रादेश पद्धति के अन्तर्गत प्रादेशाधीन प्रदेशों की समस्या मुख्यतः स्थायी प्रादेश आयोग के क्षेत्र की समस्या समझी जाती थी, परन्तु न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत न केवल न्यास परिषद् बल्कि महासभा तथा सुरक्षा परिषद् भी न्यस्त भूभागों की समस्याओं में रुचि लेती हैं। विशेष रूप से महासभा, जिसमें

अफ्रीकी, एशियाई तथा लातीनी अमरीकी राज्यों का बहुमत है, अस्वशासी भूभागों को स्वाधीनता दिलाने के लिए प्रयत्नशील है।

(५) प्रादेश पद्धति का क्षेत्र सीमित था, जबकि न्यासधारिता पद्धति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रादेश पद्धति केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेशों पर ही लागू होती थी, जब कि न्यासधारिता पद्धति शत्रुराष्ट्रों से छीने गये भूभागों के अतिरिक्त अस्वशासी भूभागों तथा साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के शिकार हुए सभी भूभागों पर भी लागू होती है। वस्तुतः न्यासधारिता पद्धति की स्थापना करके विश्व से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के उन्मूलन का प्रयास किया गया है।

मूल्यांकन

(१) यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति प्रादेश पद्धति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है, तथापि इसमें भी कुछ दोष पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) का कथन है कि यदि साफ-साफ इसे मान भी लिया जाय कि प्रशासी प्राधिकारी ने अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असफलता दिखाई है तथा स्पष्ट रूप से चार्टर एवं न्यासधारिता समझौते की शर्तों की अवहेलना की है, तो भी संयुक्त राष्ट्रसंघ उस प्रशासी प्राधिकारी के विरुद्ध कोई प्रभावकारी कार्रवाई नहीं कर सकता। यदि न्यस्त भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्य का व्यवहार कुछ इस प्रकार का है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के भंग होने अथवा संकट में पड़ने की आशंका है तो निस्सन्देह सुरक्षा परिषद्, यदि उसके पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों में मतैक्य है, उचित कार्रवाई कर सकती है। इसके अभाव में महासभा केवल सिफारिशें कर सकती है तथा उसकी सिफारिशों को मानना या नहीं मानना सदस्य-राज्यों पर निर्भर करता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति की दूसरी दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए प्रो० गुडरिच ने कहा है कि न्यासधारिता कार्यों को सम्पन्न करने वाली न्यास परिषद् की निष्प्रभाविता का सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण इसका राजनीतिक स्वरूप है। राष्ट्रसंघ के स्थायी प्रादेश आयोग की यथेष्ट प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह ख्यातिलब्ध विशेषज्ञों की एक संस्था थी जिसके औपनिवेशिक समस्याओं के सम्बन्ध में मत और विचारों का बड़ा ही महत्व था। इसके विपरीत न्यास परिषद् एक राजनीतिक अंग है। इसके सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य होते हैं तथा वे व्यक्ति, जो न्यास परिषद् की बैठकों में भाग लेते हैं, उपनिवेश-प्रशासन-विशेषज्ञ के स्थान पर सरकारी प्रतिनिधि माने जाते हैं।[1]

---

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, pp. 314–315.

करना प्रशासी प्राधिकारी का कर्त्तव्य है कि उसके प्रशासन के अधीन न्यस्त भूभाग, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने में सहयोग करे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रशासी प्राधिकारी सुरक्षा परिषद् के प्रति दायित्वों का पालन करने तथा स्थानीय प्रतिरक्षा के लिए एवं न्यस्त भूभाग के भीतर विधि और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उस न्यस्त भूभाग की स्वयंसेवक सेना, सुविधाओं आदि का उपयोग कर सकता है (अनुच्छेद ८४)। यह प्रावधान सामरिक तथा असामरिक महत्व के न्यस्त भूभागों पर समान रूप से लागू होता है।

न्यासधारिता पद्धति तथा प्रादेश-पद्धति की तुलना

(१) कुछ अधिकारी विद्वानों का विचार है कि 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति' तथा 'प्रादेश पद्धति' (मैण्डेट पद्धति) एक ही सिक्के के दो पहलू हैं तथा प्रादेश पद्धति के समान ही न्यासधारिता पद्धति एक चमकीला धोखा है। परन्तु न्यासधारिता पद्धति के कार्यान्वयन ने इस बात को सिद्ध कर दिया है कि नयी पद्धति पुरानी प्रादेश पद्धति का परिवर्तित रूप नहीं है। इसका निश्चित रूप से एक विस्तृत क्षेत्र है तथा इसमें अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण सम्भव है। न्यस्त भूभागों के निवासियों को स्वशासन तथा स्वाधीनता की दिशा में शिक्षित करने की इसमें क्षमता भी है।

(२) प्रादेश पद्धति के अन्तर्गत स्थायी प्रादेश आयोग (Permanent Mandates Commission) को प्रादेशाधीन प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार नहीं था। परन्तु न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत न्यास परिषद् को न्यस्त भूभागों का सामयिक निरीक्षण करने का अधिकार है।

(३) प्रादेश पद्धति की स्थापना करके साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक राज्यों ने यह दिखाने का प्रयास किया था कि पराधीन भूभागों को अपने साम्राज्य का अंग बनाने की उनमें कोई लालसा नहीं है। साम्राज्यवादी तथा औपनिवेशिक शक्तियों ने युद्ध में छीने गये प्रदेशों पर अपना नियंत्रण तथा विश्व में अपनी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए इस पद्धति का निर्माण किया था। इस पद्धति के अन्तर्गत प्रादेशाधीन प्रदेशों की उन्नति, स्वशासन तथा स्वाधीनता के विषय में कोई प्रावधान नहीं था। परन्तु न्यासधारिता पद्धति इस बात को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है कि न्यस्त भूभागों को स्वशासन तथा स्वाधीनता के योग्य बनाया जाय।

(४) प्रादेश पद्धति के अन्तर्गत प्रादेशाधीन प्रदेशों की समस्या मुख्यतः स्थायी प्रादेश आयोग के क्षेत्र की समस्या समझी जाती थी, परन्तु न्यासधारिता पद्धति के अन्तर्गत न केवल न्यास परिषद् बल्कि महासभा तथा सुरक्षा परिषद् भी न्यस्त भूभागों की समस्याओं में रुचि लेती हैं। विशेष रूप से महासभा, जिसमें

अफ्रीकी, एशियाई तथा लातीनी अमरीकी राज्यों का बहुमत है, अस्वशासी भूभागों को स्वाधीनता दिलाने के लिए प्रयत्नशील है।

(५) प्रादेश पद्धति का क्षेत्र सीमित था, जबकि न्यासधारिता पद्धति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। प्रादेश पद्धति केवल जर्मनी और टर्की से छीने गये प्रदेशों पर ही लागू होती थी, जब कि न्यासधारिता पद्धति शत्रुराष्ट्रों से छीने गये भूभागों के अतिरिक्त अस्वशासी भूभागों तथा साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद के शिकार हुए सभी भूभागों पर भी लागू होती है। वस्तुतः न्यासधारिता पद्धति की स्थापना करके विश्व से साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद के उन्मूलन का प्रयास किया गया है।

मूल्यांकन

(१) यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति प्रादेश पद्धति की तुलना में अधिक श्रेष्ठ है, तथापि इसमें भी कुछ दोष पाये जाते हैं। इस सम्बन्ध में प्रो० एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) का कथन है कि यदि साफ-साफ इसे मान भी लिया जाय कि प्रशासी प्राधिकारी ने अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करने में असफलता दिखाई है तथा स्पष्ट रूप से चार्टर एवं न्यासधारिता समझौते की शर्तों की अवहेलना की है, तो भी संयुक्त राष्ट्रसंघ उस प्रशासी प्राधिकारी के विरुद्ध कोई प्रभावकारी कार्रवाई नहीं कर सकता। यदि न्यस्त भूभागों पर प्रशासन करने वाले राज्य का व्यवहार कुछ इस प्रकार का है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के भंग होने अथवा संकट में पड़ने की आशंका है तो निस्सन्देह सुरक्षा परिषद्, यदि उसके पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों में मतैक्य है, उचित कार्रवाई कर सकती है। इसके अभाव में महासभा केवल सिफारिशें कर सकती है तथा उसकी सिफारिशों को मानना या नहीं मानना सदस्य-राज्यों पर निर्भर करता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय न्यासधारिता पद्धति की दूसरी दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए प्रो० गुडरिच ने कहा है कि न्यासधारिता कार्यों को सम्पन्न करने वाली न्यास परिषद् की निष्प्रभाविता का सम्भवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण इसका राजनीतिक स्वरूप है। राष्ट्रसंघ के स्थायी प्रादेश आयोग की यथेष्ट प्रतिष्ठा तथा प्रभाव का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि यह ख्यातिलब्ध विशेषज्ञों की एक संस्था थी जिसके औपनिवेशिक समस्याओं के सम्बन्ध में मत और विचारों का बड़ा ही महत्व था। इसके विपरीत न्यास परिषद् एक राजनीतिक अंग है। इसके सदस्य संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य होते हैं तथा वे व्यक्ति, जो न्यास परिषद् की बैठकों में भाग लेते हैं, उपनिवेश-प्रशासन-विशेषज्ञ के स्थान पर सरकारी प्रतिनिधि माने जाते हैं।[1]

---

1. Leland M. Goodrich, *The United Nations*, pp. 314–315.

२५

संयुक्त राष्ट्रसंघ तथा मानव अधिकार

(The United Nations and Human Rights)

सामान्य परिचय

मानव अधिकारों का प्रश्न आज अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा का विषय है। किसी न किसी क्षेत्र में इस मसले पर बहस हो ही जाती है। आज विश्व के अनेक देशों के निवासी बुनियादी मानव अधिकारों से वंचित हैं। इन देशों मे वे देश भी शामिल हैं जो अभी औपनिवेशिक शासन से पूर्णतया मुक्त नहीं हो पाये, तो कुछ ऐसे देश भी हैं जो स्वाधीन होते हुए भी अपने नागरिकों को अपेक्षित मानव अधिकार नहीं दे पाये। दक्षिणी अफ्रीका तथा रोडेशिया जैसे दो ऐसे देश भी हैं जहाँ मुट्ठी-भर गोरे बहुसंख्यक काले लोगों पर शासन कर रहे हैं। मानव अधिकारों से वंचित लोगों का दायरा विश्व के लगभग प्रत्येक महाद्वीप के देशों में फैला हुआ है। चाहे एशिया हो, अफ्रीका, लातीनी अमरीका, यूरोप या अमरीका, किसी न किसी रूप में मानव अधिकारों का प्रश्न आज के समाज, आज के राजनीतिक नेताओं और मानव चेतना से सम्बन्ध रखने वाले वर्गों के सामने एक चुनौती के रूप में खड़ा है। उसमें विकसित देश भी आते हैं और विकासशील भी, अविकसित देश भी आते हैं और अल्पविकसित भी।

१९४५ में नात्सीवाद और फासीवाद की पराजय के बाद मानव अधिकारों का मसला सामने आया। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जिस पैमाने पर अत्याचार हुए और मानव अधिकारों का अतिक्रमण हुआ, उसको लेकर यह प्रश्न कई बार पूछा गया कि आज विश्व के कितने ऐसे देश और लोग हैं जो अपने बुनियादी मानव अधिकारों सहित विश्वास के साथ जीवनयापन कर सकते हैं। कितने ऐसे लोग हैं जो बिना किसी भय के अपनी आवाज बुलन्द कर सकते हैं? तब जिस अत्याचार, दमन, जातिवाद तथा आतंकवाद के विरुद्ध आवाज उठायी गई थी, कमोबेश उसी तरह की समस्या आज की दुनिया में भी बनी हुई है। बहुत से देश केवल सिद्धान्त में ही मानव अधिकारों की बातें करते हैं, किन्तु व्यवहार में उस पर अमल नहीं करते हैं। कुछ लोगों ने मानव अधिकारों को "विशेषाधिकार" का पर्याय मान लिया है।

महात्मा बुद्ध ने पाँच सामाजिक स्वतंत्रताओं का नारा दिया था जो इस प्रकार हैं:—

(१) हिंसा से स्वतंत्रता,
(२) अभाव से स्वतंत्रता,
(३) शोषण से स्वतंत्रता,
(४) तिरस्कार या अपयश से स्वतंत्रता, तथा
(५) अकालमृत्यु एवं रोग (व्याधि) से स्वतंत्रता।

इसलाम (मुसलमान धर्म) ने चार अधिकारों को परमावश्यक माना है :—

(१) भोजन तथा वस्त्र का अधिकार,
(२) गृह का अधिकार,
(३) शिक्षा का अधिकार, तथा
(४) चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-व्यवस्था-सम्बन्धी अधिकार।

चीनी आचार-शास्त्र ने तीन सार्वभौम अधिकारों को स्वीकार किया है :—

(१) जीवन का अधिकार,
(२) आत्माभिव्यक्ति (Self-expression) का अधिकार, तथा
(३) आन्तर सन्तोष जिसके लिये कुछ अवकाश का समय तथा सहिष्णुता का वातावरण आवश्यक है।

संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट का मत था कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सुरक्षा एवं न्याय को प्राप्त करना है, तब मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण नहीं होना चाहिये। ६ जनवरी, १९४१ को अमरीकी कांग्रेस को भेजे गये अपने वार्षिक सन्देश में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने "चार स्वतंत्रताओं" (Four Freedoms) का उल्लेख किया था :—

(१) भाषण एवं अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता,
(२) पूजा की स्वतंत्रता,
(३) अभाव से स्वतंत्रता, तथा
(४) भय से स्वतंत्रता।

इसके अतिरिक्त, अटलाण्टिक चार्टर (अगस्त १९४१) तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की घोषणा (जनवरी १९४२) ने उन आन्दोलनों को प्रेरणा प्रदान की जिनका श्रीगणेश मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं को प्राप्त करने के लिये किया गया था।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर तथा मानव अधिकार

मानव अधिकारों से सम्बन्धित सभी अन्तर्राष्ट्रीय दस्तावेजों (प्रलेखों) के सर्वेक्षण का प्रयास करने से पहले इस बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि स्वयं संयुक्तराष्ट्र चार्टर मानव अधिकारों को प्रोत्साहन देने के कार्य को संयुक्त

राष्ट्रसंघ के प्रमुख कार्यों में से एक कार्य मानता है। चार्टर के अनुच्छेद १, खण्ड ३ में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या मानवतावादी समस्याओं के समाधान के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त किया जाय तथा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना, समस्त लोगों के लिये मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के सम्मान को प्रोत्साहन दिया जाय। चार्टर के अनुच्छेद ५५ में कहा गया है—"......संयुक्त राष्ट्रसंघ जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना, समस्त लोगों के लिये मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के विश्वव्यापी सम्मान तथा पालन को बढ़ावा देगा" ("......the United Nations shall promote...... universal respect for, and observance of, human rights and fundamental freedoms for all without distinction as to race, sex, language or religion.") तथा अनुच्छेद ५६ के अनुसार, सभी सदस्य-राज्य इस उद्देश्य तथा अनुच्छेद ५५ में घोषित अन्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ के सहयोग से सम्मिलित तथा पृथक् कार्रवाई करने के लिये वचनबद्ध हैं।

इसी प्रकार अनुच्छेद १३ में प्रावधान है कि महासभा जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना समस्त लोगों के लिये मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति में सहयोग देने के प्रयोजन से अध्ययन प्रारम्भ करेगी तथा संस्तुतियाँ करेगी। अनुच्छेद ६२ के अनुसार, आर्थिक और सामाजिक परिषद् (ECOSOC) समस्त लोगों के लिये मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान को बढ़ावा देने तथा उनके पालन के लिये संस्तुतियाँ कर सकती है। अन्त में, अनुच्छेद ७६ के अन्तर्गत न्यासधारिता पद्धति के मौलिक उद्देश्यों में से एक उद्देश्य यह भी है कि जाति, लिंग, भाषा या धर्म का भेदभाव किये बिना समस्त लोगों के लिये मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान को प्रोत्साहन दिया जाय।

दोष

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में मानव अधिकारों से सम्बन्धित प्रावधानों का मूल्यांकन करते हुए प्रो० एल० एम० गुडरिच (Leland M. Goodrich) ने इस बात का उल्लेख किया है कि चार्टर में "मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं" (Human Rights and Fundamental Freedoms) को कहीं भी परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया गया है। सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में कुछ प्रतिनिधि-मंडलों ने "मानव अधिकारों" की परिभाषा की माँग की थी, किन्तु सम्भवतः समयाभाव के कारण ऐसा नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त, इस बात का उल्लेख

कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ के जिन उद्देश्यों तथा कार्यों की बार-बार चर्चा की गई है, उनके लिये 'बढ़ावा देना' (promoting), 'प्रोत्साहन देना' (encouraging) तथा 'सहायता देना' (assisting) शब्दों का प्रयोग किया गया है, न कि 'रक्षा करना' (protecting), 'सुरक्षित करना' (safeguarding) तथा 'गारण्टी देना' (guaranteeing) शब्दों का प्रयोग।[1]

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा (Universal Declaration of Human Rights)

यद्यपि सानफ्रांसिस्को सम्मेलन ने मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं को परिभाषित करने का प्रयास नहीं किया, तथापि उसने इस बात को मौन रूप से स्वीकार किया था कि यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्राथमिक कार्य होना चाहिये। फरवरी १९४६ को अपने प्रथम अधिवेशन में आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने "मानव अधिकार आयोग" (Commission on Human Rights) की स्थापना की। मानव अधिकार आयोग ने श्रीमती रूजवेल्ट की अध्यक्षता में दो वर्ष के गहन अध्ययन तथा विचार-विमर्श के बाद "मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा" (Universal Declaration of Human Rights) का प्रारूप तैयार किया। १० दिसम्बर, १९४८ को महासभा ने पेरिस में अपने तीसरे अधिवेशन में इस घोषणा पर अपनी औपचारिक स्वीकृति प्रदान कर दी। इस घोषणा के पक्ष में ४८ मत पड़े तथा विपक्ष में किसी ने भी मत नहीं दिया। ८ सदस्य-राज्यों (सोवियत गुट के छः राष्ट्रों, सऊदी अरब तथा दक्षिणी अफ्रीका) ने मतदान में भाग नहीं लिया। श्रीमती रूजवेल्ट के सतत परिश्रम और प्रयास के कारण ही विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक प्रणालियों, धर्मों और भाषाओं की सहमति प्राप्त की जा सकी। इस घोषणा में राजनीतिक और नागरिक स्वतंत्रताओं का उल्लेख किया गया है जिनको प्राप्त करने के लिए लोगों ने सैकड़ो वर्षों तक संघर्ष किया।

'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' में एक प्रस्तावना तथा ३० अनुच्छेद हैं। इस घोषणा का क्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक है, क्योंकि इसमें न केवल नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का वर्णन है, बल्कि आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की भी चर्चा की गई है। घोषणा की प्रस्तावना (Preamble) में मानव परिवार के सभी सदस्यों के लिए समान अधिकारों की आवश्यकता पर बल देते हुए कहा गया है कि ऐसा होने से विश्व में स्वतंत्रता, न्याय और शान्ति की आधारशिला मजबूत एवं टिकाऊ होगी। अनुच्छेद १ तथा अनुच्छेद २ में सामान्य

1. Leland M. Goodrich, *the United Nation*, p. 246.

अधिकारों का वर्णन किया गया है। उदाहरण के लिए, इनमें कहा गया है कि सभी मनुष्य स्वतंत्र पैदा हुए हैं। वे समान गरिमा के स्वामी हैं तथा वे इस घोषणा में उल्लिखित समस्त अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को बिना किसी भेदभाव (जाति, रंग, लिंग, भाषा, धर्म, सम्पत्ति, राष्ट्रीय अथवा सामाजिक उद्‌गम, जन्म आदि) के प्राप्त करने के अधिकारी हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि यह घोषणा सभी अस्वशासी भूभागों (non-self-governing territories) पर भी लागू होती है।

इस घोषणा में अनुच्छेद ३ से लेकर अनुच्छेद २१ तक नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों का वर्णन किया गया है। इन अधिकारों में वे अधिकार शामिल हैं जो विश्व के प्रायः सभी देशों द्वारा मान्य हैं। संक्षेप में, इन अधिकारों में निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) जीवन, स्वतंत्रता तथा व्यक्तिगत सुरक्षा का अधिकार,

(२) कानून के समान संरक्षण का अधिकार,

(३) सम्पत्ति का अधिकार,

(४) राष्ट्रीयता का अधिकार,

(५) कानून के समक्ष समानता का अधिकार,

(६) देश के शासन में भाग ले सकने का अधिकार तथा सरकारी सेवाओं में समानता का अधिकार,

(७) अपराध प्रमाणित न होने तक निर्दोष समझे जाने का अधिकार,

(८) बिना किसी जाँच-पड़ताल के बन्दी बनाने, नजरबन्द करने, अथवा देशनिकाला (exile) से स्वतंत्रता का अधिकार,

(९) एक स्वतंत्र तथा निष्पक्ष न्यायालय (ट्रिब्यूनल) द्वारा उचित सुनवाई का अधिकार,

(१०) शान्तिपूर्ण सभा आयोजित करने की स्वतंत्रता का अधिकार,

(११) मत और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार,

(१२) विचार, विवेक तथा धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार,

(१३) दासता तथा पराधीनता से स्वतंत्रता का अधिकार,

(१४) उत्पीड़न अथवा क्रूर, अमानुषिक अथवा अपमानजनक व्यवहार अथवा दण्ड से स्वतंत्रता का अधिकार।

अनुच्छेद २२ से लेकर अनुच्छेद २७ तक सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों की चर्चा की गई है। उदाहरण के लिए :—

(१) समाज का एक सदस्य होने के रूप में सामाजिक सुरक्षा का अधिकार,

(२) उचित तथा अनुकूल अवस्थाओं के अन्तर्गत काम करने का अधिकार,

(३) समान कार्य के लिए समान वेतन का अधिकार,

(४) अवकाश तथा विश्राम का अधिकार,

(५) शिक्षा का अधिकार तथा समाज के सांस्कृतिक जीवन में भाग लेने का अधिकार,

(६) वैज्ञानिक, साहित्यिक या कलात्मक विषयों के लेखकों को अपनी कृतियों के संरक्षण का अधिकार।

अनुच्छेद २८ से लेकर अनुच्छेद ३० तक यह स्वीकार किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति एक ऐसी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का हकदार है जिसमें इस घोषणा में उल्लिखित अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं को पूरा-पूरा प्राप्त किया जा सके। इन अधिकारों के साथ ही साथ समाज और देश के प्रति व्यक्ति के कुछ कर्तव्य भी हैं। व्यक्ति अपने अधिकारों और स्वतंत्रताओं का उपभोग करते हुए इस बात का ध्यान रखे कि उनके अधिकार अन्य लोगों के अधिकारों और स्वतंत्रताओं का किसी प्रकार अतिक्रमण न करें। किसी भी राष्ट्र, गुट या व्यक्ति को ऐसा करने का अधिकार नहीं है जिससे कि इस घोषणा में निहित अधिकारों और स्वतंत्रताओं पर आघात होता हो।

मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा का महत्व एवं प्रभाव

'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' मानव जाति के लिए अधिकारों तथा स्वतंत्रताओं का एक विशेष चार्टर है। यद्यपि 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' केवल सिद्धान्तों का एक विवरण है, न कि वैध रूप से बन्धनकारी नियमों तथा दायित्वों का विवरण, तथापि यह विश्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रलेख माना गया है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंगों, विशिष्ट अभिकरणों, प्रादेशिक व्यवस्थाओं तथा दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रस्तावों में एवं राष्ट्रीय संविधानों, विधि-निर्माण तथा न्यायालय के निर्णयों में प्रायः इस घोषणा का उल्लेख किया गया है। निस्सन्देह १९४८ की विश्वव्यापी घोषणा मानव के मानवीय रूप को सुरक्षित रखने वाला महत्तम अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेख है। मानव अधिकार आयोग द्वारा विचार-विमर्श के दौरान १९४८ में कुछ सदस्यों द्वारा यह सुस्पष्ट मत व्यक्त किया गया कि यह घोषणा चार्टर की व्याख्या करने वाला प्रलेख है, अतएव इसका भी उतना ही महत्व है जितना कि स्वयं चार्टर का। लेबनान के प्रतिनिधि श्री मलिक ने १९४८ में यह टिप्पणी की थी इस घोषणा को महासभा के साधारण प्रस्तावों की तुलना में सबसे अधिक महत्व देना चाहिए। अतएव यह घोषणा महासभा का प्रस्ताव न होकर चार्टर का ही एक अंग है और इसकी उतनी ही प्रतिष्ठा है जितना कि चार्टर का।

जब इस घोषणा को स्वीकृति प्रदान कर दी गई, तब महासभा के सभापति आस्ट्रेलिया के हरबर्ट इवाट (Herbert Evatt) ने कहा था, "यह प्रथम अवसर

है जबकि राष्ट्रों के संगठित समाज ने मानव अधिकारों तथा आधारभूत स्वतंत्रताओं की घोषणा की है तथा इसे सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्रसंघ के जनमत की सत्ता प्राप्त है तथा सम्पूर्ण विश्व में पेरिस तथा न्यूयार्क से बहुत दूर करोड़ों पुरुष, स्त्री तथा बालक इस प्रलेख से सहायता, पथप्रदर्शन एवं प्रेरणा प्राप्त करेंगे" ("It is the first occasion on which the organised community of nations has made a declaration of human rights and fundamental freedoms, and it has the authority of the body of opinion of the United Nations as a whole, and millions of men, women and children all over the world many miles from Paris and New York will turn for help, guidance and inspiration to this document.")

महासभा के अनेक प्रस्ताव इस घोषणा के सिद्धान्तों पर आधारित हैं। इसके अनेक अनुच्छेदों को शान्ति-सन्धियों, न्यास समझौतों तथा नये राज्यों के संविधानों में सम्मिलित कर लिया गया है। ४ दिसम्बर, १९६३ को अपने Dag Hammarskjold Memorial Lecture में जकोब ब्लाउस्टिन (Jacob Blaustein) ने कहा था कि 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' ने एक ऐसी राजनीतिक तथा नैतिक सत्ता प्राप्त कर ली है कि स्वयं चार्टर को छोड़कर, कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेख इसकी बराबरी नहीं कर सकता।

'मानव अधिकारों के संरक्षण के निमित्त यूरोपीय उपसन्धि' (The European Convention for the Protection of Human Rights) 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' पर आधारित है। इस प्रलेख पर ४ नवम्बर, १९५० को यूरोप के १३ राज्यों के परराष्ट्र-मंत्रियों ने अपने हस्ताक्षर किए थे। इस उपसन्धि की प्रस्तावना में 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' का उल्लेख किया गया है तथा १९६१ में उन्होंने 'यूरोपीय सामाजिक चार्टर' (European Social Charter) का निर्माण किया जिसमें सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों को मान्यता दी गई।

प्रो० क्लार्क एम० आइकलबर्गर (Clark M. Eichelberger) के अनुसार, संयुक्त राष्ट्रसंघ के इतिहास में अब तक दो शक्तिशाली घोषणायें हुई हैं—प्रथम १९४८ में स्वीकृत 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' तथा दूसरे १९६० में स्वीकृत 'औपनिवेशिक देशों तथा लोगों को स्वतंत्रता प्रदान करने की घोषणा' (Declaration on the Granting of Independence to Col[illegible] Countries and Peoples) । वास्तव में, ये दोनों [illegible] हैं, क्योंकि 'औपनिवेशिक देशों तथा लोगों को स्व[illegible]

(self-determination) के सिद्धान्त पर आधारित है, जो 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' के सिद्धान्तों में से एक है।

१९५१ में सानफ्रान्सिस्को में की गई शान्ति-सन्धि में जापान ने 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' में उल्लिखित उद्देश्यों को कार्यान्वित करने की इच्छा प्रकट की। १९५४ में 'ट्रीस्ट के स्वतंत्र भूभाग' (Free Terntory of Trieste) के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ था, उसमें इटली और यूगोस्लाविया ने अपने भूभागों के प्रशासन में 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' के सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करने का वचन दिया था। अफ्रीका के अनेक नये राज्यों ने अपने संविधानों में इस घोषणा का समर्थन किया है जबकि 'अफ्रीकी एकता संगठन' (OAU) के चार्टर में भी इस घोषणा का पृष्ठांकन किया गया है। 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' मानव जाति के लिए 'महाधिकार-पत्र' (Magna Carta) है।

कुछ अधिकारी विद्वानों ने 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' को संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन में सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की महत्तम उपलब्धियों में से एक कहा है। इस घोषणा में उल्लिखित मानव अधिकार समाज के स्वरूप का एक बुनियादी अंग बन गये हैं। अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना को मजबूत और स्थायी बनाने के लिए इन अधिकारों का सहारा लिया जाने लगा है। यह घोषणा स्वाधीनता तथा सम्मान के लिए संघर्षरत लोगों और उनके द्वारा प्राप्त की गई स्वाधीनता की प्रगति के लिए पैमाना सिद्ध हुआ है। प्रत्येक वर्ष १० दिसम्बर 'मानव अधिकार दिवस' (Human Rights Day) के रूप में मनाया जाता है।

मानव अधिकारों की प्रसंविदा (Covenant on Human Rights)

'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' में निहित अधिकारों ने एक नयी आवाज बुलन्द की और वह आवाज थी इन अधिकारों को अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करना। इसका प्रभाव यह हुआ कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा ने एक निर्णय लिया जिसके अन्तर्गत घोषणा में निहित इन अधिकारों को दो भागों में बाँटा गया:—

(१) नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों की प्रसंविदा (Covenant on Civil and Political Rights), तथा

(२) आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों की प्रसंविदा (Covenant on Economic, Social and Cultural Rights)।

इन दोनों प्रसंविदाओं पर महासभा ने १९६६ में अपनी स्वीकृति प्रदान की। १९६६ में ही महासभा ने एक तीसरा प्रलेख स्वीकार किया जिसे नागरिक तथा

राजनीतिक अधिकारों के प्रसंविदा पर 'वैकल्पिक संलेख' (Optional Protocol) कहा जाता है। ये तीनों अन्तर्राष्ट्रीय प्रलेख संयुक्त रूप से 'मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय बिल' (International Bill of Human Rights) का निर्माण करते हैं।

नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के अन्तर्गत नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों को कानूनी दर्जा देने की बात स्वीकार की गई है, जबकि आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक अधिकारों के अन्तर्गत इस बात पर बल दिया गया कि नवस्वाधीन देश और पश्चिमी देश शिक्षा, आयोजना और उन्नति के दीर्घकालीन कार्यक्रमों को बनायें ताकि समूची मानवजाति का कल्याण हो।

मानव अधिकारों को लागू करने के उपाय

जहाँ तक आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के प्रसंविदा का सम्बन्ध है, इसमें प्रावधान है कि अनुसमर्थन प्रदान करने वाले राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस बात का प्रतिवेदन देना होगा कि उन्होंने इन अधिकारों की उपलब्धि में क्या प्रगति की है। इससे यह पता चल सकेगा कि क्या राज्यों ने मानव अधिकारों से सम्बद्ध उक्त प्रसंविदा के आधार पर आवश्यक राष्ट्रीय कानून (municipal law) का निर्माण कर लिया है अथवा नहीं। यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि एक बार अन्तर्राष्ट्रीय प्रसंविदा को राज्य-विधान में सम्मिलित करने के बाद वे राष्ट्रीय स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं तथा राष्ट्रीय न्यायालय भी उन्हें लागू करते हैं। इस प्रकार, यह तरीका अत्यधिक निर्दोष है तथा सहज ही सबसे प्रभावोत्पादक भी।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के प्रसंविदा में 'मानव अधिकार समिति' (Human Rights Commitee) की स्थापना का एक महत्वपूर्ण प्रावधान है अर्थात् जो राष्ट्र इस प्रसंविदा का अनुसमर्थन करते हैं, उन्हें मानव अधिकार समिति के १८ सदस्यों का चुनाव करना होता है। सरकारी प्रतिनिधि के रूप में नहीं, बल्कि अपने व्यक्तिगत रूप में कार्य करते हुए इस समिति के सदस्यों के लिए आवश्यक है कि उनका नैतिक चरित्र उच्च हो तथा उन्हें मानव अधिकार के क्षेत्र में काफी ज्ञान एवं योग्यता प्राप्त हो। इस समिति के अगणित कार्य हैं, जैसे, सदस्य-राज्यों द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदनों पर विचार करना, साथ ही, इसे राज्यों तथा आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के सम्मुख अपनी टिप्पणियाँ प्रस्तुत करने का भी अधिकार है।

नागरिक तथा राजनीतिक अधिकारों के प्रसंविदा पर वैकल्पिक प्रलेख इस बात की व्यवस्था करता है कि राज्य महासचिव, आर्थिक एवं सामाजिक परिषद्,

संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरणों तथा महासभा के सम्मुख प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। इस 'वैकल्पिक संलेख' द्वारा मानव अधिकारों को लागू करने के सम्बन्ध में एक असाधारण उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। इसके अनुसार सभी साधारण व्यक्तियों को भी यह अधिकार है कि वे मानव अधिकार समिति के सम्मुख लिखित पत्र सीधे ही भेज सकें, यद्यपि इस अधिकार को यह कहकर सीमित कर दिया गया है कि समिति ऐसे पत्र पर उस समय तक विचार नहीं करेगी जब तक कि उसे विश्वास न हो जाय कि उस व्यक्ति ने अपने राष्ट्र में उपलब्ध सभी साधनों का उपयोग कर लिया है तथा उस विषय पर कोई अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था विचार नहीं कर रही है।

मानव अधिकारों को लागू करने के लिए विधिवेत्ताओं ने कुछ अन्य कदम भी सुझाए हैं, जैसे, मानव अधिकार आयोग द्वारा तदर्थ अध्ययन दलों की स्थापना तथा क्षेत्रीय मानव अधिकार समितियों की स्थापना, मानव अधिकारों के लिए संयुक्त राष्ट्र उच्चायुक्त (United Nations High Commissioner for Human Rights) की नियुक्ति और यहाँ तक कि मानव अधिकारों का अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Human Rights) का सृजन। ये सभी प्रस्ताव अभी प्राथमिक अवस्था में हैं तथा मानव अधिकारों के सम्मान को सुदृढ़ बनाने के लिए हैं। यह आशा की जा सकती है कि शीघ्र ही इन्हें कार्यान्वित किया जा सकेगा।

मानव अधिकारों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्रसंघ की अन्य उपलब्धियाँ

(१) जातिसंहार उपसन्धि (Genocide Convention)—९ दिसम्बर, १९४८ को महासभा ने सर्वसम्मति से जातिसंहार उपसन्धि स्वीकार की। इस उपसन्धि के अनुसार जनसंहार को अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत एक अपराध माना गया है। यह उपसन्धि १२ जनवरी, १९५१ से लागू है।

(२) महिलाओं की स्थिति—संयुक्त राष्ट्रसंघ ने महिलाओं के अधिकारों को सुरक्षित रखने के लिए भी आवश्यक कदम उठाये हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ का उद्देश्य रहा है कि महिलाओं को पुरुषों के समान ही राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा कानूनी अधिकार मिलना चाहिए, परन्तु आज भी विश्व के अनेक देशों में समानता के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया है। १९५२ में महासभा ने 'महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों-सम्बन्धी उपसन्धि' (Convention on Political Rights for Women) स्वीकृत की जिसके अनुसार महिलाओं को बिना किसी भेदभाव के पुरुषों के समान मत देने, सार्वजनिक पद ग्रहण करने और सभी सार्वजनिक कार्यों को सम्पादित करने का हकदार माना गया है। यह उपसन्धि

'महिलाओं की स्थिति-सम्बन्धी आयोग' (Commission on the States of Women) के प्रयासों का परिणाम था तथा ७ जुलाई, १९५४ को लागू हुई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ ने महिलाओं की समानता के महत्व को स्वीकार किया है और उसकी यह मान्यता है कि महिलायें आर्थिक और सामाजिक विकास तथा शान्ति के संवर्धन में समान रूप से समर्थ हैं। यही कारण है कि महासभा ने अपने १८ दिसम्बर, १९७२ के प्रस्ताव के अनुसार, वर्ष १९७५ को 'अन्तर्राष्ट्रीय महिला वर्ष' (International Women's Year) घोषित किया।[1]

(३) **अल्पसंख्यकों का संरक्षण**—अल्पसंख्यकों के संरक्षण के लिए तथा उनके विरुद्ध होने वाले अत्याचार को रोकने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ प्रयत्नशील है। १९४७ में मानव अधिकार आयोग ने 'अल्पसंख्यकों के संरक्षण तथा भेदभाव के निवारण-सम्बन्धी उप-आयोग' (Sub-commission on Prevention of Discrimination and Protection of Minorities) की स्थापना की जिसने अल्पसंख्यकों की विविध समस्याओं का गहन अध्ययन किया है।

(४) **जातिभेद या रंगभेद**—मानव अधिकारों के प्रश्न का एक महत्वपूर्ण पक्ष जातिभेद को दूर करना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के जीवन में जातिभेद या जातीय पार्थक्य (apartheid) के मसले को जितनी बार उठाया गया है, उतना अन्य कोई प्रश्न नहीं उठाया गया। महासभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, मानव अधिकार आयोग तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरणों ने सभी प्रकार के भेदभाव तथा विशेष रूप से जातिभेद तथा दक्षिणी अफ्रीकी सरकार की जातीय पार्थक्य की नीति के विरुद्ध अनेक प्रस्ताव पारित किये हैं। वस्तुतः दक्षिणी अफ्रीकी सरकार की जातीय पार्थक्य की नीति संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सिद्धान्तों तथा उद्देश्यों के प्रतिकूल है तथा 'मानव अधिकारों की विश्वव्यापी घोषणा' के प्रावधानों से असंगत है। १९६२ में महासभा ने 'जातीय पार्थक्य पर विशेष समिति' (Special Commitee on Apartheid) की स्थापना की। इस समिति ने दक्षिणी अफ्रीकी सरकार की गतिविधियों का अवलोकन करने के बाद उसके विरुद्ध कठोर अनुशास्तियों को लागू करने की सिफारिश की है।

जातिभेद के विरुद्ध महासभा ने [illegible] १९६[illegible] प्रकार के जातिभेद के बहिष्करण-सम्बन्धी उपस[illegible] [illegible]ntion [illegible] on of All Forms of Racial Dis[illegible] [illegible] १९६९ से लागू है। इस उपसन्धि के [illegible]

1. *United Nations week*[illegible]

के लिए 'जातिभेद के बहिष्करण-सम्बन्धी उपसमिति' (Commitee on the Elimination of Racial Discrimination) की स्थापना की गई है।[1]

(५) १९५६ में आर्थिक और सामाजिक परिषद् ने दासता, दास-व्यापार तथा ऐसी संस्थाओं के उन्मूलन के बारे में पूरक उपसन्धि स्वीकृत की जो ३० अप्रैल, १९५७ को लागू हुई। इस उपसन्धि के अनुसार, राज्यों का यह दायित्व है कि वे दासता, दास-व्यापार तथा दासता के उन रीति-रिवाजों का पूर्ण रूप से उन्मूलन करें जिनसे महिलाओं, बालकों तथा युवकों का शोषण होता है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने रोजगार एवं व्यवसाय के क्षेत्र में १९५८ में एक उपसन्धि स्वीकार की जो १५ जून, १९६० से लागू है। इस उपसन्धि के अनुसार प्रत्येक राज्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को रोजगार और व्यवसाय के सम्बन्ध में समान सुविधायें तथा अवसर प्रदान करें, जिससे किसी प्रकार का भेदभाव न हो। इसी प्रकार, अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने १९५७ में बेगार (forced labour) उन्मूलन उपसन्धि स्वीकृति की जो १७ जनवरी, १९५९ को लागू हुई।

(७) १९६० में यूनेस्को ने एक उपसन्धि स्वीकार की जिसमें शिक्षा के क्षेत्र में भेदभाव समाप्त करने पर बल दिया गया था। यह उपसन्धि २२ मई, १९६२ को लागू हुई।

निष्कर्ष

यदि विश्व के राष्ट्र स्थायी शान्ति की दिशा में प्रगति करते हैं, तो मानव अधिकारों की रक्षा तथा विकास का होना अवश्यम्भावी है। भूतपूर्व महासचिव डाग हैमरशोल्ड का यह कथन उचित प्रतीत होता है कि, "हम जानते हैं कि शान्ति का प्रश्न तथा मानव अधिकारों का विषय एक-दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। मानव अधिकारों की मान्यता के बिना हमें शान्ति कभी नहीं मिलेगी तथा केवल शान्ति के ढाँचे के अन्तर्गत ही मानव अधिकारों का पूर्णतया विकास हो सकता है" ("We know that the question of peace and the question of human rights are closely related. Without recognition of human rights, we shall never have peace, and it is only within the framework work of peace that human rights can be fully developed.")।

1. *United Nations Weekly Newsletter*, April 6, 1973, p. 2.

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन अथवा सुधार

(Revision of the UN Charter)

सामान्य परिचय

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें परिस्थितियों के अनुकूल परिवर्तन अथवा विकसित होने की क्षमता हो। संयुक्त राष्ट्र चार्टर के निर्माताओं ने इस तथ्य को माना और इसलिए उन्होंने चार्टर में संशोधन की प्रक्रिया का उल्लेख भी किया। चार्टर के अनुच्छेद १०८ के अनुसार, चार्टर में संशोधन के लिए आवश्यक है कि सबसे पहले महासभा के दो-तिहाई सदस्य संशोधन के प्रस्ताव को पारित करें तथा सुरक्षा परिषद् के समस्त स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो-तिहाई सदस्य उसका अनुसमर्थन करें। इसके अतिरिक्त, चार्टर में प्रावधान है कि यदि वर्तमान चार्टर का पुनर्वलोकन करने के लिए कोई सम्मेलन नहीं बुलाया गया है, तब इस प्रकार के सम्मेलन को बुलाने का प्रस्ताव महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन की कार्यसूची में रखा जायेगा (अनुच्छेद १०९, खण्ड ३)। फलस्वरूप, सितम्बर, १९५५ में महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के प्रारम्भ होने के पहले दो-तीन वर्षों तक संयुक्त राष्ट्र चार्टर के सुधार के प्रश्न पर व्यापक रूप से विचार-विमर्श हुआ। अधिकांश सदस्य-राज्यों के परराष्ट्र-विभागों ने चार्टर के सुधार के तकनीकी पक्षों पर विचार किया तथा विद्वानों, राजनेताओं तथा गैरसरकारी संगठनों ने चार्टर के सुधार के प्रश्न पर उपयुक्त अध्ययन किये तथा सिफारिशें कीं। अगस्त, १९५३ में ही संयुक्त राज्य अमरीका के परराष्ट्र-मंत्री जॉन फॉस्टर डलेस (John Foster Dulles) ने यह घोषणा की थी कि संयुक्त राज्य अमरीका महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन में संयुक्त राष्ट्र चार्टर का पुनर्वलोकन करने के निमित्त सम्मेलन बुलाने की माँग का समर्थन करेगा (दुर्भाग्यवश, अभी तक इस प्रकार का सम्मेलन नहीं बुलाया गया है)। अनेक वर्ष बीत जाने पर भी संयुक्त राज्य अमरीका के इस आधिकारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं आया है। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के अनेक सदस्य-राज्य चार्टर में संशोधन का विरोध करते हैं।

चार्टर के सुधार के प्रति सोवियत संघ का दृष्टिकोण

संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक शक्तिशाली सदस्य-राज्य—सोवियत संघ ने प्रारम्भ से ही चार्टर में संशोधन का विरोध किया है। उसका कहना है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-

एवं सुरक्षा की स्थापना के लिए महाशक्तियों की सर्वसम्मति तथा सहयोग पर जो बल दिया गया है, वह चार्टर में संशोधन करने से मूलतः नष्ट हो जायेगा। जून, १९७५ में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव डॉ० कुर्त वाल्डाइम को प्रेषित एक पत्र में सोवियत संघ की सरकार ने अपनी स्थिति को स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान चार्टर समय की कसौटी पर खरा उतरा है तथा द्रुतगामी परिवर्तनों के इस विश्व में अपनी व्यवहार्यता को सिद्ध किया है। इस पत्र के माध्यम से सोवियत संघ ने इस बात पर बल दिया कि सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य-राज्यों के बीच सर्वसम्मति के सिद्धान्त के बिना अपने वर्तमान स्वरूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की कल्पना नहीं की जा सकती है। अतएव सोवियत संघ चार्टर में संशोधन के निमित्त उस प्रस्ताव का विरोध करेगा जो निषेधाधिकार (वीटो) को समाप्त करे।[1]

चार्टर के सुधार के प्रति भारतीय दृष्टिकोण

भारत ने भी चार्टर में संशोधन का विरोध किया है। वस्तुतः भारत ने चार्टर में अपनी पूर्ण आस्था प्रकट की है तथा उसका यह दृष्टिकोण रहा है कि यदि परिस्थितिवश चार्टर में संशोधन अनिवार्य हो जाये तो ऐसा संशोधन या सुधार उस समय ही किया जाय जबकि सभी महाशक्तियों में इस विषय पर मतैक्य हो। निषेधाधिकार के प्रश्न पर भारत ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट कर दिया है कि चार्टर में संशोधन कर देने से ही वीटो से उत्पन्न समस्या का अन्त नहीं हो जायेगा, बल्कि केवल स्वस्थ परम्पराओं की स्थापना ही इस समस्या का समाधान कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन के प्रति भारतीय दृष्टिकोण यह रहा है कि अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को कम किये बिना चार्टर में महत्वपूर्ण संशोधन करने का कोई प्रयास न केवल असफल होगा, बल्कि वर्तमान तनावों को तीव्र करेगा। फिर भी, भारत ने चार्टर में गौण संशोधनों की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया है। कभी-कभी यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यप्रणाली ने भारतीय परराष्ट्र-नीति के आधारभूत उद्देश्यों की प्राप्ति में सहयोग दिया है अथवा बाधा डाली है? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया जाता है कि भारतीय परराष्ट्र-नीति के उद्देश्य चार्टर में घोषित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सामान्य उद्देश्यों से असंगत नहीं हैं। वस्तुतः दोनों में काफी समरूपता है।[2]

पराधीन भूभागों तथा जातिभेद के प्रश्नों पर भारत ने यह पाया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए एक उपयोगी मंच है। भारत सरकार ने अनेक अवसरों पर पराधीन लोगों की स्वतंत्रता तथा कल्याण के पक्ष में संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को प्रभावित किया है, यथा इण्डोनेशिया तथा इतालवी

1. *National Herald, June 8, 1975.*
2. *India and the United Nations*, pp. 205–213.

(२) **निषेधाधिकार (वीटो) की व्यवस्था में सुधार**—यद्यपि निषेधाधिकार की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है, तथापि इस व्यवस्था की समाप्ति वांछनीय भी नहीं है, क्योंकि यदि सुरक्षा परिषद् किसी महाशक्ति के विचार के विरुद्ध कोई कार्यवाई करती है, तो उसका अर्थ विश्वशान्ति नहीं, अपितु महायुद्ध होगा। १९४५ से लेकर अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ का इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि निषेधाधिकार का सर्वाधिक प्रयोग केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रश्न पर किया गया है तथा विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे पर कम। शान्ति-भंग, आक्रमण की घटना तथा सैनिक कार्यवाई के प्रश्नों पर इस व्यवस्था को बनाये रखना लाभप्रद है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उचित तो यह है कि सदस्यता के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् की संस्तुति की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा सुरक्षा परिषद् में बहुमत मतदान-प्रणाली (majority vote system) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(३) **महासभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व के ढंग में परिवर्तन**—यह सुझाव दिया जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में प्रतिनिधित्व के ढंग में परिवर्तन होना चाहिए। एक देश के पाँच प्रतिनिधि तथा एक वोट के स्थान पर प्रतिनिधि एवं वोट जनसंख्या के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, चीन, भारत आदि विशाल देशों को ३० प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो और महासभा में उनके ३० वोट हों। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया आदि मध्यम श्रेणी के राज्यों को १५ प्रतिनिधि भेजने तथा १५ वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। इसी प्रकार, लघु देश जनसंख्या के आधार पर महासभा में ५ या ७ प्रतिनिधि भेज सकते हैं। ऐसा होने से महासभा के सभी निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर होंगे।

(४) **सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता में परिवर्तन**—चार्टर में संशोधन के निमित्त एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि सुरक्षा परिषद् से स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों (संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस) के पक्ष में न रहे। सुरक्षा परिषद् को संतुलित, निष्पक्ष और व्यावहारिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि विश्व के दूसरे महत्वपूर्ण राज्यों को इसमें समानता के आधार पर स्थान मिले। यदि स्थायी सदस्यों का प्रावधान रखा भी जाय तो राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) के स्थान पर जनवादी चीन (साम्यवादी) को सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो (जनवादी चीन को १९७१ में सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो गई) तथा फ्रांस के स्थान पर असंलग्न राष्ट्र भारत को स्थायी-सदस्यता मिले। इससे सुरक्षा परिषद् में एक

उपनिवेशों के प्रश्नों पर। दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सम्बन्ध में भारत ने दक्षिणी अफ्रीकी सरकार के इस दावे को अस्वीकार कर दिया है कि यह भूभाग दक्षिणी अफ्रीका का एक अंग है।

भूतपूर्व भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री तथा श्रीमती इन्दिरा गान्धी ने अनेक अवसरों पर अपनी परराष्ट्र-नीति उद्घोषणाओं में स्पष्ट कर दिया कि भारत स्वतंत्र परराष्ट्र-नीति का अनुसरण करेगा तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ को विभाजित करने वाले किसी भी गुट (bloc) में शामिल नहीं होगा। भारत को भय है कि यदि किसी भी शक्ति-गुट ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने प्रभुत्व में रखने का प्रयास किया, तो यह (संयुक्त राष्ट्रसंघ) उस गुट के सदस्यों की राष्ट्रीय नीतियों का साधन बनकर रह जायेगा। भारत सरकार का दृष्टिकोण है कि चार्टर के निषेधाधिकार प्रावधान ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को किसी शक्ति-गुट के हाथों में कठपुतली होने से बचा लिया है। इसीलिए भारत ने निषेधाधिकार को समाप्त करने अथवा निषेधाधिकार के प्रयोग को सीमित करने वाले समस्त प्रस्तावों का विरोध किया है।

इसके अतिरिक्त, एक महत्वपूर्ण बात का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है जो वर्तमान समय में चार्टर में संशोधन अथवा सुधार की आवश्यकता पर बल देती है। आज राष्ट्रों के शक्ति-सम्बन्धों में व्यापक परिवर्तन हो चुके हैं, क्योंकि विश्व के अनेक राष्ट्र और विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका के राष्ट्र जो पहले साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी शक्तियों के अधीन गुलाम थे, न केवल स्वाधीन हुए हैं, बल्कि शक्ति-राजनीति में अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालने की क्षमता भी रखते हैं। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन न केवल वाञ्छनीय है, अपरिहार्य भी है ताकि चार्टर को अधिक प्रभावकारी, अधिक गतिशील तथा समय के अनुकूल बनाया जा सके।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन अथवा सुधार के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के सुझाव प्रस्तुत किए गये हैं। कुछ व्यावहारिक सुझाव निम्नलिखित हैं :—

(१) **संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता महासभा प्रदान करे**—जहाँ तक नये राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ में प्रवेश देने का प्रश्न है, महासभा अपने उपस्थित तथा मतदान करने वाले सदस्य-राज्यों के दो-तिहाई बहुमत से नये राज्यों को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करे। इसका एक लाभ यह होगा कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रश्न पर राजनीतिक सौदेकारी नहीं हो सकेगी और न गुटबन्दी को प्रोत्साहन मिलेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ भी वास्तविक अर्थ में सार्वभौमिक संगठन बन सकेगा।

(२) **निषेधाधिकार (वीटो) की व्यवस्था में सुधार**—यद्यपि निषेधाधिकार की व्यवस्था त्रुटिपूर्ण है, तथापि इस व्यवस्था की समाप्ति वांछनीय भी नहीं है, क्योंकि यदि सुरक्षा परिषद् किसी महाशक्ति के विचार के विरुद्ध कोई कार्यवाई करती है, तो उसका अर्थ विश्वशान्ति नहीं, अपितु महायुद्ध होगा। १९४५ से लेकर अब तक संयुक्त राष्ट्रसंघ का इतिहास यह प्रदर्शित करता है कि निषेधाधिकार का सर्वाधिक प्रयोग केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रश्न पर किया गया है तथा विवादों के शान्तिपूर्ण निपटारे पर कम। शान्ति-भंग, आक्रमण की घटना तथा सैनिक कार्यवाई के प्रश्नों पर इस व्यवस्था को बनाये रखना लाभप्रद है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करने के प्रश्न पर निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं होना चाहिए। उचित तो यह है कि सदस्यता के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् की संस्तुति की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा सुरक्षा परिषद् में बहुमत मतदान-प्रणाली (majority vote system) की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(३) **महासभा में राज्यों के प्रतिनिधित्व के ढंग में परिवर्तन**—यह सुझाव दिया जाता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा में प्रतिनिधित्व के ढंग में परिवर्तन होना चाहिए। एक देश के पाँच प्रतिनिधि तथा एक वोट के स्थान पर प्रतिनिधि एवं वोट जनसंख्या के आधार पर निर्धारित किया जाना चाहिए। उदाहरण के लिए, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, चीन, भारत आदि विशाल देशों को ३० प्रतिनिधि भेजने का अधिकार हो और महासभा में उनके ३० वोट हों। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, पाकिस्तान, इण्डोनेशिया आदि मध्यम श्रेणी के राज्यों को १५ प्रतिनिधि भेजने तथा १५ वोट देने का अधिकार मिलना चाहिए। इसी प्रकार, लघु देश जनसंख्या के आधार पर महासभा में ५ या ७ प्रतिनिधि भेज सकते हैं। ऐसा होने से महासभा के सभी निर्णय अधिकतम जनसंख्या के हितों के आधार पर होंगे।

(४) **सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता में परिवर्तन**—चार्टर में संशोधन के निमित्त एक महत्वपूर्ण सुझाव यह है कि सुरक्षा परिषद् से स्थायी सदस्यों का प्रावधान हटा देना चाहिए ताकि शक्ति-सन्तुलन पश्चिमी शक्तियों (संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन तथा फ्रांस) के पक्ष में न रहे। सुरक्षा परिषद् को संतुलित, निष्पक्ष और व्यावहारिक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि विश्व के दूसरे महत्वपूर्ण राज्यों को इसमें समानता के आधार पर स्थान मिले। यदि स्थायी सदस्यों का प्रावधान रखा भी जाय तो राष्ट्रवादी चीन (ताइवान) के स्थान पर जनवादी चीन (साम्यवादी) को सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो (जनवादी चीन को १९७१ में सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त हो गई) तथा फ्रांस के स्थान पर असंलग्न राष्ट्र भारत को स्थायी-सदस्यता मिले। इससे सुरक्षा परिषद् में एक

नवीन संतुलन स्थापित होगा, निर्णय अधिक निष्पक्ष एवं स्पष्ट होंगे तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मान में वृद्धि होगी।

(५) **घरेलू क्षेत्राधिकार का स्पष्टीकरण**—चार्टर में सांविधानिक व्याख्या के अभाव में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का अभी तक समाधान नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए, दक्षिणी अफ्रीका जातीय पार्थक्य को अपने 'घरेलू क्षेत्राधिकार' में बताकर संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्तावों की उपेक्षा करता है। अतएव संयुक्त राष्ट्र चार्टर में 'घरेलू क्षेत्राधिकार' की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत जो बातें 'घरेलू क्षेत्राधिकार' में आती हैं, उनका संहिताकरण (codification) कर दिया जाय तथा जो विषय शेष रहे, उन पर शान्ति एवं सुरक्षा की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ जिस प्रकार की कार्यवाई उचित और आवश्यक समझे, स्वतंत्र होकर करे। यह भी सुझाव दिया गया है कि चार्टर के अनुच्छेद २, खण्ड ७ का इस प्रकार संशोधन किया जाना चाहिए जिससे संयुक्त राष्ट्रसंघ मानव अधिकारों के क्षेत्र में प्रभावी हस्तक्षेप कर सके।

(६) **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों का बन्धनकारी होना**—यह सुझाव दिया जाता है कि संयुक्त राष्ट्र चार्टर का इस प्रकार संशोधन किया जाना चाहिए जिससे शान्ति तथा सुरक्षा से सम्बन्धित मामलों में, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सभी निर्णय सदस्य-राज्यों पर बन्धनकारी हों। चार्टर में संशोधन कर व्यवस्था कर दी जानी चाहिए कि सदस्य-राज्य वैकल्पिक खण्ड को रक्षणों के साथ स्वीकार न कर सकें। वस्तुतः इन रक्षणों के कारण ही अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय निष्प्रभावी बन गया है। सुरक्षा तथा शान्ति के लिए राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों का पालन करने के लिए बाध्य किए जा सकते हैं, बशर्ते उनका न्यायालय की निष्पक्षता में विश्वास हो। इसके लिए आवश्यक है कि निर्णय राजनीतिक पक्षपात से मुक्त हों तथा न्यायाधीश चरित्रवान, ईमानदार तथा उच्चकोटि के विधिवेत्ता हों। इसके अतिरिक्त, संयुक्त राष्ट्र सेना की व्यवस्था भी स्थायी रूप से की जानी चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को लागू कराने में इस सेना की सहायता ली जा सकती है।

(७) **"प्रक्रिया-सम्बन्धी विषय" तथा "अन्य सभी विषय" का स्पष्टीकरण**—चार्टर के अनुच्छेद २७ में सुरक्षा परिषद् की मतदान-प्रणाली में "प्रक्रियासम्बन्धी विषय" ("procedural matters") तथा "अन्य सभी विषय" ("all other matters") अनिश्चित और अस्पष्ट हैं जिससे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अतः चार्टर में संशोधन कर इन शब्दों की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए।

(८) **संयुक्त राष्ट्रसंघ को विश्वव्यापी संगठन बनाना**—संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता विश्वव्यापी संगठन की मौलिक अवधारणा पर आधारित होनी चाहिए।

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन समस्त राज्यों को सयुक्त राष्ट्रसंघ मे प्रवेश मिलना चाहिए जो सदस्यता के दायित्वों को पूरा करने के लिए तत्पर हैं तथा कोई अभ्यर्थी राज्य इस शर्त को पूरा करता है अथवा नहीं, इसका निर्णय सुरक्षा परिषद् के प्रक्रिया-सम्बन्धी मत तथा महासभा के दो-तिहाई मत से होना चाहिए। इस प्रकार, सदस्यता के प्रश्न पर स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार प्राप्त नहीं होना चाहिए।

(९) **अनुशास्तियों का विकास**—अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को संकट में डालने वाली अवैध कार्रवाईयों के विरुद्ध कठोर अनुशास्तियों का विकास किया जाना चाहिए। इनमें न्यायिक समझौते, महासभा तथा सुरक्षा परिषद् द्वारा आरोपित अनुशास्तियों में समन्वय तथा "संस्थागत अनुशास्तियों" (institutional sanctions) का विकास शामिल है, यथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के विशेषाधिकारों तथा लाभों से किसी सदस्य-राज्य को वंचित कर देना।

(१०) **संयुक्त राष्ट्रसंघ की जाँच-पड़ताल-शक्तियों में वृद्धि**—सयुक्त राष्ट्रसंघ की जाँच-पड़ताल-शक्तियों में वृद्धि होनी चाहिए। सुरक्षा परिषद् (प्रक्रिया-सम्बन्धी मत के द्वारा) तथा महासभा को जाँच-पड़ताल प्रारम्भ करने तथा तत्सम्बद्ध निर्णयों को सदस्य-राज्यों पर लागू करने का अधिकार होना चाहिए। इसी प्रकार, महासचिव को व्यक्तिगत रूप से अथवा अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से विभिन्न सरकारों से सन्धिवार्ता करने का अधिकार होना चाहिए। यदि इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया जाय, तो इससे संयुक्त राष्ट्रसंघ को यथार्थ तथा सही सूचना प्राप्त होगी। यह प्रस्ताव अशान्ति एव उपद्रववाले क्षेत्रों में तनावों को कम करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ की उपस्थिति की सम्भाव्य क्षमता को विस्तारित करेगा।

चार्टर के सुधार के निमित्त अन्य सुझाव

संयुक्त राष्ट्रसंघ को शक्तिशाली तथा सक्षम बनाने के लिए जिन अन्य सुझावों को समय-समय पर प्रस्तुत किया गया है, उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) संयुक्त राष्ट्र चार्टर की व्याख्या करते समय उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया जाय। चार्टर की उदारवादी व्याख्या का अभिप्राय यह है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने सदस्य-राज्यों की सहमति से ऐसी सत्ता प्राप्त करे जो चार्टर में निहित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए आवश्यक है। यदि सुरक्षा परिषद् की तुलना में महासभा, जो विश्व जनमत की प्रतिनिधि है, को कोई कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाय, तो इसका विरोध नही किया जाना चाहिए। व्यावहारिक रूप से सुरक्षा परिषद् की कीमत पर महासभा को शक्तिशाली बनाने के लिए जितने कदम उठाये गये हैं, सोवियत सघ ने उन्हे गैरकानूनी माना है। उदाहरण के लिए, सोवियत सघ ने

"शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" तथा "संयुक्त राष्ट्र आपातिक सेना" (United Nations Emergency Force) की स्थापना का विरोध किया था।

(२) एक विशेष सरकार संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक सदस्य-राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकती है अथवा नहीं, इस प्रश्न का निर्णय महासभा के दो तिहाई बहुमत से किया जाना चाहिए तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी अंगों एवं विशिष्ट अभिकरणों को मान्य होना चाहिए। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के लिए महासभा सर्वाधिक उपयुक्त अंग है।

(३) यदि महासचिव के पदत्याग अथवा अन्य किसी आकस्मिक कारण से यह पद रिक्त हो तो महासभा को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए जो इस पद की शक्तियों का पूर्ण रूप से प्रयोग कर सके। महासचिव पद के लिए सोवियत संघ की ओर से ट्रोइका (troika) योजना भी प्रस्तुत की गयी थी। इस योजना के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के तीन महासचिव होने चाहिए जिनमें से एक साम्यवादी देश का, एक पश्चिमी देश का तथा एक तटस्थ देश का हो। १९६१ में डाग हैमरशोल्ड के आकस्मिक निधन के कारण गतिरोध उत्पन्न होने पर सोवियत संघ ने "ट्रोइका" योजना के अन्तर्गत तीन महासचिवों की नियुक्ति पर बल दिया था। अनेक व्यावहारिक कठिनाईयों के कारण यह सुझाव अनुपयोगी माना गया है। "ट्रोइका" योजना निस्सन्देह महासचिव की शक्ति को कम करती है।

(४) संयुक्त राष्ट्रसंघ की वर्तमान मशीनरी का विस्तार तथा आवश्यकतानुसार नये अंगों का निर्माण किया जाना चाहिए।

(५) संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रशासकीय सत्ता उन क्षेत्रों पर होनी चाहिए जो राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के अधीन नहीं हैं। उदाहरण के लिए, वाह्य अन्तरिक्ष (Outer Space)।

(६) संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय का स्वतंत्र स्रोत होना चाहिए। सदस्य-राज्यों द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग पर आश्रित रहकर संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यक्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। परम्परागत रूप से, सदस्य-राज्यों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ को वांछित आर्थिक सहयोग प्रदान करने में उत्सुकता नहीं दिखाई है, जिससे वह विश्वशान्ति के संवर्धन तथा अन्तर्राष्ट्रीय समाज के कल्याण के निमित्त शक्ति प्राप्त कर सकें। अतएव यह सुझाव दिया गया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ विकास कर, सेवा कर, यात्री कर आदि लगाये तथा वाह्य अन्तरिक्ष एवं दूरभाषिक सचार से शुल्क प्राप्त कर स्वतंत्र रूप से अपनी आय में वृद्धि करे।

(७) विश्व कानून की प्रक्रिया का विकास किया जाना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रयोग को अधिकाधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

(८) संयुक्त राष्ट्रसंघ के वर्तमान अंगों की संरचना तथा उनके कार्यों में सुधार किया जाना चाहिए।

कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन

औपचारिक रूप से अभी तक चार्टर मे केवल दो महत्त्वपूर्ण संशोधन हुए हैं जो जनवरी, १९६६ से लागू हैं। इन संशोधनों के अनुसार सुरक्षा परिषद् के सदस्यो की संख्या ११ से बढ़ाकर १५ कर दी गई है तथा प्रस्तावों के पारित होने के लिए ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक ठहराये गये हैं। इसके साथ ही आर्थिक और सामाजिक परिषद् (ECOSOC) के सदस्यों की सख्या १८ से बढ़ाकर २७ कर दी गई तथा इस समय यह संख्या ५४ कर दी गई है।

वास्तव में चार्टर में संशोधन के निमित्त सुरक्षा परिषद् के समस्त स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति आवश्यक होने के कारण निकट भविष्य में संशोधन की सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती, तथापि चार्टर की उदारवादी व्याख्या करके उसमें अनेकानेक परिवर्तन कर दिये गये हैं। चार्टर के कुछ प्रावधानों को विशेष रूप से प्रभावी और कुछ प्रावधानों को प्रभावहीन बना दिया गया है। फ्रान्सिस ओ० विलकॉक्स (Francis O. Wilcox) के मतानुसार, चार्टर में अनौपचारिक संशोधन निम्नलिखित उपायों के द्वारा किये गये हैं :—

(१) चार्टर के कुछ प्रावधानों को क्रियान्वित न करके,

(२) संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य-राज्यों तथा विविध अंगों द्वारा चार्टर की उदारवादी व्याख्या करके,

(३) पूरक सन्धियों अथवा समझौतों का निष्पादन करके, तथा

(४) विशेष अंगो तथा अभिकरणों की स्थापना करके।[1]

चार्टर के अनुच्छेद २७ के अनुसार, सुरक्षा परिषद् में महत्त्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लेने के लिए पाँच स्थायी सदस्य-राज्यों की सहमति आवश्यक है। इस दृष्टि से यदि एक स्थायी सदस्य-राज्य अनुपस्थित हो अथवा मतदान में भाग न ले, तो उसे निषेधाधिकार ही समझा जाना चाहिए, तथापि चार्टर की उदारवादी व्याख्या के अनुसार एक स्थायी सदस्य-राज्य द्वारा अनुपस्थित रहना अथवा मतदान में भाग नहीं लेना निषेधाधिकार नहीं माना जाता है। इसीलिए १९५० में सुरक्षा परिषद् सोवियत संघ की अनुपस्थिति में कोरिया विवाद में सामूहिक सुरक्षा के कदम उठा सकी। ३ नवम्बर, १९५० के "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" ने महासभा की शक्तियों को विस्तारित किया है। चार्टर के अनुच्छेद २, खण्ड ■ की व्याख्या भी

1. Francis O. Wilcox, "How the United Nations Charter Has Developed", *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, November, 1954, p. 4.

अत्यन्त उदार रूप से की गई है। यद्यपि इस प्रावधान के अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ को उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है, जो किसी राज्य के पूर्णतः घरेलू अधिकार-क्षेत्र में आते हों, तथापि संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अनेक देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप इस आधार पर किया कि वे विश्वशान्ति में बाधक हैं।

चार्टर के अनुच्छेद २२ तथा अनुच्छेद २९ के अन्तर्गत अनेक सहायक अंगों की स्थापना करके महासभा तथा सुरक्षा परिषद् के कार्यों को व्यापक रूप से विस्तारित किया गया है, यथा निरस्त्रीकरण आयोग, अन्तर्राष्ट्रीय विधि आयोग (International Law Commission) तथा विशेष विवादों के निपटारे के लिए समितियों तथा आयोगों का निर्माण। इसी प्रकार, १९४७ में स्थापित महासभा की "अन्तरिम समिति" जिसे सामान्य रूप से "लघु सभा" भी कहा जाता है, को महासभा के अधिवेशन न होने के काल में शान्ति और सुरक्षा के प्रश्नों पर सुझाव प्रस्तुत करने का कार्य सौंपा गया था। सोवियत संघ ने इस समिति की बैठकों में भाग लेने से अस्वीकार कर दिया, क्योंकि उसके मतानुसार सुरक्षा परिषद् के उत्तरदायित्वों को कम करने का यह एक गैरकानूनी प्रयास था। "शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव" के अस्तित्व में आ जाने से "लघु सभा" की उपयोगिता समाप्त हो गई।

निष्कर्ष

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र चार्टर में संशोधन अथवा सुधार की आवश्यकता है, तथापि यदि सदस्य-राज्य सद्भावना, पारस्परिक सहयोग एवं विश्वास पर आधारित रचनात्मक कार्य को प्रोत्साहन दें, तो अनेक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अपने-आप निराकरण हो सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सफलता सदस्य-राज्यों की निष्ठा, ईमानदारी, परस्पर सहयोग तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्धों पर निर्भर करती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि चार्टर में सुझाये गये संशोधनों की कोई आवश्यकता नहीं पड़ेगी, यदि सदस्य-राज्य समस्त अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को पारस्परिक सहयोग से तय करें। उदाहरण के लिए, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को बन्धनकारी बनाने के लिए चार्टर में संशोधन की कोई आवश्यकता नहीं होगी, यदि सदस्य-राज्य न्यायालय के निर्णयों को अनिवार्य रूप से स्वीकार करें। यदि महाशक्तियाँ संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता के प्रश्न को राजनीतिक सौदाकारी का विषय न बनायें, तो सदस्यता के प्रश्न पर चार्टर में संशोधन की आवश्यकता नहीं है। पारस्परिक सहयोग तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों पर आधारित कुछ स्वस्थ परम्पराओं को विकसित करके चार्टर में संशोधन किए बिना सांविधानिक परिसीमा के अन्तर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यप्रणाली को व्यावहारिक एवं उपयोगी बनाया जा सकता है। प्रो० क्लाइड इगलटन का भी कथन है कि, "बहुत सी बातें, जो सम्मेलन के विचार के लिए सुझाई गई हैं,......सामान्य सहमति से भी पूरी की जा सकती हैं,

यदि वह सहमति प्राप्त की जा सके" ("many of the things which have been suggested for consideration by a conference could......be done by general acceptance, if that could be obtained.")[1]

संयुक्त राष्ट्रसंघ अपनी अनेक कमजोरियों तथा असफलताओं के होते हुए भी अभी तक विद्यमान है। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्रसंघ आधुनिक विश्व की एक वास्तविकता बन गया है। यह विश्व की वर्तमान राजनीतिक अवस्थाओं का दर्पण है। यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ रूपी दर्पण में परछाईं कुरूप दिखाई देती है, तो इसमें दर्पण का कोई दोष नहीं है। यदि सदस्य-राज्य अन्योन्याश्रय, सहयोग तथा सद्भावना के साथ कार्य नहीं करेंगे, तो विश्व की राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का कभी अन्त नहीं होगा। अतएव सदस्य-राज्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे संयुक्त राष्ट्रसंघ की भावी सफलता के लिए संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थों का परित्याग कर वास्तविक हृदय से स्थायी विश्वशान्ति तथा मानवजाति के कल्याण के लिए सहयोग प्रदान करें।



1. Clyde Eagleton, "Proposals and Prospects for Review of the Charter of the United Nations," *The United Nations : Review and Revision*, 1954, p. 40.

विश्व सरकार
(World Government)

सामान्य परिचय

विश्व सरकार का विचार नवीन नहीं है। प्राचीन युग के शासकों ने विश्व-विजय का स्वप्न देखा और विश्व में एकछत्र साम्राज्य की स्थापना का प्रयास किया। विश्वशान्ति तथा समृद्धि की स्थापना के बारे में प्राचीन चीन का यह दृष्टिकोण रहा है कि एक आकाश में एक ही सूर्य होना चाहिए, क्योंकि यदि एक आकाश में दो सूर्य होंगे तो वे टकराकर शान्ति भंग अवश्य करेंगे। प्राचीन युग में महान् रोम या मध्ययुग में दार-उल-इसलाम का लक्ष्य तथा आधुनिक युग में यह विचार कि यदि विश्व एक व्यक्ति, एक राज्य या एक 'वाद' अथवा विचार-धारा द्वारा ही शासित हो, तो संघर्ष के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा। पिछले युग में इन सभी लक्ष्यों की प्राप्ति का प्रयास किया गया, लेकिन सफलता नहीं मिल सकी। विश्व इतना बड़ा है कि एक शासन—चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक, किसी अन्य विचारधारा-सम्बन्धी की सर्वोच्चता असम्भव है। चंगेजखाँ, नेपोलियन, हिटलर तथा अन्य कईयों ने इसका प्रयास किया, लेकिन सभी अन्त मे असफल रहे। आधुनिक युग में अंग्रेजों ने भी एक ऐसे राज्य को साकार रूप दिया जिसे विश्व राज्य कहा जा सकता है। यह लोकोक्ति लोकप्रिय है कि अंग्रेजो के राज्य में सूर्य कभी डूबता नहीं था। हिटलर, मुसोलिनी, लुई चौदहवें तथा अन्य सम्राटों एवं अधिनायकों ने जिस विश्व राज्य की कल्पना की थी, उसका आधार हिंसा, दमनात्मक शक्ति तथा साम्राज्य था। आधुनिक विश्व सरकार की कल्पना उनसे सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उसका आधार विश्वबन्धुत्व, सहयोग, शान्ति एवं राष्ट्रीय राज्यों की पारस्परिक सद्भावना है।

अन्तर्राष्ट्रीयता या विश्व राज्य का स्वप्न अथवा विश्व सरकार का विचार आधुनिक युग की राजनीति की महत्तम देन है। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के स्वभाव तथा स्वरूप को देखते हुए उनके समाधान के लिए विश्व सरकार का किसी-न-किसी रूप में होना आवश्यक समझा जाने लगा है। विश्व के राष्ट्र आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से एक-दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित और एक-दूसरे पर इतने आश्रित हो गये हैं कि किसी एक देश में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव विश्व के अन्य राष्ट्रों पर भी पड़े बिना नहीं रह सकता। व्यापक दृष्टि

से राष्ट्रीय हित तथा अन्तर्राष्ट्रीय हित में अब अधिक अन्तर नहीं है। उदाहरण के लिए, वियतनाम युद्ध का प्रभाव न केवल संयुक्त राज्य अमरीका पर, अपितु सम्पूर्ण विश्व पर पड़ा है। पश्चिम एशिया की समस्या ने न केवल अरब राष्ट्रों को बल्कि विश्व के अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित किया है। परमाणविक ऊर्जा के आविष्कार से समग्र युद्ध की आशंका का जो उदय हुआ है, उससे सभी राष्ट्रों में महाविनाश की प्रवृत्ति का विरोध करने की भावना प्रबल हुई है। अतएव विश्व के अनेक विचारकों ने इन समस्याओं पर रचनात्मक रूप से विचार करके विश्व सरकार की स्थापना का सुझाव दिया है।

संसार अब उतना लम्बा-चौड़ा नहीं रह गया है जितना पहले हम समझते थे। परिवहन और संचार के तेज साधनों ने दूरी की समस्या हल कर दी है। आर्थिक तौर पर संसार एक इकाई है। देश की दूरी और उससे पैदा होने वाले रहस्यमय भय को रेडियो ने समाप्त कर दिया है। समाचारों तथा विचारों की दृष्टि से सारा संसार एक बाजार-सा हो गया है। जिस प्रकार बाजार के किसी एक कोने का समाचार बड़ी तेजी से बाजार भर में फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार संसार के एक कोने का समाचार तुरन्त संसार भर में फैल जाता है। आज वास्तव में हम ऐसे संसार में रह रहे हैं, जिसमें एक देश के लोगों की समस्या का प्रभाव आगे-पीछे सभी देशों पर पड़ता है। यदि मानवजाति को उस दुर्भाग्य से बचना है, जो उसकी प्रतीक्षा कर रही है, तो उसे राष्ट्रीय अलगाव की भावना को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय एकता की भावना को अपनाना होगा और राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय एकता के सिद्धान्त को कायम रखना होगा।

विश्व सरकार तथा दार्शनिकों एवं चिन्तकों के विचार

कुछ भारतीय विचारकों, यथा जवाहरलाल नेहरू, सी० राजगोपालाचारी तथा श्री अरविन्द ने यह विश्वास व्यक्त किया था कि शान्ति की स्थापना के निमित्त विश्व सरकार आदर्शस्वरूप संस्था होगी। अपने निबन्ध The Ideal of World Unity (१९१५-१८, १९५०) में श्री अरविन्द ने यह विश्वास व्यक्त किया था कि विश्व की वैचारिक मतभेदों तथा शीतयुद्ध, शस्त्रों की होड़ तथा अणु-प्रतिद्वन्द्विता के होते हुए भी परिस्थितियों की विवशता तथा मानवजाति की वर्तमान तथा भावी आवश्यकताओं के कारण विश्व-संघ अवश्यम्भावी है।

जवाहरलाल नेहरू ने १९३४ में ही विश्व सरकार की आवश्यकता के प्रति विश्वास व्यक्त किया था तथा उन्होंने Toward Freedom में लिखा कि यदि विश्व संघशासन की स्थापना होती है तो इसका स्वागत किया जाना चाहिए। १९४७ में भारत का प्रधानमंत्री बनने के बाद जब नेहरू का ध्यान अन्

समस्याओं की ओर गया, तो उनके मस्तिष्क में यह बात घर कर गई कि विश्व सरकार में ही विश्वशान्ति निहित है। १९४९ में Herald Tribune Forum को प्रेषित नेहरू के सन्देश से यह बात स्पष्ट है : "There can be no doubt that a world government must come sometime or other. For the only alternative to it is world suicide."

सी० राजगोपालाचारी के विचार में विश्व सरकार आवश्यक है। उनका कथन है कि विश्व संघशासन वास्तविक अर्थ में विश्वशान्ति को प्राप्त करने का सबसे प्रभावकारी उपाय है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों की जाँच-पड़ताल करने तथा उन पर बन्धनकारी निर्णय देने के लिए विश्व न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए। इसके लिए आवश्यक है कि समस्त राष्ट्रों की सैनिक शक्तियाँ तथा युद्ध के समस्त राष्ट्रीय हथियारों को समाप्त कर दिया जाय तथा केवल विश्व संघशासन एवं उसकी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह का दमन करने के लिए ही पर्याप्त तथा निपुण सेना का निर्माण हो।

इसी प्रकार, ग्रेनविल क्लार्क तथा लुईस सोन (Grenville Clark and Louis Sohn) ने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'विश्व कानून द्वारा विश्वशान्ति' (World Peace Through World Law) में यह सुझाव दिया है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ को राष्ट्रोपरि राज्य में परिवर्तित कर दिया जाय जिसका एकमात्र कार्य युद्ध को रोकना हो।

विश्व सरकार के कुछ ऐसे पक्षसमर्थक हैं जिन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ को क्रमशः शक्तिशाली बनाने की आवश्यकता पर बल दिया है, क्योंकि उनके मत में संयुक्त राष्ट्रसंघ में ही विश्व सरकार की सम्भाव्य क्षमता विद्यमान है। उदाहरण के लिए, 'विश्व संघवादियों' (World Federalists) के दृष्टिकोण इसी प्रकार के हैं। उन्होंने विश्व सरकार के लिए संघीय ढाँचे का समर्थन किया है।

अक्टूबर, १९४५ को डबलिन न्यू हम्पशायर में एक सम्मेलन हुआ जिसमें ५० महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों ने भाग लिया था। इस सम्मेलन के माध्यम से यह माँग की गई कि 'विश्व संघीय शासन' (World Federal Government) की स्थापना होनी चाहिए जिसकी शक्तियाँ सीमित किन्तु युद्ध को रोकने के लिए सुनिश्चित हों।

Emery Reves ने अपनी प्रख्यात पुस्तक Anatomy of Peace में विश्व सरकार के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी विचार प्रस्तुत किया है।

विश्व सरकार की संरचना कैसी हो ?

विश्व सरकार की स्थापना कोई सरल कार्य नहीं है। सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि विश्व सरकार का संगठन एकात्मक आधार पर होना चाहिए अथवा

संघात्मक आधार पर ? यदि उसे एकात्मक आधार पर संगठित किया गया, तो किस स्थान को विश्व सरकार का केन्द्र बनाया जाय ? यदि इस समस्या का समाधान भी हो जाय तो क्या ऐसी सरकार अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकेगी ? यदि विश्व सरकार को संघीय आधार पर संगठित किया गया, तो विभिन्न राष्ट्रों को उसमें किस आधार पर प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए ? विश्व सरकार के लिए विश्व भाषा निश्चित करने की समस्या का हल भी कठिन है। इसी प्रकार, विश्व कार्यपालिका तथा विश्व न्यायपालिका के निर्वाचन और नियुक्ति से सम्बन्धित प्रश्नों पर व्यापक मतभेद उत्पन्न हो सकते हैं।

विश्व सरकार के स्वरूप के सम्बन्ध में अभी तक कोई मतैक्य नहीं हो सका है, किन्तु जिन प्रस्तावों, सुझावों तथा योजनाओं को प्रस्तुत किया गया है, उनके कुछ सामान्य लक्षणों का उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। अधिकांश योजनायें विश्व सरकार के लिए संघीय ढाँचे की समर्थक हैं तथा संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान तथा अनुभवों से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। जिस प्रकार संघीय व्यवस्था के सदस्यों में कुछ मतभेद भी हो सकते हैं, लेकिन एकता और सुरक्षा के लिए वे एक संघ का निर्माण कर लेते हैं, उसी प्रकार, ऐसी व्यवस्था में सभी राष्ट्र अपने आन्तरिक मामलों में स्वतंत्र इकाई बने रहेंगे। अधिकांश योजनायें विश्व विधानमंडल तथा एक शक्तिशाली, स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल की स्थापना की माँग करती हैं। इन योजनाओं में मानव अधिकारों का विधेयक (बिल) भी शामिल किया गया है।

विश्व सरकार के निर्माण में कठिनाईयाँ

(१) राष्ट्रवाद—विश्व सरकार की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रवाद है। प्रत्येक राष्ट्र पहले अपने राष्ट्रीय हित की ओर ध्यान देता है और बाद में अन्तर्राष्ट्रीय हित की बात सोचता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रों के परस्पर वैमनस्य और घृणा का प्रमुख कारण है। राष्ट्रवाद ने ही मानवजाति के बीच घृणा की भौगोलिक दीवारें खींच रखी हैं। इस बात को हम सभी जानते हैं कि प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के अनेक कारणों में सर्वाधिक प्रबल कारण उग्र राष्ट्रवाद ही था। विश्व की एकता के लिए राष्ट्रवाद सबसे बड़ी कठिनाई है। प्रो० इगलटन के अनुसार, निस्सन्देह एक शक्तिशाली और समर्थ अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की आवश्यकता है, किन्तु राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग करने के लिए तत्पर नहीं हैं, जिस प्रकार व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता पर नये प्रतिबन्धों का विरोध करते हैं। जब तक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य अपने कार्य की स्वतंत्रता पर प्रतिबन्धों को स्वीकार नहीं करते तथा जब तक लोग अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा सरकार के प्रति समर्पण की आवश्यकता का अनुभव

नहीं करते, तब तक एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकती।[1]

(२) **राष्ट्रीय प्रभुसत्ता**—राष्ट्रवाद की तरह राष्ट्रीय प्रभुसत्ता भी विश्व सरकार की स्थापना में एक प्रमुख बाधा है। विश्व सरकार की स्थापना के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के आदर्श तथा राष्ट्रों के दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की आवश्यकता है। जब तक हम लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बना सकते, तब तक विश्व सरकार की स्थापना की कल्पना करना तथा उसकी सफलता की आशा करना व्यर्थ है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नल्ड टॉयनबी (Arnold Toynbee) ने ठीक ही कहा है कि विश्व सरकार की स्थापना की सबसे बड़ी बाधा संघटनात्मक न होकर मनोवैज्ञानिक है।[2]

(३) **जातिगत अभिमान**—विश्व सरकार की स्थापना में जातिगत अभिमान (racial superiority) भी एक बाधा है। दक्षिणी अफ्रीका तथा रोडेशिया जैसे देशों में अभी भी मुट्ठी-भर गोरे बहुसंख्यक कालों पर शासन कर रहे हैं, क्योंकि उनके मत में गोरे शासन करने के लिए तथा काले शासित होने के लिए पैदा हुए हैं। इस प्रकार की जातीय श्रेष्ठता की भावना निश्चित रूप से स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के विरुद्ध है।

(४) **धार्मिक श्रेष्ठता**—जातिगत अभिमान की तरह धार्मिक श्रेष्ठता भी विश्व सरकार के निर्माण को संदिग्ध बना देती है। विश्व के अधिकांश धर्म असहिष्णु तथा संकुचित विचारों के हैं। वास्तविकता यह है कि वे एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना रखते हैं। अधिकांश धर्मावलम्बी यह विश्वास करते हैं कि उनके धर्म के माध्यम से ही मोक्ष तथा शाश्वत सत्य की प्राप्ति हो सकती है, किसी अन्य धर्म के माध्यम से नहीं। फलस्वरूप कुछ धर्मों ने विश्व के मानचित्र से अन्य धर्मों को हटाने का भरसक प्रयत्न किया।

(५) **साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद**—विश्व सरकार के निर्माण में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद [illegible] से बाधा [illegible] हैं। अतः विश्व सरकार की स्थापना के लिए [illegible] है कि [illegible] साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का पूर्णतया [illegible] दिया [illegible] ऐसा नहीं होता, तब तक विश्व में साम्रा[illegible] बना[illegible]

मुक्त नहीं हो सके हैं। महाशक्तियाँ अभी भी विश्व-राजनीति में अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति को खो देने के पक्ष में नहीं हैं। यह अविश्वसनीय है कि वे छोटे राष्ट्रों को समानता का स्तर देने के लिए तत्पर हों।

(७) मिथ्या और भ्रामक प्रचार—मिथ्या और भ्रामक प्रचार भी राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग में बाधा है। दूसरे राष्ट्रों में होने वाली घटनाओं और स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करना भी एक समस्या है। विचारों और समाचारों पर प्रतिबन्ध और समाचारों की मिथ्या व्याख्या लोगों की राष्ट्रवादी भावनाओं को उत्तेजित करती है। दूसरे राष्ट्र के नेताओं की निन्दा करके तथा दूसरे राष्ट्रों की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करके सरकार लोगों के दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनने देती। अतः विश्व सरकार की स्थापना के पूर्व यह आवश्यक है कि लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय बनाया जाय।

(८) शिक्षा पद्धति का त्रुटिपूर्ण होना—दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति भी विश्व सरकार के निर्माण में एक बाधा है। प्रायः सभी देशों में इतिहास राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा तथा पढ़ाया जाता है जिसमें अपने राष्ट्र की भूरि-भूरि प्रशंसा तथा दूसरे राष्ट्र की निन्दा की जाती है। इतिहास का इस प्रकार का अध्ययन एवं अध्यापन लोगों में अपने राष्ट्र के प्रति मोह तथा विदेशी राष्ट्रों के प्रति घृणा की भावना पैदा करता है। अतः विश्व सरकार की स्थापना के लिए शिक्षा पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। विश्व के भावी नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो उनमें सार्वभौमिकता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास करे।

(९) अधिनायकीय व्यवस्था—जब तक राष्ट्रों में अधिनायकीय व्यवस्था विद्यमान रहेगी, तब तक युद्ध और संकीर्ण राष्ट्रवाद की भावनाओं को दूर नहीं किया जा सकेगा। अधिनायकीय देशों में धर्म और मिथ्या देशभक्ति का बहाना लेकर लोगों को दूसरे देश के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।

(१०) राष्ट्रीय सेना तथा परमाणविक शस्त्र—विश्व सरकार की स्थापना में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी सेना का होना भी एक महत्वपूर्ण बाधा है। राष्ट्रों के पास केवल शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस होनी चाहिए। परमाणविक शस्त्रों के उत्पादन पर नियन्त्रण लगा दिया जाना चाहिए, क्योंकि शस्त्रों के उत्पादन की होड़ राष्ट्रीय अविश्वास को जन्म देती है तथा अन्ततोगत्वा युद्ध का कारण बनती है।

(११) विश्व सरकार के संगठन का प्रश्न भी कम कठिन नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था के संगठन की बात सोची जाय, तो भी ऐसी अनेक रुकावटें पैदा होना स्वाभाविक है जिनसे विश्व सरकार को व्यावहारिक रूप

नहीं करते, तब तक एक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की स्थापना नहीं हो सकती।[1]

(२) राष्ट्रीय प्रभुसत्ता—राष्ट्रवाद की तरह राष्ट्रीय प्रभुसत्ता भी विश्व सरकार की स्थापना में एक प्रमुख बाधा है। विश्व सरकार की स्थापना के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के आदर्शों तथा राष्ट्रों के दृष्टिकोण में मनोवैज्ञानिक परिवर्तन की आवश्यकता है। जब तक हम लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बना सकते, तब तक विश्व सरकार की स्थापना की कल्पना करना तथा उसकी सफलता की आशा करना व्यर्थ है। सुप्रसिद्ध इतिहासकार आर्नल्ड टॉयनबी (Arnold Toynbee) ने ठीक ही कहा है कि विश्व सरकार की स्थापना की सबसे बड़ी बाधा संघटनात्मक न होकर मनोवैज्ञानिक है।[2]

(३) जातिगत अभिमान—विश्व सरकार की स्थापना में जातिगत अभिमान (racial superiority) भी एक बाधा है। दक्षिणी अफ्रीका तथा रोडेशिया जैसे देशों में अभी भी मुट्ठी-भर गोरे बहुसंख्यक कालों पर शासन कर रहे हैं, क्योंकि उनके मत में गोरे शासन करने के लिए तथा काले शासित होने के लिए पैदा हुए हैं। इस प्रकार की जातीय श्रेष्ठता की भावना निश्चित रूप से स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के विरुद्ध है।

(४) धार्मिक श्रेष्ठता—जातिगत अभिमान की तरह धार्मिक श्रेष्ठता भी विश्व सरकार के निर्माण को संदिग्ध बना देती है। विश्व के अधिकांश धर्म असहिष्णु तथा संकुचित विचारों के हैं। वास्तविकता यह है कि वे एक-दूसरे के प्रति घृणा की भावना रखते हैं। अधिकांश धर्मावलम्बी यह विश्वास करते हैं कि उनके धर्म के माध्यम से ही मोक्ष तथा शाश्वत सत्य की प्राप्ति हो सकती है, किसी अन्य धर्म के माध्यम से नहीं। फलस्वरूप कुछ धर्मों ने विश्व के मानचित्र से अन्य धर्मों को हटाने का भरसक प्रयत्न किया।

(५) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद—विश्व सरकार के निर्माण में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद समान रूप से बाधा बनकर खड़े हैं। अतः विश्व सरकार की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि इस पृथ्वी से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाय। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक विश्व में साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी शक्तियों का प्रभुत्व बना रहेगा और यह विश्व सरकार की स्थापना को प्रभावित करेगा।

(६) राजनीतिक तथा आर्थिक शोषण—विश्व के अधिकांश देश तथा विशेषकर एशिया और अफ्रीका के देश अभी तक आर्थिक तथा राजनीतिक शोषण से पूर्णतया

1. Clyde Eagleton, *International Government*, pp. 478–479.
2. Arnold Toynbee, *War Is Not the Normal Condition of Man*, p. 127.

मुक्त नहीं हो सके हैं। महाशक्तियाँ अभी भी विश्व-राजनीति में अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति को खो देने के पक्ष में नहीं हैं। यह अविश्वसनीय है कि वे छोटे राष्ट्रों को समानता का स्तर देने के लिए तत्पर हों।

(७) मिथ्या और भ्रामक प्रचार—मिथ्या और भ्रामक प्रचार भी राष्ट्रों के पारस्परिक सहयोग में बाधा है। दूसरे राष्ट्रों में होने वाली घटनाओं और स्थिति का सही ज्ञान प्राप्त करना भी एक समस्या है। विचारों और समाचारों पर प्रतिबन्ध और समाचारों की मिथ्या व्याख्या लोगों की राष्ट्रवादी भावनाओं को उत्तेजित करती है। दूसरे राष्ट्र के नेताओं की निन्दा करके तथा दूसरे राष्ट्रों की राजनीतिक तथा आर्थिक व्यवस्था की आलोचना करके सरकार लोगों के दृष्टिकोण को अन्तर्राष्ट्रीय नहीं बनने देती। अतः विश्व सरकार की स्थापना के पूर्व यह आवश्यक है कि लोगों को मनोवैज्ञानिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय बनाया जाय।

(८) शिक्षा पद्धति का त्रुटिपूर्ण होना—दोषपूर्ण शिक्षा पद्धति भी विश्व सरकार के निर्माण में एक बाधा है। प्रायः सभी देशों में इतिहास राष्ट्रीय दृष्टिकोण से लिखा तथा पढ़ाया जाता है जिसमें अपने राष्ट्र की भूरि-भूरि प्रशंसा तथा दूसरे राष्ट्र की निन्दा की जाती है। इतिहास का इस प्रकार का अध्ययन एवं अध्यापन लोगों में अपने राष्ट्र के प्रति मोह तथा विदेशी राष्ट्रों के प्रति घृणा की भावना पैदा करता है। अतः विश्व सरकार की स्थापना के लिए शिक्षा पद्धति में क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। विश्व के भावी नागरिकों को ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए जो उनमें सार्वभौमिकता तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की भावनाओं का विकास करे।

(९) *अधिनायकीय व्यवस्था*—*जब तक राष्ट्रों में अधिनायकीय व्यवस्था* विद्यमान रहेगी, तब तक युद्ध और संकीर्ण राष्ट्रवाद की भावनाओं को दूर नहीं किया जा सकेगा। अधिनायकीय देशों में धर्म और मिथ्या देशभक्ति का बहाना लेकर लोगों को दूसरे देश के विरुद्ध लड़ने के लिए प्रेरित किया जाता है।

(१०) राष्ट्रीय सेना तथा परमाणविक शस्त्र—विश्व सरकार की स्थापना में प्रत्येक राष्ट्र की अपनी सेना का होना भी एक महत्त्वपूर्ण बाधा है। राष्ट्रों के पास केवल शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए पुलिस होनी चाहिए। परमाणविक शस्त्रों के उत्पादन पर नियन्त्रण लगा दिया जाना चाहिए, क्योंकि शस्त्रों के उत्पादन की होड़ राष्ट्रीय अविश्वास को जन्म देती है तथा अन्ततोगत्वा युद्ध का कारण बनती है।

(११) विश्व सरकार के संगठन का प्रश्न भी कम कठिन नहीं है। उदाहरण लिए, यदि सम्पूर्ण विश्व की व्यवस्था के संगठन की बात सोची जाय, तो म अनेक रुकावटें पैदा होना स्वाभाविक है जिनसे विश्व सरकार को ६५।४६।

देना सम्भव नहीं होगा। यदि यह मान लिया जाय कि विश्व-संसद के निचले सदन में राष्ट्रों की जनसंख्या के अनुपात से तथा उच्च सदन में सभी राष्ट्रों के समानता के सिद्धान्त के आधार पर प्रतिनिधित्व मिलेगा, तो दोनों ही सदनों में एशिया तथा अफ्रीका के काली चमड़ी वाले बहुमत प्राप्त कर लेंगे जिसे गोरी चमड़ी वाले कभी होने नहीं देंगे। अतएव विश्व सरकार की स्थापना के निमित्त एक ऐसा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्य है जिसके मूल में घृणा, अहं तथा वैमनस्य न होकर प्रेम, सहयोग तथा सहिष्णुता के बीज विद्यमान हों।

विश्व सरकार की उपयोगिता अथवा पक्ष में तर्क

(१) विज्ञान की उपलब्धियों ने विश्व को एक कर दिया है। अतएव विश्व सरकार की स्थापना होनी चाहिए।

(२) विश्व के पिछड़े देशों की आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति के लिये विश्व सरकार की आवश्यकता है।

(३) विश्व के विभिन्न देशों की आर्थिक गुटबन्दी को विश्व सरकार की स्थापना के द्वारा ही रोका जा सकता है।

(४) भावी तृतीय महायुद्ध की सम्भावना को टालने के लिए विश्व सरकार की स्थापना होनी चाहिए।

(५) एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के माल के आयात-निर्यात पर अनेक प्रकार के बन्धन लगा देता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का समुचित विकास नहीं हो पाता है। विश्व सरकार की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहन मिलेगा।

(६) विश्व सरकार की स्थापना के द्वारा इस पृथ्वी से असमानता, उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और रंगभेद की प्रथा को दूर किया जा सकता है।

(७) विश्व सरकार की स्थापना से अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य तथा शंका दूर हो सकेगी।

(८) अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के कारण अनेक राष्ट्र अणुबम, परमाणुबम जैसे विनाशक शस्त्रों के निर्माण में लगे हुए हैं। विश्व सरकार की स्थापना के द्वारा इन विनाशक शस्त्रों के उत्पादन पर अंकुश लगाया जा सकता है जिससे राष्ट्रीय धन का उपयोग रचनात्मक कार्यों के लिए किया जा सके।

(९) संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसी विश्व संस्था प्रभुसत्ता के अभाव में पूर्ण प्रभावकारी संगठन नहीं है। विश्व सरकार एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य होगा जो अपने निर्णयों को बलात् लागू करेगा।

(१०) विश्व सरकार की स्थापना के बाद प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य नहीं रहेंगे और फलस्वरूप उनमें झगड़े नहीं होंगे। समस्त शक्ति एक प्रभुसत्ता-सम्पन्न अस्तित्व में केन्द्रित रहेगी।

विश्व सरकार के प्रभावकारी होने के लिए आवश्यक है कि इसमें विश्व के विभिन्न भागों में अपने निर्णयों को शीघ्रता से सचारित करने तथा यदि आवश्यक हो तो बलप्रयोग द्वारा अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने की समर्थता होनी चाहिए। वस्तुतः विमान, टेलीग्राफ, रेडियो तथा विज्ञान के अन्य आविष्कारों ने इन्हें सम्भव बना दिया है।

निष्कर्ष

कुछ अधिकारी विद्वानों ने विश्व सरकार को एक धोखा या भ्रम (illusion) कहा है। उदाहरण के लिए, सुप्रसिद्ध धर्मविज्ञानी तथा विश्वमामलों के यथार्थवादी टीकाकार रेनहोल्ड नेबुर (Reinhold Neibuhr) ने कहा है कि विश्व सरकार की भ्रामकता के दो साधारण कारण हैं—प्रथम तो यह है कि सरकारों की स्थापना अधिदेश द्वारा नहीं होती है (यद्यपि कभी-कभी उन्हें निरंकुशता के द्वारा आरोपित किया जा सकता है), तथा दूसरे, सरकारों के पास समाज को सघटित करने की सीमित प्रभावोत्पादकता एवं क्षमता होती है।[1] राष्ट्रों के मध्य वर्तमान तीव्र सैद्धान्तिक मतभेद विश्व सरकार की सफलता को असम्भव तथा सन्दिग्ध बना देती है, क्योंकि न तो सोवियत संघ और न सयुक्त राज्य अमरीका इस समय अपने भाग्य को विश्व सत्ता को सौंपने के लिए तत्पर हैं। नेबुर का कथन है कि यदि विश्व सरकार की स्थापना होती है, तो भी यह वास्तविक समाज का निर्माण नहीं कर सकती, क्योंकि इसका एकमात्र कारण यह है कि सरकार की सत्ता मुख्यतः विधि की सत्ता अथवा बल की सत्ता नहीं होती है, अपितु स्वयं समाज की सत्ता होती है। इसके अतिरिक्त, यदि विश्व सरकार का निर्माण होता है, तो इसकी स्थापना में बल का अंश अधिक तथा सहमति का अंश कम होगा।

जब तक विश्व के राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता-सम्पन्न अधिकारों की रक्षा करते रहेंगे, तब तक इस बात की कोई सम्भावना नहीं है कि उन्हें अपने अधिकारों को

---

1. "The fallacy of world government," observed Reinbold Niebuhr, "can be stated in two simples propositions. The first is that governments are not created by fiat (though sometimes they can be imposed by tyranny). The second is that governments have only limited efficacy in a community."—"The Illusion of Wored Government", *Foreign* (April, 1949), pp. 379-388.

अधिराष्ट्रीय अभिकरणों को सौंपने के लिए बाध्य किया जा सके। जब तक राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता तथा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता बनी हुई है, तब तक श्री अरविन्द, राजगोपालाचारी, नेहरू आदि विचारकों द्वारा सुझाये गये आदर्श को प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।



FORGAC, ALBERT T., *New Diplomacy and the United Nations* (New York : Pageant Press).

GOODRICH, L. M. and HAMBRO E., *Charter of the United Nations : Commentary and Documents* (Boston : World Peace Foundation).

GOODSPEED, STEPHEN S., *The Nature and Function of International Organisation* (New York : Oxford University Press).

GOODRICH, LELAND M., *The United Nations* (New York : Thomas Y. Crowell Company).

GOODRICH, LELAND M. and ANNE P. SIMONS, *The United Nat'ons and the Maintenance of International Peace and Security* (Washington, D. C. : The Brookings Institution).

GORDENKER, LEON, *The U. N. Secretary-General and the Maintenance of Peace* (New York : Columbia University Press).

GREEN, JAMES F., *The United Nations and Human Rights* (Washington : The Brookings Institution).

HARTMANN, FREDERICK H., *The Relations of Nations* (New York : The Macmillan Company).

HAVILAND. HENARY F., *The Political Role of the General Assembly* (New York : Carnegie Endowment for International Peace).

HUDSON M. O., *The Permanent Court of International Justice, 1920–42* (New York : Macmillan).

HAVILAND, H. FIELD, Jr., *The Political Role of the General Assembly* (New York : Carnegie Endowment for International Peace).

HOWARD-ELLIS, C., *The Origin, Structure and Working of the League of Nations* (Boston : Houghton Mifflin Company).

HALL, DUNCAN H., *Mandates, Dependencies and Trusteeship* (Washinton : Carnegie Endowment for Internationi Peace).

India and the United Nations : National Studies on International Organisation (New York : Manhattan Publishing Company).

KELSEN, HANS, *The Law of the United Nations* (London, 1:50).

KOHN, HANS, *World Order in Historical Perspective* (Cambridge, Mass : Harvard University Press).

LEONARD, L. LARRY, *International Organisation* (New York : Mc-Gragw-Hill Book Company).

LISSITZYN, OLIVER J., *The International Court of Justice* (New York : Carnegie Endowment for International Peace).

LAUTERPAC T H., *International Law and Human Rights* (New York : Fredcrick A. Praeger).

LEVI WERNER, *Fundamentals of World Oraganisation* (Minneapoils : University of Minnesota Press).

LIE, TRYGVE and OTHERS, *Peace on Earth* (New York : Hermitage House).

MORGENTHAU, HANS J., *Politics Among Nations, The Struggle for Power and Peace* (New York : Alfred A. Knopf).

MANGONE, GERALD J., *A Short History of International Organisation* (New York : McGraw-Hill Book-Company).

MANGONE, GERACD, J. *The Idea and Practice of World Government* (New York : Columbia University Press).

MACLAURIN, JOHN, *The United Nations and Power Politics* (New York : Harper).

MITRANY, DAVID, *A Working Peace System* (London : Royal Institute of International Affairs).

MANDER, LINDEN A., *Foundations of Modern World Society* (Stanford : Stanford University Press).

NICHOLAS, HERBERT G., *The United Nations as a Political Institution* (London : Oxford University Press).

PADELFORD, NORMAN and GEORGE A. LINCOLN, *The Dynamics of International Politics* (New York : The Macmillan Company).

POTTER, PITMAN B., *An Introduction to the Study of International Organisation* (New York : Appleton-Century-Crofts).

PALMER, NORMAN D., and HOWARD C. PERKINS, *International Relations : The World Communiy in Transition* (Boston : Houghton Mifflin Company).

RUSSELL, RUTH B., *A History of the United Nations Charter* (Washington : The Brookings Institution).

RAJAN, M. S., *United Nations and Domestic Jurisdiction* (Calcutta : Orient Longmans).

ROBINSON, NEHEMIAH, *Universal Declaration of Human Rights : Its Origin, Significance and Interpretation* (New York : Institute of Jewish Affairs).

RAPPARD, WILLIAM E., *The Quest for Peace* (Cambridge : Harward University Press).

SCHUMAN, FREDERICK L., *International Politics : The Western*

State System and the World Community (New York : McGraw Hill Book Company).
STOESSINGER, JOHN, *The United Nations and the Superpowers* (New York : Random House).
SCHWEBEL, S. M., *The Secretary of the United Nations* (Cambridge Mass : Harvard University Press).
VAN, DYKE, VERNON, *International Politics* (New York : Appleton-Century-Crofts).
VANDENBOSCH, AMRY and WILLARD N. HOGAN., *The United Nations : Background Organisation, Functions, Activities* (New York : McGraw-Hill Book Company).
VINACKE, HAROLD M., *International Organisation* (New York : Appleton-Century-Crofts).
WALTERS, F. P., A *History of the League of Nations*, 2 Vols. (New York : Oxford University Press).
WILCOX, FRANCIS O. and MARCY, CARL M., *Proposals for Changes in the United Nations* (Washington : The Brookings Institution).
WRIGHT, QUINCY, *Mandates under the League of Nations* (Chicago : Chicago University).
WOOLF, LEONARD, *International Government* (London : George Allen and Unwin, Ltd.).
ZIMMERN, SIR ALFRED, *The League of Nations and the Rule of Law*, 1918–1935 (London : Macmillan Company).

पत्रिकायें तथा समाचारपत्र

दिनमान (साप्ताहिक)
धर्मयुग
साप्ताहिक हिन्दुस्तान
कादम्बिनी
THE ILLUSTRATED WEEKLY OF INDIA.
THE TIMES OF INDIA.
SWARAJYA, Madras.
UNITED NATIONS WEEKLY NEWSLETTER, New Delhi.
THE WORLD IN THE CLASS ROOM, Published by the Indian National Commission for Unesco, Ministry of Education and Social Welfare, New Delhi.